55/1

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक
अनेकान्त
प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

1 श्री महावीर स्तवन 1

2 क्या शुभ भाव जैन धर्म नही?
आचार्य प जुगलकिशोर मुख्तार 2

3 भगवान् महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर एक वास्तविक तथ्य
- आर्यिका चन्दनामती 12

4 प श्री हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री एव उनकी साहित्य सपर्या
अरुण कुमार जैन 24

5 भगवान् ऋषभदेव एव श्रमण परपरा महत्त्वपूर्ण गणितीय एव ऐतिहासिक पक्ष
- डॉ अभय प्रकाश जैन 35

6 अहिसा की व्यावहारिकता
- डा श्याम कुमार जैन 43

7 जैन आचार दर्शन आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में
- डॉ जिनेन्द्र जैन 51

8 जैन विद्वत्ता · ह्रास या विकास
डॉ नन्दलाल जैन 61

वर्ष-55, किरण-1
जनवरी-मार्च 2002

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/-
वार्षिक शुल्क
30/-
इस अक का मूल्य
10/-
सदस्यो व मंदिरो के
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों क लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो। इसमें प्राय: विज्ञापन एवं समाचार नहीं लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 3250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर मे छूट

(रजि. आर 10591/62)

6934

श्री महावीर-स्तवन

प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम्। मांगल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते॥
जगत्रैकावस्थं युगपदखिलाऽनन्तविषयं, यदेतत्प्रत्यक्षं तव न च भवान् कस्यचिदपि।
अनेनैवाऽचिन्त्य-प्रकृति-रस-सिद्धेस्तु विदुषां, समीक्ष्यैतद्द्वारं तवगुण कथोत्कावयमपि॥
नाऽर्थान् विवित्ससि न वेत्स्यसि ना, ऽप्यवेत्सीर्न ज्ञातवानसि न तेऽच्युत! वेद्यमस्ति।
त्रैकाल्य-नित्य-विषमं युगपच्च विश्वं, पश्यस्यचिन्त्य-चरिताय नमोऽस्तु तुभ्यम्॥

दूरामाप्तं यदचिन्त्य-भूतिज्ञानंत्वया जन्मजराऽन्तकर्तृ।
तेनाऽसि लोकानभिभूय सर्वान्सर्वज्ञ! लोकोत्तमतामुपेतः॥

क्रियां च संज्ञान-वियोग-निष्फलां क्रियाविहीनं च विबोधसंपदम्।
निरस्यता क्लेशसमूह-शान्तये त्वया शिवाया लिखितेव पद्धतिः॥
य एव षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढ पथस्त्वयोदितः।
अनेक सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदय सोत्सवाः स्थिताः॥

-सिद्धसेनाचार्यः

अर्थ-जिनकी प्रशान्त मूर्ति के दर्शन मात्र से समस्त प्राणी अभय प्राप्त करते हैं, वह भगवान् प्रशस्त मगलरूप एवं कल्याणमयी शोभायमान हैं।

अखिल विश्व के अनन्त विषय और उनकी समस्त पर्यायें जिसके प्रत्यक्ष हैं, अन्य किसी को नहीं, और प्रकृति-रस-सिद्धविद्वानों के लिए भी जो अचिन्त्य है, ऐसे उक्त सर्वज्ञद्वार की समीक्षा करके मैं आपका गुणगान करने को उत्सुक हुआ हूँ।

विश्व के त्रिकालवर्ती समस्त साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, सूक्ष्म-स्थूल, दृष्ट-अदृष्ट, ज्ञात-अज्ञात, व्यवहित-अव्यवहित आदि पदार्थ अपनी अनेक अनन्त पर्यायो सहित आप को युगपत् प्रत्यक्ष हैं, हे भगवान् अच्युत! आपको नमस्कार हो !

हे सर्वान्सर्वज्ञ ! कठिनाई से प्राप्त होने वाली अचिन्त्य तत्त्वज्ञान द्वारा आपने जन्म-जरा-मृत्यु को जीत कर लोक को अभिभूत किया और लोकोत्तमता प्राप्त की।

हे प्रभु ! आपके सन्मार्ग में सम्यग्ज्ञानरहित क्रिया को तथा क्रियाविहीन ज्ञान को क्लेश समूह की शान्ति और शिवप्राप्ति के अर्थ निष्फल बताया है।

हे वीर जिन ! छः काय के जीवों का जो विस्तार आपने प्रतिपादित किया है, वैसा कोई अन्य नहीं कर सका। अतएव जो लोग सर्वज्ञत्व की परीक्षा करने में समर्थ हैं, वे बड़े प्रसन्न चित्त से आपके भक्त बने हैं।

क्या शुभ भाव जैन धर्म नहीं?

-आचार्य पं. जुगलकिशोर मुख़्तार

श्री कानजी स्वामी ने अपने प्रवचन लेखमें आचार्य कुन्दकुन्द के भावप्राभृत की गाथा को उद्धृत करके यह बतलाने की चेष्टा की है कि जिनशासन में पूजादिक तथा व्रतों के अनुष्ठान को 'धर्म' नहीं कहा है, किन्तु 'पुण्य' कहा है, धर्म दूसरी चीज है और वह मोह-क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम है:-

प्राकृत विद्या के अक्टूबर-दिसम्बर २००१ के अंक में 'अनेकान्त' से साभार उद्धृत करते हुए डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन का एक लेख 'भारत वर्ष का एक प्राचीन विश्वविद्यालय' प्रकाशित हुआ है, एतदर्थ 'प्राकृत विद्या' के सम्पादक के प्रति आभार। सम्पादक महोदय ने अपेक्षा की है कि 'अनेकान्त के प्राचीन अंको में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण सामग्री का पुनर्प्रकाशन करें। हम उन्हें साधुवाद देते हुए उनके इस सत्परामर्श पर, इसी अंक में वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक आचार्य पं. श्री जुगल किशोर जी मुख़्तार साहब का एक लेख प्रकाशित कर रहे हैं, जो अनेकान्त वर्ष १३ किरण १, जुलाइ १९५४ में प्रकाशित हुआ था, जो आज भी सामयिक है। आशा है, प्राकृत विद्या के विद्वान् सम्पादक और अध्येता-पाठकों को यह लेख रुचिकर प्रतीत होगा।

श्री मुख़्तार साहब ने नवम्बर १९५३ (वर्ष १२ किरण ६) में सम्पादकीय आलेख -'समयसार की १५वीं गाथा और श्री कानजी स्वामी' में श्री कानजी स्वामी के एक प्रवचन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है- ''सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्त की ओर ढला है, प्राय: एकान्त मिथ्यात्व को पुष्ट करता है और जिनशासन के स्वरूप के विषय में लोगों को गुमराह करने वाला है। आगे इसी कड़ी में अनेकान्त के जनवरी १९५४ (वर्ष १२ किरण ८) में उन्होंने निष्कर्ष रूप में लिखा है-

''अत: कानजी स्वामी का 'वीतरागता ही जैनधर्म है' इत्यादि कथन केवल निश्चयावलम्बी एकान्त है, व्यवहारनय के वक्तव्य का विरोधी है, वचनानय के दोष से दूषित है और जिनशासन के साथ उसकी संगति ठीक नही बैठती।''

-सम्पादक

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥ ८३॥

इस गाथा में पूजा-दान-व्रतादिक के धर्ममय होने का कोई निषेध नहीं, 'पुण्णं' पद के द्वारा उन्हें पुण्य प्रसाधक धर्म के रूप में उल्लेखित किया गया है। धर्म दो प्रकारका होता है- एक वह जो शुभ भावों के द्वारा पुण्य का प्रसाधक है और दूसरा वह जो शुद्ध भावों के द्वारा अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार के कर्मास्रव का कारण नहीं होता। प्रस्तुत गाथा में दोनों प्रकार के धर्मों का उल्लेख है। यदि श्री कुन्द-कुन्दाचार्यकी दृष्टि में पूजा दान व्रतादिक धर्म कार्य न होते तो वे रयणसार की निम्न गाथा में दान तथा पूजा की श्रावकों का मुख्य धर्म और ध्यान तथा अध्ययन को मुनियों का मुख्य धर्म न बतलाते-

दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा सोवि॥११॥

और न चारित्रप्राभृत की निम्नगाथा में अहिंसादिव्रतों के अनुष्ठानरूप संयमाचरण को श्रावक धर्म तथा मुनिधर्म का नाम ही देते-

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे॥२६॥

उन्होंने तो चारित्रप्राभृत के अन्त में सम्यक्त्व-सहित इन दोनों धर्मों का फल अपुनर्भव (मुक्त-सिद्ध) होना लिखा है। तब वे दान-पूजा-व्रतादिक को धर्म की कोटि से अलग कैसे रख सकते हैं? यह सहज ही समझा जा सकता है।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्डश्रावकाचार) में 'सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः' इस वाक्य के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र को वह समीचीन धर्म बतलाया। जिसे धर्म के ईश्वर तीर्थंकरादिकों ने निर्दिष्ट किया है, उस धर्म की व्याख्या करते हुए सम्यक्चारित्र के वर्णनमें 'वैयावृत्त्य' को शिक्षाव्रतों में अन्तर्भूत धर्म का एक अंग बतलाया है, जिसमें दान तथा संयमियों की अन्य सब सेवा और देव-पूजा ये तीनों शमिल हैं; जैसा कि उक्त ग्रन्थ के निम्न वाक्यों से प्रकट है:-

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी दोनों प्रकार के श्रमणों (मुनियों) को जैन-धर्म-सम्मत माना है। जिनमें से एक अनास्रवी और दूसरा सास्रवी होता है, अर्हन्तादि में भक्ति और प्रवचनाभियुक्तों में वत्सलता को मुनियों की शुभचर्या बतलाया है; शुद्धोपयोगी श्रमणों के प्रति वन्दन, नमस्करण, अभ्युत्थान और अनुगमन द्वारा आदर-सत्कार की प्रवृत्ति को, जो सब शुद्धात्मवृत्ति के संत्राण की निमित्त-भूत होती है सरागचारित्र की दशा में मुनियों की चर्या में सम्यग्दर्शन-ज्ञान के उपदेश, शिष्यों के ग्रहण-पोषण और जिनेन्द्र पूजा के उपदेश को भी विहित बतलाया है; साथ ही यह भी बतलाया है कि जो मुनि काय-विराधना से रहित हुआ नित्य ही चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ का उपकार करता है वह प्रधानता को लिए हुए श्रमण होता है, परन्तु वैयावृत्त्य में उद्यमी हुआ मुनि यदि काय-खेद को धारण करता है तो वह श्रमण नहीं रहता, किन्तु गृहस्थ (श्रावक) बन जाता है; क्योंकि उस रूप में वैयावृत्त्य करना श्रावकों का धर्म है; जैसा कि प्रवचनसार की निम्न गाथाओं से प्रकट है:-

समण सुद्धुवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुमजुत्ता अणासवा सासवा सेसा॥३-४५॥
अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया॥४६॥
वंदण-णमंसरेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावण ओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि॥४७॥
दंसण-णाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य॥ ४८॥
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स
कायविराधणरहिंदं सो वि सरागप्पधाणो सो॥४९॥
जदि कुणदि कायखेदं वेज्जाविज्जत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि, हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से॥५०॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के इन वचनों से स्पष्ट है कि जैन-धर्म या जिनशासन से शुभ भावों को अलग नहीं किया जा सकता और न मुनियों तथा श्रावकों

के सरागचारित्र को ही उससे पृथक् किया जा सकता है। ये सब उसके अंग हैं, अंगों से हीन अंगी अधूरा या लेडूरा होता है, तब कानजी स्वामी का उक्त कथन जिनशासन के दृष्टिकोण से कितना बहिर्भूत एवं विरुद्ध है उसे बतलाने की जरूरत नहीं रहती। खेद है उन्होंने पूजा-दान-व्रतादिक के शुभ भावों के धर्म मानने तथा प्रतिपादन करने वालों को ''लौकिकजन'' तथा ''अन्यमती'' तो कह डाला, परन्तु यह बतलाने की कृपा नहीं की कि उनके उस कहने का क्या आधार है-किसने कहां पर वैसा मानने तथा प्रतिपादन करने वालों को ''लौकिक जन'' आदि के रूप में उल्लेखित किया है? जहां तक मुझे मालूम है ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में 'लौकिकजन' का जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है:-

णिंग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगोहं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम-तव-संजुदो चावि।३-६९

इसमें आचार्य जयसेन की टीकानुसार, यह बतलाया गया है कि- 'जो वस्त्रादि परिग्रह का त्यागकर निर्ग्रन्थ बन गया और दीक्षा लेकर प्रव्रजित हो गया है ऐसा मुनि यदि ऐहिक कार्यो में प्रवृत्त होता है अर्थात् भेदाभेदरूप रत्नत्रयभाव के नाशक ख्याति-पूजा-लाभ के निमित्तभूत ज्योतिष-मंत्रवाद और वैद्यकादि जैसे जीवनोपाय के लौकिक कर्म करता है, तो वह तप-संयम से युक्त हुआ भी 'लौकिक' (दुनियादार) कहा गया है।

इस लक्षण के अन्तर्गत वे आचार्य तथा विद्वान् कदापि नहीं आते जो पूजा-दान-व्रतादि के शुभ भावों को 'धर्म' बतलाते हैं। तब कानजी महाराज ने उन्हें 'लौकिक जन' ही नहीं, किन्तु 'अन्यमती' तक बतलाकर जो उनके प्रति गुरुतर अपराध किया है। उसका प्रायश्चित उन्हें स्वयं करना चाहिए। ऐसे वचनाऽनय के दोष से दूषित निरर्गल वचन कभी-कभी मार्ग को बहुत बड़ी हानि पहुँचाने के कारण बन जाते है। शुद्धभाव यदि साध्य है तो शुभभाव उसकी प्राप्ति का मार्ग है-साधन है। साधन के बिना साध्य की प्राप्ति नहीं होती, फिर साधन की अवहेलना कैसी? साधनरूप मार्ग ही जैन तीर्थंकरों का तीर्थ है, धर्म है, और उस मार्ग का निर्माण व्यवहारनय करता है। शुभभावों के अभाव में अथवा उस मार्ग के कटजाने पर कोई शुद्धत्व को प्राप्त नहीं होता।

शुद्धात्मा के गीत गाये जायें और शुद्धात्मा तक पहुँचने का मार्ग अपने पास हो नहीं, तब उन गीतों से क्या नतीजा? शुभभावरूप मार्ग का उत्थापन सचमुच में जैनशासन का उत्थापन है और जैन तीर्थ के लोप की ओर कदम बढ़ाना है-भले ही वह कैसी भी भूल, गलती अजानकारी या नासमझी का परिणाम क्यों न हो?

शुभ में अटकने से डरने की भी बात नहीं है। यदि कोई शुभ में अटका रहेगा तो शुद्धत्व के निकट तो रहेगा-अन्यथा शुभ के किनारा करने पर तो इधर-उधर अशुभ राग तथा द्वेषादिक में भटकना पड़ेगा और फलस्वरूप अनेक दुर्गतियों में जाना होगा। इसीसे श्री पूज्यपादाचार्य ने इष्टोपदेश में ठीक कहा है:-

वरं व्रतैः पदं दैवं नाऽव्रतैर्बत नारकम्।
छायाऽऽतपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥३॥

अर्थात्-व्रतादि शुभ राग-जनित पुण्यकर्मों के अनुष्ठान द्वारा देवपद (स्वर्ग) का प्राप्त करना अच्छा है, न कि हिंसादि अव्रतरूप पापकर्मों को करके नरकपद को प्राप्त करना। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर उन दो पथिकों के समान है जिनमें से एक छाया में स्थित होकर सुखपूर्वक अपने साथी की प्रतीक्षा कर रहा है और दूसरा वह जो तेज धूप में खड़ा हुआ अपने साथी की बाट देख रहा है और आतपजनित कष्ट उठा रहा है। साथी का अभिप्राय यहाँ उस सुद्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी सामग्री से है जो मुक्ति की प्राप्ति में सहायक अथवा निमित्तभूत होती है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी इसी बात को मोक्खपाहुड की 'वर वय-तवेहिं सग्गो' इत्यादि गाथा नं. 25 में निर्दिष्ट किया है। फिर शुभ में अटकने से डरने की ऐसी कौन सी बात है जिसकी चिन्ता कानजी महाराज को सताती है, खासकर उस हालत में जब कि वे नियतिवाद के सिद्धान्त को मान रहे हैं और यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस क्रम से जिस समय होने को है वह उस क्रम से उसी समय होगी उसमें किसी भी निमित्त से कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में शुभभावों को अधर्म बतलाकर उनको मिटाने अथवा छुड़ाने का उपदेश देना भी व्यर्थ का प्रयास जान पड़ता है। ऐसा करके वे उलटा अशुभ-राग-द्वेषादिकी प्रवृत्तिका मार्ग साफ

कर रहे हैं; क्योंकि शुद्ध भाव छद्मास्थावस्था में सदा स्थिर नहीं रहता कुछ क्षण में उसके समाप्त होते ही दूसरा भाव आएगा, वह भाव यदि धर्म की मान्यता के निकल जाने से शुभ नहीं होगा तो लोगों को अनादिकालीन कुसंस्कारों के वश अशुभ में ही प्रवृत्त होना पड़ेगा।

अब यहाँ एक प्रश्न और पैदा होता है वह यह कि जब कानजी महाराज पूजादि के शुभ राग को धर्म नहीं मानते तब वे मन्दिर मूर्तियों तथा मानस्तम्भादि के निर्माण में और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा के विधान में योग क्यों देते हैं? क्या उनका यह योगदान उन कार्यो को अधर्म एवं अहितकर मानते हुए किसी मजबूरी के वशवर्ती है? या तमाशा देखने-दिखलाने की किसी भावना से लोगों को अपनी ओर आकर्षित करके उनमें अपने किसी मत-विशेष के प्रचार करने की दृष्टि प्रेरित है? यह सब एक समस्या है, जिसका उनके द्वारा शीघ्र ही हल होने की बड़ी जरूरत है; जिससे उनकी कथनी और करनी में जो स्पष्ट अन्तर पाया जाता है उसका सामंजस्य किसी तरह बिठलाया जा सके।

उपसंहार और चेतावनी

कानजी महाराज के प्रवचन बराबर एकान्त की ओर ढले चले जा रहे है और इसमे अनेक विद्वानों का आपके विषय में अब यह खयाल हो चला है कि आप वास्तव में कुन्दकुन्दाचार्य को नहीं मानते और न स्वामी समन्तभद्र जैसे दूसरे महान् जैन आचार्यो को ही वस्तुतः मान्य करते हैं, क्योंकि उनमें से कोई भी आचार्य निश्चय तथा व्यवहार दोनों में से किसी एक ही नय के एकान्त पक्षपाती नहीं हुए हैं; बल्कि दोनों नयोंको परस्पर साक्षेप, अविनाभाव सम्बन्धको लिये हुए एक दूसरे के मित्र-रूप में मानते तथा प्रतिपादन करते आये हैं जब कि कानजी महाराज की नीति कुछ दूसरी ही जान पड़ती है। वे अपने प्रवचनों में निश्चय अथवा द्रव्यार्थिकनय के इतने एकान्त पक्षपाती बन जाते हैं कि दूसरे नय के वक्तव्य का विरोध तक कर बैठते हैं-उसे शत्रु के वक्तव्यरूप में चित्रित करते हुए 'अधर्म' तक कहने के लिए उतारू हो जाते हैं। यह विरोध ही उनकी सर्वथा एकान्तता को लक्षित कराता है और उन्हें श्री कुन्दकुन्द तथा स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्यो के उपासकों की कोटि से निकाल कर अलग करता है अथवा उनके वैसा होने में सन्देह उत्पन्न करता

है और इसीलिए उनका अपनी कार्य-सिद्धि के लिए कुन्दकुन्दादि की दुहाई देना प्राय: वैसा ही समझा जाने लगा है जैसा कि कांग्रेस सरकार गांधीजी के विषय में कर रही है- वह जगह-जगह गांधीजी की दुहाई देकर और उनका नाम ले-लेकर अपना काम तो निकालती है परन्तु गांधीजी के सिद्धान्तों वस्तुत: मान देती हुई नज़र नहीं आती।

कानजी स्वामी और उनके अनुयायियों की प्रवृत्तियों को देख कर कुछ लोगों को यह भी आशंका होने लगी है कि कहीं जैन समाज में यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नहीं जा रहा है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायों की कुछ-कुछ ऊपरी बातों को लेकर तीनों के मूल मे ही कुठाराघात करेगा और उन्हें आध्यात्मिकता के एकान्त गर्त में धकेल कर एकान्त मिथ्यादृष्टि बनाने में यत्नशील होगा; श्रावक तथा मुनिधर्म के रूप में सच्चारित्र एवं शुभ भावों का उत्थापन कर लोगों को केवल 'आत्मार्थी' बनाने की चेष्टा में संलग्न रहेगा; उसके द्वारा शुद्धात्माके गीत तो गाये जायंगे परन्तु शुद्धात्मा तक पहुँचने का मार्ग पास में न होने से लोग "इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टा:" की दशा को प्राप्त होंगे; उन्हें अनाचार का डर नहीं रहेगा, वे समझेंगे कि जब आत्मा एकान्तत: अबद्ध स्पृष्ट है- सर्व प्रकार के कर्म-बन्धनों से रहित शुद्ध-बुद्ध है और उस पर वस्तुत: किसी भी कर्म का कोई असर नही होता, तब बन्धन से छूटने तथा मुक्ति प्राप्त करने का यत्न भी कैसा? और पापकर्म जब आत्माका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते तब उनमें प्रवृत्त होने का भय भी कैसा? पाप और पुण्य दोनों समान, दोनों ही अधर्म, तब पुण्य जैसे कष्ट-साध्य कार्य में कौन प्रवृत्त होना चाहेगा? इस तरह यह चौथा सम्प्रदाय किसी समय पिछले तीनों सम्प्रदायों का हित-शत्रु बन कर भारी संघर्ष उत्पन्न करेगा और जैन समाज की वह हानि पहुँचाएगा जो अब तक तीनों सम्प्रदायों के संघर्ष-द्वारा नहीं पहुँच सकी है; क्योंकि तीनो में प्राय: कुछ ऊपरी बातों में ही संघर्ष है- भीतरी सिद्धान्त की बातों में नहीं। इस चौथे सम्प्रदाय के द्वारा तो जिन शासन का मूल रूप ही परिवर्तित हो जायगा-वह अनेकान्त के रूप में न रह कर आध्यात्मिक एकान्तका रूप धारण करने के लिये बाध्य होगा।

यदि यह आशंका ठीक हुई तो नि:सन्देह भारी चिंता का विषय है और

इसलिए कानजी स्वामी को अपनी पोजीशन और भी स्पष्ट कर देने की जरूरत है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कानजी महाराज का ऐसा कोई अभिप्राय नहीं होगा जो उक्त चौथे जैन सम्प्रदाय के जन्म का कारण हो, परन्तु उनकी प्रवचन-शैलीका जो रुख चल रहा है और उनके अनुयायियों की जो मिशनरी प्रवृत्तियाँ आरम्भ हो गई हैं और न भविष्य में वैसी सम्प्रदाय की सृष्टि को ही अस्वाभाविक कहा जा सकता है। अत: कानजी महाराज की इच्छा यदि सचमुच चौथे सम्प्रदाय को जन्म देने की नहीं है, तो उन्हें अपने प्रवचनों के विषय में बहुत ही सतर्क एवं सावधान होने की जरूरत है- उन्हें केवल वचनों द्वारा अपनी पोज़ीशन को स्पष्ट करने की ही जरूरत नहीं है, बल्कि व्यवहारादि के द्वारा ऐसा सुदृढ़ प्रयत्न करने की भी जरूरत है जिससे उनके निमित्त को पाकर वैसा चतुर्थ सम्प्रदाय भविष्य में खड़ा न होने पावे, साथ ही लोक-हृदय में जो आशंका उत्पन हुई है वह दूर हो जाय और जिन विद्वानों का विचार उनके विषय में कुछ दूसरा हो चला है वह भी बदल जाए।

आशा है अपने एक प्रवचन के कुछ अंशो पर सद्भावनाको लेकर लिखे गये इस आलोचनात्मक लेख पर कानजी महाराज विशेष रूप से ध्यान देने की कृपा करेंगे और उसके सत्फल उनके स्पष्टीकरणात्मक वक्तव्य एवं प्रवचन-शैली की समुचित तब्दीली के रूप में शीघ्र ही दृष्टिगोचर होगा।

समन्वय वाणी-फरवरी 2002 मे प्रकाशित समाचार कि देवलाली में मुमुक्ष मण्डल की बैठक में निर्णय लिया गया कि कहान पथी मुमुक्ष समाज में एकता स्थापित कर दिगम्बर जैन समाज से समन्वय करने के लिए एक समिति का गठन किया जाय। इससे स्पष्ट हुआ कि मुमुक्ष मण्डलों में मत भेद है तथा वे स्वयं को दिगम्बर जैन समाज से पृथक मानते हुए अब दिगम्बर जैन समाज से समन्वय करने के लिए प्रयत्नशील हैं। उनके उक्त निर्णय से ध्वनित होता है कि आचार्य पं. जुगल किशोर जी मुख्तार ने अर्द्धशति पूर्व जो शंका व्यक्त की थी कि "कहीं यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नहीं जा रहा है" वह शत प्रतिशत यथार्थ थी।

● विचारणीय

भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डपुर एक वास्तविक तथ्य

- आर्यिका चन्दनामती

इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की तीर्थंकर परम्परा में अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के 2600 वें जन्मजयन्ती महोत्सव के सन्दर्भ में प्राचीन जैनसिद्धान्त एवं पुराणग्रन्थों के अनुसार महावीर स्वामी का शोधपूर्ण वास्तविक परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

लगभग दो हजार वर्षपूर्व श्रीयतिवृषभआचार्य द्वारा रचित "तिलोयपण्णत्ति" ग्रन्थ में वर्णन आया है कि-

सिद्धत्थरापियकारिणीहिं, णयरम्मि कुंडले वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे, चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो।।५४९।। पृ. 210

अर्थात् भगवान महावीर कुण्डलपुर जिला नालन्दा (बिहार, प्रदेश) में पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणी से चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए।।

षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड एवं नवमी पुस्तक की टीका में श्रीवीरसेनाचार्य ने भी कहा है कि-

"आषाढ जोण्ण पक्ख छट्ठीए कुण्डलपुर णगराहिव णाहवंश सिद्धत्थं णरिन्दस्स तिसिला देवीए गब्भमागंतणेसु तत्थ अट्ठादिवसाहिय णवमासे अच्छिम चइत्त सुक्ख पक्ख तेरसीए उत्तराफग्गुणी गब्भादो णिक्खंतो।"

वर्तमान समय से 2599 वर्ष पूर्व बिहार प्रान्त के नालन्दा जिले में स्थित "कुण्डलपुर" नगर में जब भगवान महावीर ने जन्म लिया तो जन्म से 15 महीने पूर्व से ही माता त्रिशला के आँगन में रत्नवृष्टि हुई थी। इस रत्नवृष्टि के विषय में "उत्तरपुराण" नामक आर्षग्रन्थ में श्रीगुणभद्रसूरि कहते हैं-

तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति।
भरतेस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनांगणे॥२५१॥
राज्ञः कुंडपुरेशस्य, वसुधाराप तत्पृथु।
सप्तकोटीमणीः सार्द्धाः, सिद्धार्थस्य दिनं प्रति॥२५२॥
आषाढे सिते पक्षे................(उत्तरपुराण, पर्व ७४)

– जब अच्युत स्वर्ग में उसकी आयु छह महीने की रह गई और वह स्वर्ग से अवतार लेने के सन्मुख हुआ उस समय इसी भरतक्षेत्र मे विदेह नामक देश में "कुण्डलपुर" नगर के राजा सिद्धार्थ के घर प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ मणियों की भारी वर्षा होने लगी।

हरिवंशपुराण में भी श्रीजिनसेनाचार्य ने द्वितीय सर्ग मे श्लोक नं. 5 से 24 तक महावीर स्वामी के गर्भकल्याणक का प्रकरण लिखते हुए कुण्डलपुर नगरी का विस्तृत वर्णन किया है तथा उस नगरी की महिमा महावीर के जन्म से ही सार्थक बताते हुए कहा है कि–

एतावतैव पर्याप्तं, पुरस्य गुणवर्णनम्।
स्वर्गावतरणे तद्यद्वीरस्याधारतां गतम्॥१२॥

(हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित)

अर्थ - इस कुण्डलपुर नगर के गुणों का वर्णन तो इतने से ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्ग से अवतार लेते समय भगवान महावीर का आधार बनी - भगवान महावीर वहाँ स्वर्ग से आकर अवतीर्ण हुए।

यहाँ विदेह देश के वर्णन से पूरा विहारप्रान्त माना गया है। उसके अन्दर एक विशाल (99 मील का) नगर था जैसे – मालवादेश में "उज्जयिनी" नगरी, कौशलदेश में "अयोध्या" नगरी, वत्सदेश में "कौशाम्बी" नगरी, आदि के वर्णन से बड़े-बड़े जिलों एवं प्रान्तों के अन्दर राजधानी के रूप में भगवन्तों की जन्मनगरियाँ समझनी चाहिए न कि आज के समान छोटे से ग्राम को तीर्थंकर की जन्मभूमि कहना चाहिए।

महाकवि श्रीपुष्पदन्त विरचित "वीरजिणिंदचरिउ" (भारतीय ज्ञानपीठ से सन् 1974 में प्रकाशित) के पृष्ठ 11-12-13 पर अपभ्रंश भाषा में वर्णन आया है कि -

इह जंबुदिवि भरहंतरालि। रमणीय विसइ सोहा विसालि॥
कुंडउरि राउ सिद्धत्थ सहिउ। जो सिरिहरु मग्गण वेस रहिउ॥

इन पद्यों का हिन्दी अनुवाद करते हुए डॉ. हीरालाल ने लिखा है कि-

जब महावीर स्वामी का जीव स्वर्ग से च्युत होकर मध्यलोक में आने वाला था तब सौधर्म इन्द्र ने जगत कल्याण की कामना से प्रेरित होकर कुबेर से कहा-

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विशाल शोभाधारी विदेह प्रदेश में कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ राज्य करते हैं.... ऐसे उन राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी के शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा जिसके चरणों में इन्द्र भी नमन करेंगे। अतएव हे कुबेर! इन दोनों के निवास भवन को स्वर्णमयी, कान्तिमान् व देवों की लक्ष्मी के विलासयोग्य बना दो। **इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने कुण्डपुर को ऐसा ही सुन्दर बना दिया।**

इसी प्रकरण में आगे देखें-

पहुपंगणि तेत्थु वंदिय चरम जिणिंदें।
छम्मास विरइय रयणविट्ठि जक्खिंदें॥७॥

अर्थात् ऐसे उस राजभवन के प्रांगण में अंतिम तीर्थंकर की वन्दना करने वाले उस यक्षों के राजा कुबेर ने छह मास तक रत्नों की वृष्टि की।

माणिक्यचन्द्र जैन बी. ए. खंडवा निवासी ने सन् 1908 में लिखी गई अपनी पुस्तक LIFE OF MAHAVIRA (महावीर चरित्र) में कुण्डलपुर के विषय में निम्न निष्कर्ष दिए है-

1 The Description of the magnificence of his palace, the ceremonious rejoicings with which the birth of Mahavira was celebrated and the grandevr and pomp of his court, make us believe that Siddhartha was a powerful monarch of his time and his metropolis, Kundalpura, a big populour city [Pg 14-15]

"महाराजा सिद्धार्थ के महल की भव्यता, महावीर के जन्म पर मनाई गई खुशियाँ एवं उनके राजदरबार के वैभव का वर्णन हमें इस तथ्य के लिए

विश्वस्त कर देते हैं कि सिद्धार्थ अपने समय के शक्तिशाली राजा थे और उनका महानगर "कुण्डलपुर" एक बड़ा घनी जनसंख्या वाला नगर था। (पृ. 14-15)

2 As to the birthplace of Mahavira; it is probable but not certain, as Dr Hoernle suggests; that the Jaina tradition which represents Kundalpura as a large town may be correct, in as much as Kundalpura is taken as equivalent to Vesali [Sanscrit Vaishali] He puts his birthplace at Kollaga; another sub of Vesali.. .

उपर्युक्त कथन के द्वारा लेखक श्रीमाणिक्यचन्द्रजी ने एक विदेशी विद्वान् के द्वारा वैशाली के एक स्थान "कोलागा" को भगवान महावीर का जन्मस्थान कहने पर अपना तर्क प्रस्तुत किया है कि "कोलागा" को महावीर की जन्मभूमि मानना बिल्कुल अनावश्यक एवं निराधार है क्योंकि "कुण्डलपुर" उनका जन्मस्थान निर्विवादित सत्य है जैसाकि उन्हीं के शब्दों में देखें-

Both the Digambaras and Shvetambaras assert that Kundalpura was the place where He was born [Page 17]

अर्थात् दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही एकमत से कुण्डलपुर को ही महावीर स्वामी की जन्मभूमि मानते हैं।

उन्होंने अपनी इसी पुस्तक में "**महावीरपुराण**" का सन्दर्भ देते हुए कुण्डलपुर को एक बड़े शहर के रूप में स्वीकार किया है-

अर्थात् कुण्डलपुर शहर एक बड़ी राजधानी के रूप में सर्वतोमुखी मान्यता का केन्द्र रहा है क्योंकि राजा चेटक अपनी पुत्री त्रिशला जैसी तीर्थंकर जन्मदात्री कन्या का विवाह किसी छोटे-मोटे जमींदार से तो कर नहीं देते बल्कि अपने समान अथवा अपने से भी उच्चस्तरीय राजघराने में ही करते। इसी बात को LIFE OF MAHAVIRA में बताया है-

All these remarks go to show that Siddhartha; if not a powerful monarch; exercised; at least; a kingly authority; if not more to that of Chetaka. [Page 16]

ये कतिपय प्रमाण यहाँ महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर से सम्बन्धित दिए गए हैं अब महावीर के ननिहाल "वैशाली" के विषय में जानकारी प्राप्त कीजिए-

1. वीरजिणिंदचरिउ ग्रन्थ की पाँचवी सन्धि (पृ. 60) में श्रीपुष्पदंत महाकवि कहते हैं कि राजा श्रेणिक ने समवसरण में गौतम गणधर से पूछा कि हे भगवन्! मुझे उस आर्यिका चन्दना का चरित्र सुनाइए जिसके शरीर में चन्दन की सुगन्ध है तथा जिसने मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर कर दिया है। राजा के इस प्रश्न को सुनकर गौतमस्वामी ने कहा कि हे श्रेणिक! मै चन्दना का वृत्तांत कहता हूँ सो सुनो-

सिन्धु-विसइ वइसाली-पुरवरि। घर-सिरि-ओहामिय-सुर-वर-घरि।।
चेडउ णाम णरेसरु णिवसइ। देवि अखुद्द सुहद्द महासई।।

अर्थात् सिन्धुविषय (नदी प्रधान विदेह नामक प्रदेश) में वैशाली नामक नगर है जहाँ के घर अपनी शोभा से देवों के विमानों की शोभा को भी जीतते हैं। उस नगर में चेटक नामक नरेश्वर निवास करते हैं।

उनकी महारानी महासती सुभद्रा से उनके धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, शिवदत्त, हरिदत्त, कम्बोज, कम्पन, प्रयंग, प्रभंजन और प्रभास नामक दस पुत्र उत्पन्न हुए।

उनकी अत्यन्त रूपवती पुत्रियाँ भी हुई, जिनके नाम हैं-प्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभादेवी, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा और चन्दना। इनमें से प्रियकारिणी (त्रिशला) का विवाह श्रेष्ठ नाथवंशी कुण्डलपुर नरेश सिद्धार्थ के साथ कर दिया गया।

इसी प्रकार उत्तरपुराण के 75वें पर्व में वर्णन आया है-

सिंध्वाख्ये विषये भूभृद्वैशाली नगरेभवत्।
चेटकाख्योतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः।।३।।

इस ग्रन्थ में भी राजा चेटक के दश पुत्र एवं सात पुत्रियों का कथन करते हुए ग्रन्थकार ने कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ का वर्णन किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से सहज समझा जा सकता है कि विहार प्रान्त में

कुण्डलपुर और वैशाली दोनों अलग-अलग राजाओं के अलग-अलग नगर थे तथा कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ एवं वैशाली के राजा चेटक का अपना-अपना विशेष अस्तित्व था। अतः एक-दूसरे के अस्तित्व को किसी की प्रदेश सीमा में गर्भित नहीं किया जा सकता है।

कुछ व्यावहारिक तथ्य-

1. किसी भी कन्या का विवाह हो जाने पर उसका वास्तविक परिचय ससुराल से होता है न कि मायके (पीहर) से।
2. उसकी सन्तानों का जन्म भी ससुराल में ही होता है। हाँ! यदि ससुराल मे कोई विशेष असुविधा हो या सन्तान का जन्म वहाँ शुभ न होता हो तभी उसे पीहर में जाकर सन्तान को जन्म देना पड़ता है।
3. पुत्र का वंश तो पिता के नाम एवं नगर से ही चलता है न कि नाना-मामा के वंश और नगर से उसकी पहचान उचित लगती है।

इन व्यावहारिक तथ्यों से महावीर की पहचान ननिहाल वैशाली और नाना चेटक से नहीं, किन्तु पिता की नगरी कुण्डलपुर एवं पिता श्री सिद्धार्थ राजा से ही मानना शोभास्पद लगता है। अपना घर एवं नगर भले ही छोटा हो किन्तु महापुरुष दूसरे की विशाल सम्पत्ति एवं नगर से अपनी पहचान बनाने में गौरव नहीं समझते हैं।

फिर वैशाली के दश राजकुमार किनके उत्तराधिकारी बने?

जैन ग्रन्थों के पौराणिक तथ्यों से यह नितान्त सत्य है कि राजा चेटक के दस पुत्र एवं सात पुत्रियाँ थीं। इनमें से पाँच पुत्रियों के विवाह एवं दो के दीक्षाग्रहण की बात भी सर्वविदित है। किन्तु यदि तीर्थंकर महावीर को वैशाली के राजकुमार या युवराज के रूप में माना गया तो राजा चेटक के दशों पुत्र अर्थात् महावीर के सभी मामा क्या कहलाएंगे? क्या वे कुण्डलपुर के राजकुमार कहे जाएंगे?

यह न्यायिक तथ्य भी महावीर को कुण्डलपुर का युवराज ही स्वीकार करेगा न कि वैशाली का। अतः कुण्डलपुर के राजकुमार के रूप में ही महावीर का अस्तित्व सुशोभित होता है।

अपनी शोध सामग्री छोड़कर दूसरे उधार लिए गए साक्ष्यों पर विश्वास क्यों करें?

महावीर के पश्चात् जैनशासन दो हजार वर्षों से दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो परम्पराओं में विभक्त हो गया यद्यपि यह एक ऐतिहासिक सत्य है तथापि आज भी दिगम्बर जैनधर्म के अतिप्राचीन प्रमाण मौजूद हैं जिनमे महावीर का जन्मस्थान कुण्डलपुर ही माना गया है और उन तथ्यों के आधार पर तीर्थंकर के जन्म से पूर्व 15 माह तक रत्नवृष्टि उनकी माता के महल में ही होने के प्रमाण हैं न कि नाना-नानी के आँगन में रत्नवृष्टि हो सकती है। पुन: जहाँ रत्नवृष्टि हुई है, भगवान का जन्म तो उसी घर में मानना पड़ेगा अत: **''महावीर का जन्म त्रिशला माता की कुक्षि से कुण्डलपुर में ही हुआ था''** यह दृढ़ श्रद्धान रखते हुए कुण्डलपुर को विकास और प्रचार की श्रेणी में अवश्य लाना चाहिए।

कुण्डलपुर के विषय में वर्तमान अर्वाचीन (दूसरे साहित्य के अनुसार) शोध का महत्व दर्शाते हुए यदि दिगम्बर जैन ग्रन्थों की प्राचीन शोधपूर्ण वाणी को मद्देनजर करके वैशाली को महावीर जन्मभूमि के नाम से माना जा रहा है तो अन्य ग्रन्थानुसार आदि अनेक बातें भी हमें स्वीकार करनी चाहिए किन्तु शायद इन बातों को कोई भी दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी स्वीकार नहीं कर सकते हैं। अत: हमारा अनुरोध है कि अपनी परमसत्य जिनवाणी को आज के थोथे शोध की बलिवेदी पर न चढ़ाकर संसार के समक्ष उन्हीं प्राचीन दि. जैन ग्रन्थों के दस्तावेज प्रस्तुत करना चाहिए! कुल मिलाकर दिगम्बर होकर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों को छोड़कर अन्य प्रमाणों से झूठी प्रामाणिकता सिद्ध करें, यह बात कुछ समझ में नहीं आती है।

वैशाली का विकास हो किन्तु महावीर जन्मभूमि के नाम से नहीं-

जहाँ जिस क्षेत्र में तीर्थंकर जैसे महापुरुषों के जन्म होता है वहाँ की तो धरती ही रत्नमयी और स्वर्णमयी हो जाती है अत: वहाँ दूर-दूर तक यदि उत्खनन में कोई पुरातत्व सामग्री प्राप्त होती रहे तो कोई अतिशयोक्ति वाली बात नहीं है अर्थात् महावीर के ननिहाल वैशाली में यदि कोई अवशेष मिले हैं तो वे जन्मभूमि के प्रतीक न होकर यह पौराणिक तथ्य दर्शाते हैं कि

तीर्थंकर महावीर के अस्तित्व को वैशाली में भी उस समय मानकर उनके नाना-मामा सभी गौरव का अनुभव करते हुए सिक्के आदि में उनके चित्र उत्कीर्ण कराते थे तभी वे आज पुरातत्व के रूप में प्राप्त हो रहे हैं।

दिगम्बर परम्परानुसार तीर्थंकर तो अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र ही होते हैं अर्थात् उनके कोई भाई नहीं होता अतः माता-पिता के स्वर्गवासी होने के पश्चात् कुण्डलपुर की महिमा वैशाली में महावीर के मामा आदि जातिबन्धुओं ने प्रसारित कर वहाँ कोई महावीर का स्मारक भी बनवाया हो तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। अतः संभव है कि उस स्मारक के अवशेष वहाँ मिल रहे हों।

वर्तमान में भी यदि वैशाली जनसामान्य के आवागमन की सुविधायुक्त नगर है तो वहाँ महावीर स्वामी का स्मारक आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र बन सकता है किन्तु विद्वानों को उपर्युक्त विषयों पर गहन चिन्तन करके ऐसा निर्णय लेना चाहिए कि प्राचीन सिद्धान्त धूमिल न होने पावें और भगवान महावीर के 2600वें जन्मजयन्ती महोत्सव मनाने के साथ ही जैनसमाज के द्वारा कोई ऐसा विवादित कार्य न हो जावे कि महावीर की असली जन्मभूमि "**कुण्डलपुर**" ही विवाद के घेरे में पड़कर महावीर जन्मभूमि के सौभाग्य से वंचित हो जावे।

महावीरकालीन कुण्डलपुर को शहर की एक कालोनी नहीं कह सकते

तीर्थंकर भगवान की जन्मनगरी में साक्षात् सौधर्म इन्द्र एक लाख योजन के ऐरावत हाथी पर बैठकर आता है और वहाँ भारी प्रभावना के साथ जन्मकल्याणक महोत्सव मनाता है। अतः उस नगरी का प्रमाण साधारण नगरियों के समान न मानकर अत्यन्त विशेष नगरी मानना चाहिए।

जैसाकि शास्त्रों में वर्णन भी है कि तीर्थंकर की जन्मनगरी को उनके जन्म से पूर्व स्वर्ग से इन्द्र स्वयं आकर व्यवस्थित करते है। जिस कुण्डलपुर को स्वयं इन्द्रों ने आकर बसाया हो उसके अस्तित्व को कभी नकारा नहीं जा सकता है तथा उसके अन्तर्गत अन्य नगरों का मानना तो उचित लगता है, न कि अन्य नगरियों के अन्तर्गत दिल्ली शहर की एक कालोनी की भाँति "**कुण्डलपुर**" को मानना चाहिए।

कालपरिवर्तन के कारण लगभग 2500 वर्षों बाद उस कुण्डलपुर नगरी की

सीमा भी यदि पहले से काफी छोटी हो गई है तो भी उसके सौभाग्यमयी अस्तित्व को नकार कर किसी बड़े नगर को महावीर जन्मभूमि का दर्जा प्रदान कर देना उसी तरह अनुचित लगता है कि जैसे हमारा पुराना घर यदि आगे चलकर गरीब या खण्डहर हो जाए तो किसी पड़ोसी बड़े जमींदार के घर से अपने अस्तित्व की पहचान बनाना।

अभिप्राय यह है कि सर्वप्रथम तो महावीर की वास्तविक जन्मभूमि कुण्डलपुर नगरी का जीर्णोद्धार, विकास आदि करके उसे खूब सुविधासम्पन्न करना चाहिए अन्यथा उसे विलुप्त करने को दुस्साहस तो कदापि नहीं होना चाहिए।

यदि 50 वर्ष पूर्व समाज के वरिष्ठ लोगों ने सूक्ष्मता से दिगम्बर जैन ग्रन्थों का आलोडन किए बिना कोई गलत निर्णय ले लिया तो क्या प्राचीन सिद्धान्त आगे के लिए सर्वथा बदल दिए जाएँगे?

मेरी तो दिगम्बर जैन धर्मानुयायियों के लिए इस अवसर पर विशेष प्रेरणा है कि यदि इसी तरह निराधार और नए इतिहासविदों के अनुसार प्राचीन तीर्थो का शोध चलता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब अपने हाथ से कुण्डलपुरी, पावापुरी, अयोध्या, अहिच्छत्र आदि असलीतीर्थ निकल जाएँगे क्योंकि आज तो बिजौलिया (राज.) के लोग अहिच्छत्र तीर्थ को अस्वीकार करके बिजौलिया में भगवान पार्श्वनाथ का उपसर्ग होना मानते हैं। इसी प्रकार सन् 1993 में एक विद्वान् अयोध्या में एक संगोष्ठी के अन्दर वर्तमान की अयोध्या नगरी पर ही प्रश्नचिन्ह लगाकर उसे अन्यत्र विदेश की धरती पर बताने लगे तब पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने उन्हें यह कहकर समझाया था कि शोधार्थी विद्वानों को इतना भी शोध नहीं करना चाहिए कि अपनी माँ पर ही सन्देह की सुई टकने लगे अर्थात् तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित जिनवाणी एवं परम्पराचार्यो द्वारा रचित ग्रन्थों को सन्देह के घेरे में डालकर या उन्हें झूठा ठहराकर लिखे गए शोध प्रबन्ध हमें मंजूर नहीं हैं।

शोध का अर्थ क्या है?

मुझे समझ में नहीं आता कि अपनी प्राचीन मूल परम्परा पर कुठाराघात करके अर्वाचीन ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करना ही क्या शोध की

परिभाषा है? वैशाली कभी भी सर्वसम्मति से महावीर की जन्मभूमि के रूप में स्वीकार नहीं की गई क्योंकि अनेक साधु-साध्वी इस विषय से सन् 1974 में भी असहमत थे और आज भी असहमत हैं यदि इस जन्मजयन्ती महोत्सव पर वैशाली को "महावीरस्मारक" के रूप में विकसित किया जाता है तब तो संभवत: किसी साधु-साध्वी, विद्वान् अथवा समाज का प्रबुद्धवर्ग उसे मानने से इन्कार नहीं करेगा किन्तु महावीर की जन्मभूमि वैशाली के नाम पर अधिकांश विरोध के स्वर गूंजेंगे।

इस विषय में चिन्तन का विषय यह है कि यदि दिगम्बर जैनसमाज के ही लोग अपने प्राचीन आगम के प्रमाण छोड़कर दूसरे ग्रन्थों एवं अर्वाचीन इतिहासज्ञों के कथन प्रामाणिक मानने लगेंगें तो उन पूर्वाचार्यों द्वारा कथित आगम के प्रमाण कौन सत्य मानेंगे? इस तरह तो "प्राचीनभारत" पुस्तक में इतिहासकार प्रो. रामशरण शर्मा द्वारा लिखित जैनधर्म को भगवान महावीर द्वारा संस्थापित मानने में भी हमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए? यदि सन् 1972 में लिखे गए उस कथन का हम आज विरोध कर उसे पूर्ण असंगत ठहराते हैं तो वैशाली का महावीर की जन्मभूमि कहने पर भी हमें इतिहास को धूमिल होने से बचाने हेतु गलत कहना ही पड़ेगा अन्यथा अपने हाथों से ही अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने के अतिरिक्त कोई अच्छा प्रतिफल सामने नहीं आएगा।

हम तो शोध का अर्थ यह समझते हैं कि अपने मूल इतिहास एवं सिद्धान्तों को सुरक्षित रखते हुए वर्तमान को प्राचीनता से परिचित कराना चाहिए। वैशाली में न तो महावीर स्वामी का कोई प्राचीन मन्दिर है और न ही उनके महल आदि की कोई प्राचीन इमारत मिलती है, केवल कुछ वर्ष पूर्व वहाँ "कुण्डग्राम" नाम से एक नवनिर्माण का कार्य शुरू हुआ है। जैसाकि पण्डित बलभद्र जैन ने भी "भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ" (बंगाल-विहार-उड़ीसा के तीर्थ) नामक ग्रन्थ में (सन् 1975 में हीराबाग-बम्बई से प्रकाशित) कुण्डलपुर तीर्थ के विषय में लिखा है-

"कुण्डलपुर विहार प्रान्त के पटना जिले में स्थित है। यहाँ का पोस्ट आफिस नालन्दा है और निकट का रेलवे स्टेशन भी नालन्दा है। यहाँ भगवान महावीर के गर्भ, जन्म और तपकल्याणक हुए थे, इस प्रकार की मान्यता कई

शताब्दियों से चली आ रही है। यहाँ पर एक शिखरबन्द मन्दिर है जिसमें भगवान महावीर की श्वेतवर्ण की साढ़े चार फुट अवगाहना वाली भव्य पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। वहाँ वार्षिक मेला चैत्र सुदी 12 से 14 तक महावीर के जन्मकल्याणक को मनाने के लिए होता है।''

कुण्डलपुर या कुण्डपुर को कुण्डग्राम कहकर वैशाली साम्राज्य की एक शासित इकाई मानते हुए क्या हमारे कुछ विद्वान् राजा सिद्धार्थ को चेटक राजा का घरजमाई जैसा तुच्छ दर्जा दिलाकर उन्हें वैशाली के ही एक छोटे से मकान का गरीब श्रावक सिद्ध करना चाहते हैं? क्या तीर्थंकर के पिता का कोई विशाल अस्तित्व उन्हें अच्छा नहीं लगता है?

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी इस विषय में बतलाती हैं कि सन् 1974 में महावीर स्वामी के 2500वें निर्वाणमहोत्सव के समय पूज्य आचार्य श्री धर्मसागर महाराज, आचार्य श्री देशभूषण महाराज, पण्डितप्रवर सुमेरचन्द दिवाकर, पंडित मक्खनलाल शास्त्री, डा. लालबहादुर शास्त्री-दिल्ली, पं. मोतीचंद कोठारी-फल्टण आदि अनेक विद्वानों से चर्चा हुई तो सब एक स्वर से कुण्डलपुर वर्तमान तीर्थक्षेत्र को ही महावीर जन्मभूमि के रूप में स्वीकृत करते थे, वैशाली किसी को भी जन्मभूमि के रूप में इष्ट नहीं थी।

जरा चिन्तन कीजिए !

उदाहरण के तौर पर गणिनी श्री ज्ञानमती का जन्म उत्तरप्रदेश के टिकैतनगर (जिला बाराबंकी) ग्राम में हुआ है और उनके द्वारा हुई व्यापक धर्मप्रभावना के कार्य दिल्ली, हस्तिनापुर आदि में हुए हैं। आगे चलकर सौ-दो सौ वर्ष पश्चात् कोई शोधकर्ता इन स्थानों पर कुछ साक्ष्य पाकर टिकैतनगर की बजाए हस्तिनापुर, दिल्ली आदि माताजी का जन्मस्थान मान ले तो क्या उसे सच मान लिया जाएगा? अर्थात् उन स्थानों को माताजी की कर्मभूमि तो माना जा सकता है किन्तु जन्मभूमि तो जन्म लिए हुए स्थान को ही मानना पड़ेगा।

इसी प्रकार कुछ पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर ''वैशाली'' को महावीर जन्मभूमि के नाम से मान्यता नहीं दिलाई जा सकती है अत: विद्वान् आचार्य, साधु-साध्वी सभी गहराई से चिन्तन कर कुण्डलपुर की खतरे में पड़ी अस्मिता की रक्षा करें।

जन्मभूमि के बाद निर्वाणभूमि की भी बारी आने वाली है-

वर्तमान की बुद्धिजीवी पीढ़ी ने महावीर स्वामी की कल्याणक भूमियों के भ्रामक प्रचार का मानो ठेका ही ले लिया है। इसे शायद पंचमकाल या हुण्डावसर्पिणी का अभिशाप ही कहना होगा कि महावीर स्वामी की जन्म एवं निर्वाण दोनों भूमियों को विवादित कर दिया गया है।

पच्चीस सौ सत्ताइस वर्षों पूर्व विहार प्रान्त की जिस पावापुर नगरी से महावीर ने मोक्षपद प्राप्त किया वह आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र है और प्रत्येक दीपावली पर वहाँ देश भर से हजारों श्रद्धालु निर्वाणलाडू चढ़ाने पहुँचते हैं। जैसा शास्त्रों में वर्णन आया है बिल्कुल उसी प्रकार की शोभा से युक्त पावापुरी का सरोवर आज उपलब्ध है और उसके मध्यभाग में महावीर स्वामी के अतिशयकारी चरण-चिन्ह विराजमान हैं फिर भी कुछ विद्वान् एवं समाजनेता गोरखपुर (उ.प्र.) के निकट सठियावां ग्राम के पास एक **"पावा"** नामक नगर को ही महावीर की निर्वाणभूमि पावा सिद्धक्षेत्र मानकर अपने अहं की पुष्टि कर रहे हैं।

इस तरह की शोध यदि अपने तीर्थ और शास्त्रों के प्रति चलती रही तब तो सभी असली तीर्थ एवं ग्रन्थों पर प्रश्नचिन्ह लग जाएँगे तथा जैनधर्म की वास्तविकता ही विलुप्त हो जाएगी। पावापुरी के विषय में भी अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध है किन्तु यहाँ विषय को न बढ़ाते हुए केवल प्रसंगोपात्त जन्मभूमि प्रकरण को ही प्रकाशित किया गया है सो विज्ञजन स्वंय समझें एवं दूसरों को समझावें।

इत्यलम्!

-जम्बूद्वीप, हस्तिनापुर

पं. श्री हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री एवं उन की साहित्य सपर्या

-अरुण कुमार जैन
जैन दर्शन व्याकरणाचार्य

वींसवी शताब्दी के जिन मनीषियों ने समाज की उपेक्षा के भारी संत्रासों को झेलकर तथा नाना आर्थिक समस्याओं से जूझकर भी अपनी अनर्ध्य साधना से नाश होने के कगार पर खड़े जिन-साहित्य-प्रासाद के संरक्षण एवम् पुनरुद्धार में अपना समग्र जीवन समर्पित कर दिया, जिन और संस्कृति के आधार स्तम्भ आचार्य प्रणीत वाड्.मय को जन-जन तक पहुँचाने में महनीय अवदान देकर समाज और देश को सत्सरणि का संदर्शन कराया, नाना शास्त्राद्यवीक्षण से जैन वाड्.मय को युग-सापेक्ष तुलनात्मक अध्ययन कर वाग्देवी के मन्दिर को समलंकृत कर विश्व वाड्.मय में जैन मनीषा के उत्कर्ष को सिद्ध किया, आजीविकोपयोगी समुचित संसाधनों के अभाव में भी जो साहित्य-सपर्या से कभी विरत नहीं हुए, ऐसे महान् श्रुत-समाराधकों की गणनाप्रसंग में अग्रणी विद्वान् हैं- सिद्धान्ताचार्य पं. श्री हीरालाल शास्त्री।

ठिंगनी कृश देह परन्तु अन्तरंग में दृढ़ता भरी संकल्प शक्ति, घुटनों तक धोती, बिना प्रेस का कुर्ता, यदा-कदा दर्शनीय सिर पर टोपी बाहर से कड़क, अन्दर से नरम, बिल्कुल महात्म-सुलभ नारि केलसमाकार, अन्दर को धुंसी आँखों में शास्त्रों की गहनावलोकनी दृष्टि, कृत्रिमता से रहित सीधी सपाट वाणी, यही हैं सिद्धान्ताचार्य पं. श्री हीरालाल जी शास्त्री।

लघु और कृशकाय के इस महामनीषी ने घोर पारिवारिक प्रतिकूलताओं के मध्य अपने अप्रतिहत पुरुषार्थ के बल पर जिस विशाल वाड्.मय की रचना की, उसे ये स्वयं नहीं उठा सकते। पं. श्री शास्त्री जी आगम शास्त्रों के तलस्पर्शी अध्येता, कुशल संपादक एवम् अनुवादक थे।

कर्म सिद्धान्त, जैन-न्याय शास्त्र, एवम् जैन आचारशास्त्र के आप मर्मज्ञ विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त अपने अपनी मेधा एवम् सूक्ष्मेक्षिका के बल पर जैन काव्यों का भी सटीक सम्पादन प्रस्तुत किया है। मात्र धवला एवम् जयधवला ग्रन्थराजों पर किया गया उनका कार्य जैन साहित्य में उन्हें अमर कीर्ति दिलाने में सक्षम है।

बुन्देलखण्ड की पण्डितप्रसूता धरा के ललितपुर मण्डलान्तर्गत सादूमल ग्राम में स्वनाम धन्य पं. श्री हीरालाल का जन्म श्रावण मास की अमावस्या वि. सं. 1961 में हुआ। प्रारम्भ से ही आप प्रतिभाशाली थे। उनके ही ग्राम में संचालित श्री महावीर दिगम्बर जैन पाठशाला, सादूमल में आपको प्रवेश दिलाया गया, जहाँ से आपने संस्कृत मध्यमा एवम् जैन धर्म विशारद की परीक्षाएं उच्चश्रेणी में उत्तीर्ण की। आपकी उत्कट ज्ञान-पिपासा देखकर आपको उच्चाध्ययन हेतु इन्दौर के सर सेठ हुकमचन्द्र जैन महाविद्यालय में भेजा गया। गहन अध्यवसायपूर्वक अध्ययन करते हुए आपने शास्त्री और न्यायतीर्थ की उपाधियाँ साधिमान अर्जित की। उसके पश्चात् भी ज्ञानाराधना का क्रम नही रुका। आपने सिद्धान्त शास्त्रों के गहन अध्ययन हेतु जैन शिक्षा मन्दिर में स्व. पं. श्री वंशीधर जी सिद्धान्त शास्त्री का शिष्यत्त्व ग्रहण कर सिद्धान्त ग्रन्थों में पारंगतता अधिगत की। विद्यार्जन उपरान्त कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया।

सर्वप्रथम सन् 1924 में आप काशी के महान् शिक्षाकेन्द्र श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में धर्माध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। स्याद्वाद महाविद्यालय से आप भा. दि. जैन महाविद्यालय सहारनपुर चले गये, जहाँ सन् 1927 से 32 तक धर्माध्यापक के रूप में अपनी सेवायें प्रदान की। सहारनपुर में श्वेताम्बर जैन साधुओं को भी अतिरिक्त समय में अध्यापन कार्य करते थे, इससे आपको प्राकृत भाषा में गहरी पैठ बनाने का अवसर मिला। इसके अतिरिक्त आपने भा. व. दि. जैन महाविद्यालय ब्यावर, जैन सिद्धान्त शाला ब्यावर, उत्तर प्रान्तीय दिगम्बर जैन गुरुकुल, हस्तिनापुर, आदि संस्थाओं में भी अपनी अध्यापकीय सेवाएं दी।

शोधानुसन्धान, सम्पादन एवम् अनुवाद आदि कार्यो के निमित्त आपने धवला कार्यालय अमरावती, श्री ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन. ब्यावर.

एवम् वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली आदि संस्थाओं से आप सम्बद्ध रहे। इसके अतिरिक्त श्री भा.व.दि. जैन संघ मथुरा में प्रचार कार्यार्थ भी आप नियुक्त हुए।

उक्त संस्थाओं में कार्य करते हुए प्राचीन जैन साहित्य के अध्ययन में अपनी गहन अभिरुचि के कारण आप निरन्तर ज्ञानाराधन के पुण्य कार्य में सदा निरत रहे। यहाँ ज्ञातव्य है कि आपने जिन संस्थाओं में अपनी सेवाएँ प्रदान की, सभी संस्थाएँ समाज द्वारा संचालित थी। सामाजिक संस्थाओं में कार्यरत विद्वानों को किन-किन कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है, भुक्तभोगी एवम् तटस्थ विज्ञजन जानते हैं। इन संस्थाओं में कर्मचारियों को अपने सेवा कर्म के साथ संस्था के पदाधिकारियों की ख्याति-लाभादि की अपेक्षा का ध्यान भी रखना पड़ता है। कर्मचारियों के कार्य परिश्रम का मूल्यांकन उनकी योग्यता एवम् निष्ठा के आधार पर नहीं, अधिकारियों से उनकी अनुकूलता के आधार पर किया जाता है। यहाँ पर दिया जाने वाला कम वेतन कर्मचारि विद्वान् को तन से बेखबर होकर कार्य करने को मजबूर करता है। इन सब प्रकार की घोर कठिनाईयों आपदाओं को झेलते हुए और पारिवारिक आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के प्रहारों का मुकाबला करना पड़ता है।

इन सब विसंगतियों के कारण पं. श्री शास्त्री जी अपनी स्वाभिमानी वृत्ति एवम् स्पष्टवादिता के कारण संस्थाधिकारियों के प्रभाजन बने, परन्तु आपने जीवन शैली से कभी समझौता नहीं किया। यही कारण है कि उन्हें किसी भी सेवा में दीर्घकालिक स्थायित्व नहीं मिल सका, उन्हें अनेक स्थानों पर सेवार्थ जाना पड़ा।

उनकी स्पष्टवादिता का एक उदाहरण, जो उनके ही मुख से सुना था, यहाँ प्रस्तुत है। पण्डित श्री शास्त्री जी, उज्जैन में सेठ लालचन्द्र जी सेठी के यहाँ उनके परिवार को धार्मिक अध्ययनार्थ एवं मन्दिर जी में शास्त्र सभा करने हेतु नियुक्त थे। उन दिनों सेठ सा. का उनकी सामाजिक सेवाओं के लिये नागरिक अभिनन्दन समारोह का आयोजन था। सेठ सा. के व्यक्तित्त्व पर प्रकाश डालने हेतु आपका नाम भी वक्ताओं की सूची में था। आपने सेठजी का परिचय देते हुए भरी सभा में कहा, यदि सेठ सा. के व्यक्तित्व के विविध पक्षों पर यदि मूल्याङ्कन करते हुए मैं आपको प्रबन्धकीय क्षमता में 90/100, व्यवसाय दक्षता

95/100, धर्मज्ञान 85/100 समाज सेवा 85/100 अंक देना चाहता हूँ, परन्तु खेद है कि उदारता के प्रश्नपत्र में बड़ी मुश्किल से 100 में से मात्र 10 नं. ही दे पा रहा हूँ। पण्डित जी की इस टिप्पणी से सेठ सा. आश्चर्य से स्तब्ध रहे, ऐसे स्पष्टवादी थे -पं. श्री हीरालाल जी।

स्पष्टवादिता, स्वाभिमानिता उनके स्वभाव का अभिन्न अंग था। तथापि वे पूर्ण व्यवहार कुशल एवम् सहयोगी स्वभाव के थे। आतिथ्य-सत्कार में उनका आत्मीयता पूर्ण-स्नेह अतिथि आगन्तुक को अभिभूत कर देता था। सरस्वती भवन ब्यावर से त्यागपत्र देने के उपरान्त उज्जैन से ट्रस्ट के मन्मी ने मुझे चार्ज लेने भेजा, तब भवन की एक-एक पुस्तक एवं पुरामहत्त्व की वस्तुओं को जो कि उनहोंने बहुत संजोकर रखी थीं, मुझे संभलवाने में एक सप्ताह से अधिक समय लगा, इस पूर्ण अवधि में प्रतिदिन पण्डितजी ने स्वयं अपने पुत्र के साहाय्य से भोजन तैयार कर खिलाया जब तक वे ब्यावर में रहे उन्होंने मुझे व मेरे साथ गये पण्डित दयाचंद जी शास्त्री उज्जैन को अन्यत्र भोजन नहीं करने दिया। मुझे नीतिकार के वचन याद आये।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तर चेतांसि को विज्ञातुमर्हति।।

प्रात:काल चार बजे शय्यात्याग देना एवं दैनिक कर्म से निवृत्त होकर प्रात: पाँच बजे से प्रारम्भ हो जाता था उनका महनीय ज्ञानाराधन का यज्ञ। प्रात: 7.00 बजे देवदर्शन के उपरान्त दुग्धसेवन पश्चात् पुन: वही ग्रन्थावलोकन, संशोधन, संपादन एवम् अनुवाद कार्य की साधना। अपराहन 1.00 घण्टे विश्राम पुन: ग्रन्थाध्ययन! सायंकाल भोजन के पश्चात् भवन के चारों ओर परिक्रमा लगाते हुए स्तुतिपाठादि एवम् सायंकालीन भ्रमण! एक काल में ज्ञानाराधन, देव-भक्ति एवम् शारीरिक स्वास्थ्य तीनों क्रियाओं को सम्पन्न कर अपने बहुमूल्य समय को बचाकर वे सरस्वती देवी की आराधना में लगाते थे।

एक बार कोई व्यवित शंकाओं की सूची लेकर पण्डितजी के पास आये पण्डित जी ने बहुत कम समय में अर्थात् तीन-तीन चार-चार शंकाओं का समाधान ग्रन्थ के सन्दर्भोल्लेख मात्र द्वारा कर दिया, परन्तु वे सज्जन इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे, पण्डितजी ने स्पष्ट कह दिया पहिले आप स्वाध्याय करें

पीछे हमारे पास आवें। मैनें जब पण्डितजी को पूछा - पण्डितजी आपने इन्हें समय तो दिया ही नहीं। पण्डितजी ने मुझे अति संक्षिप्त उत्तर दिया - अरुण कुमार जी! उनके पास व्यर्थ चर्चा के लिये अनन्त समय है, मेरी आयु दिन प्रतिदिन क्षीणता की ओर अग्रसर है अतः समय कम और अभी बहुत काम करना है। सचमुच वे मरणपर्यन्त कार्य करते रहे मृत्यु से पाँच दिवस पूर्व अपने गाँव साढूमल से ब्यावर तक की यात्रा किसी ग्रन्थ प्रकाशन के निमित्त की थी, जो उनकी ज्ञानसाधना के प्रति कर्मठता एवम् जीवटपना का एक अनुकरणीय उदाहरण है।

देवदर्शन और जिन-स्तुति, नितप्रति पूजन करने का उनका नित्य नियम था। एकदा किसी श्रेष्ठी ने उन्हें कहा, पण्डितजी आप अष्टद्रव्य पूजन तो करते नहीं, उन्होंने उत्तर दिया मैं अष्टविध पूजन एक बार नहीं, बल्कि द्वादशांग पूजन पूरे दिवस पर्यन्त करता हूँ। ऐसे द्वादशांग जिनवाणी के महान् भक्त पूजक, आराधक अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी थे -पं. हीरालाल जी शास्त्री।

हीराश्रम साढूमल (ललितपुर) में श्रुताराधन करते हुए पूज्य पण्डितजी सन् 1981 की फरवरी मास में परलोक सिधार गये, उनकी पुद्गलमयी काया तो पुद्गल में ही विलीन हो गयी, परन्तु उनके द्वारा अनूदित, व्याख्यात एवम् सम्पादित ग्रन्थ-रचनाओं के माध्यम से वे साहित्य जगत् में सदाअमर रहेंगे, उनके द्वारा किये गये कार्य विद्वजगत् में प्रकाश स्तम्भ बनकर साहित्योद्धार की दिशा में सदा प्रदर्शक बने रहेंगे।

आदरणीय पण्डितजी के स्थितिकाल में प्राचीन आचार्यो के द्वारा प्रणीत साहित्य का विशाल भाग प्रकाश में नही आ सका था। बहुत आवश्यकता थी विविध शास्त्र भण्डारों बन्द, दीमक भक्षित होते हुए यत्र-तत्र विकीर्ण जैन साहित्य के संग्रहण पूर्वक उनके भाषा रूपान्तर एवम् आधुनिक पद्धति के अनुकूल सम्पादनोपरान्त प्रकाशन की। पण्डितजी ने ऐ. पन्नालाल सरस्वती भवन में सेवा के माध्यम से विकीर्ण साहित्य के संग्रह एवम् संरक्षण में तो अपनी पहली भूमिका निभायी। साथ ही, विशाल परिमाण में प्राचीन जैन साहित्य का सम्पादन एवम् अनुवाद कर उन्हें प्रकाशित कराया। विशेष बात यह है कि विषय विवेचन की सूक्ष्मता एवम् प्रतिपादन के विस्तार वाले

जैनाचार्य प्रणीत ऐसे ग्रन्थ महार्णवों का भी कार्य हाथ में लेने से पण्डित जी नहीं घबराए, जिन्हें देख अच्छे-अच्छे विद्वानों का भी गर्व खर्व होने लगता है। आप द्वारा मेरी जानकारी अनुसार निम्न ग्रन्थों की संपादन अनुवाद एवम् व्याख्या की गयी;-

आगम ग्रन्थ	1. धवल सिद्धान्त के 5 भाग पूर्ण एवम् छठा आधाभाग
कर्म-सिद्धान्त	2. प्राकृत पञ्चसंग्रह एवम् 3 कर्म प्रकृति
काव्य ग्रन्थ	4. दयोदय चम्पू, 5. सुदर्शनोदय महाकाव्य, 6. जयोदय महाकाव्य(पूर्वार्द्ध), 7. वीरोदय महाकाव्य एवम् 8. वीरवर्द्धमान चरित्र
न्याय एवम् दर्शन ग्रन्थ	9. प्रमेय रत्नमाला
श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ	10. दशवैकालिक सूत्र-प्रवचन संग्रह पाँच भाग
	11. जीत सूत्र, 12. दशा श्रुतस्कन्ध
	13. निशीथ सूत्र, 14. स्थानांगसूत्र व 15. समवांयाग सूत्र
श्रावकाचार	16. श्रावकाचार संग्रह पाँच भाग (जिसमें 33 श्रावकाचारों का संग्रह है)
	17. वसुनन्दि श्रावकाचार एवम् 18. जैन धर्मामृत

इस ग्रन्थों का सकल कलेवर 20,000 पृष्ठों से भी ज्यादा है। मेरी जानकारी अनुसार अन्तिम समय में आपने श्वे. जैन ग्रन्थ नन्दिसूत्र की हिन्दी टीका तथा जैन मन्त्रशास्त्र ग्रन्थ तैयार किया था, जिनके प्रकाशन की सूचना उपलब्ध न हो सकी। जैन मन्त्र शास्त्र, ग्रन्थ विषयक जानकारी मुझे भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जी द्वारा प्राप्त हुयी थी।

षट्खण्डागमः प्रस्तुत ग्रन्थ अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर रूप हिमाचल से निःसृत द्वादशांग वाग्गंगा की अवच्छिन्न परम्परा का ग्रन्थरत्न है। यह दिगम्बर परम्परा की अनुपम निधि है। भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि निःसृत द्वादशांग जिन वाणी का ज्ञान, आचार्य परम्परा से क्रमशः ह्रास होता हुआ आ. धरसेन तक आया। धरसेन आचार्य अंगों एवम् पूर्वो के एक देश ज्ञाता थे एवम् श्रुत

संरक्षण से चिन्तित, यत: निमित्तज्ञान द्वारा उन्होंने जान लिया कि काल-दोष के कारण आगामी समय में अंगों के आंशिक ज्ञान को धारण करने की मेधावाले भी नहीं रहेंगे अत: लिपिबद्ध करने हेतु उन्होंने महिमा नगरी से मुनि श्री पुष्पदन्त एवम् भूतबली को आहूत कर उनकी परीक्षा कर, श्रुत-परम्परा के संरक्षणार्थ लिपिबद्ध करने के अभिप्राय से आगम सिद्धान्त सिखाया, जिन्होंने अपने गुरु की भावना के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ को प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध किया।

प्रस्तुत आगमग्रन्थ में छह खण्डों में जीवट्ठाण, (2) खुद्दाबन्ध (3) बन्ध स्वामित्व विचय (4) वेदना (5) वर्गणा एवम् (6) महाबन्ध। इन छह खण्डों के प्रथम खण्ड में सत्संख्यादि अष्टविध अनुयोग द्वारों, 14 गुणस्थानों और मार्गणाओं का आश्रय पूर्ण विवेचन किया गया है। द्वितीय खुद्दाबन्ध में प्ररूपणाओं में कर्मबन्ध करने वाले जीवन का वर्णन किया गया है। तृतीय बन्ध स्वामित्त्वविचय में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है और किसके नही। किन गुणस्थानों में कितनी प्रकृतियों का बन्ध, सत्त्व, उदय और व्युच्छित्तियाँ होती हैं आदि का सूक्ष्म एवम् विशद विवेचन है। चतुर्थ वेदनाखण्ड में कृति और वेदना अधिकार वर्णित है। पञ्चम वर्गणाखण्ड में 23 प्रकार की बन्धनीय वर्गणाओं का तथा स्पर्श, कर्म प्रकृति आदि का वर्णन मिलता है। षष्ठ महास्कंघ में प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग व प्रदेशबन्ध का सविस्तर वर्णन मिलता है

षट्खण्डागम ग्रन्थ पर आ. कुन्दकुन्द एवम् समन्त-भद्राचार्यादि अनेक आचार्यो ने टीका लिखी, परन्तु वे आज उपलब्ध नहीं। सम्भवत: सबसे विशालटीका 72 हजार श्लोक प्रमाण टीका ईसा की आठवीं/नवमी शताब्दी के महान् आचार्य वीरसेन स्वामी ने संस्कृत एवम् प्राकृत में लिखी। ग्रन्थ के प्रारम्भिक पांच भाग पर लिखित टीका धवला एवम् षष्ठ महाबन्ध खण्ड की टीका महाधवला के नाम से ज्ञात है।

धवला एवम् महाधवला टीका समन्वित उक्त आगम ग्रन्थ मूडबिद्री के ग्रन्थागार में कन्नड लिपि में सुरक्षित थीं, जो मात्र शोभा एवम् दर्शन की वस्तु थीं, जिनके बाहर आने एवम् लिप्यन्तर कराने की कहानी लम्बी है, उसके पकाशन हेतु ग्रन्थ के सम्पादन, एवम् अनुवाद कार्यो में प्रो. डॉ. हीरालाल जैन,

पं. श्री फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी आदि के साथ पण्डित श्री हीरालाल जी शास्त्री ने साहाय्य कर जिनवाणी की अविस्मरणीय सेवा की है। सम्पूर्ण धवला टीका 16 भागों में प्रकाशित हुयी, जिनमें से आपने प्रारम्भ के 5 भागों को सम्पादन और अनुवाद किया है, जैसा कि आपने स्वयं लिखा है परन्तु प्रारंभिक दो भागों में ही आपका नामोल्लेख है।

कन्नडी लिपि मूल से रूपान्तर करने में अनेकत्र भ्रमवश अनेक अशुद्धियाँ थी। उनके शुद्ध पाठ निर्धारण में विद्वान् संपादक पं. हीरालाल जी ने गहन अध्यवसाय किया है। उसमें जो प्रक्रिया एवम् नियम अपनाये गये प्रस्तावना में वर्णित हैं, जिससे संपादक की सूक्ष्मेक्षिका का ज्ञान मिलता है।

ग्रन्थ का इतिहास, आधारभूत पाण्डुलिपि में रचनाकार का काल निर्धारण सहित संपूर्ण परिचय टीकाओं एवंम् टीकाकारों की साङ्गोपाङ्ग. ऐतिहासिक खोजपूर्ण विवेचना, ग्रन्थ की भाषा आदि का विमर्श भी प्रस्तावना में विस्तार से उपलब्ध है। ग्रन्थान्त में 6 परिशिष्ट ततोऽधिक शोध सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

प्रमेयरत्नमाला- यह ग्रन्थ जैनन्याय विद्या में प्रवेश कराने के लिये विरचित आद्य सूत्र ग्रन्थ माणिक्यनन्दी रचित परीक्षामुख के सूत्रों पर लघु अनन्तवीर्य द्वारा रचित लघुवृत्ति है। जिस प्रकार ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र है, उसी प्रकार जैन न्याय में प्रवेश हेतु माणिक्यनन्दी ने विक्रम की दशम शताब्दी में परीक्षामुख ग्रन्थ रचकर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की।

परीक्षामुख पर आचार्य प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमल मार्तण्ड, भट्टारक चारुकीर्ति ने प्रमेय रत्नालंकार एवम् प्रस्तुत प्रमेयरत्नमाला आदि टीकाएँ लिखी गयी हैं।

ग्रन्थ में छह समुद्देशों में मूख्यतः प्रमाण एवं प्रमाणभास का वर्णन है। प्रथम समुद्देश में प्रमाण का स्वरूप, विशेषणों की सार्थकता, प्रमाण के स्व-पर व्यवसायात्मकता की सिद्धि, प्रमाण का प्रामाण्य कथञ्चित् स्वतः कथाञ्चद् परतः सिद्ध किया गया है।

द्वितीय समुद्देश में प्रमाण के भेदों का वर्णन कर अर्थ एवम् आलोक के ज्ञान की कारणत्‍ का निरास सयुक्ति रीति से प्रतिपादित है। तृतीय समुद्देश में

परोक्ष प्रमाण का स्वरूप परोक्ष के भेद, हेतु का स्वरूप पक्ष का प्रतिपादन अनुमान के पञ्चावयव वाक्यों, उपनय और निगमन को अनुमानाङ्ग. मानने में दोषोद्भावन आदि का वर्णन है। चतुर्थ समुद्देश में सामान्य-विशेषात्मक उभय-रूप विषय की सिद्धि की गयी है। पञ्चम समुद्देश में प्रमाण के फल पर चर्चा की गयी है। षष्ठ समुद्देश में प्रमाणाभास का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

पं. श्री हीरालाल जी शास्त्री ने प्रस्तुत प्रमेयरत्नमाला ग्रन्थ की हिन्दी व्याकरण अज्ञान-कर्तृक टिप्पण एवम् पण्डित श्री जयचन्द्र जी की हिन्दी वचनिका के आधार पर की है।

ग्रन्थ की प्रस्तावना जैन एवम् बौद्ध दर्शन के ख्यातिलब्ध विद्वान प्रो. उदयचन्द्र जी जैन ने लिखी है। जिसमें आपने अष्टसहस्री के टिप्पण एवम् प्रकृत ग्रन्थ के टिप्पण की तुलना कर टिप्पणकार का नाम लघुसमन्तभद्र सिद्ध किया है।

हिन्दी व्याख्याकार पण्डित हीरालाल जी ने प्रकृत ग्रन्थ के सरल अनुवाद के साथ ग्रन्थ की नाना ग्रन्थियों को विशेषार्थ में उद्घाटित किया है। न्यायग्रन्थों में पारिभाषिक शब्दों के प्रचुरता के साथ शब्दलाघव की प्रवृत्ति देखी जाती है, जिसके कारण अर्थ खुलासा करना टेढ़ी खीर हो जाता है, परन्तु लघुसमन्तभद्र के टिप्पण एवम् पं. श्री छावड़ा जी वचनिका के आधार पर ग्रन्थ के हार्द को हस्तामलकवत् विशद किया है। ग्रन्थ में सम्पूर्ण टिप्पण फुटनोट मे संयोजित ग्रन्थ के महत्त्व को द्विगुणित किया है। ग्रन्थान्त में टीकाकार की प्रशस्ति, सूत्रपाठ, ग्रन्थ के सूत्रों की प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनयतत्त्वालोक, से तुलना की तालिका, पारिभाषिक शब्द सूची, ग्रन्थोद्धृत गद्यावतरण एवं पद्यावतरणसूची (सन्दर्भ), प्र.र.मा.कार रचित श्लोक, टिप्पणस्थ श्लोक सूची, ग्रन्थागत दार्शनिक, ग्रन्थ, एवम् जैनाचार्यो की सूची सहित नगर देश नाम सूची 16 परिशिष्ट देकर ग्रन्थ की उपयोगिता को बढ़ाते हुए सम्पादन पद्धति के प्रतिमानों की पालना की गयी है।

निष्कर्षत: प्रस्तुत अनुवाद एवम् व्याख्या पण्डित जी के अध्यवसाय एवम्

न्याय विद्या पर उनके गहन अध्ययन की परिचायिका है एवम् विद्यार्थियों के साथ एतद्विषयक विद्वानों के लिये भी उपयोगी है।

श्रावकाचार संग्रह (पांच भाग)

पं. श्री हीरालालजी ने श्रावकाचार विषय के विविध आचार्यो के मन्तव्यों के एकत्र संयोजन हेतु तथा श्रावकाचारों के क्रमिक विकास के अध्ययनार्थ शोधार्थियों के सौविध्य हेतु अनेक सरस्वती भण्डारों से खोज-खोज कर एतद्विषयक सामग्री का संकलन कर तथा पुराणों में आगत श्रावकाचार विषयक सामग्री का संयोजनकर एवम् विद्वत्तापूर्ण सम्पादन एवम् अनुवाद के साथ 33 श्रावकाचारों को 5 जिल्दों में प्रकाशन का कार्य किया है।

इसके पूर्व आपके द्वारा वसुनन्दिश्रावकाचार एवम् जैन धर्मामृत का सुन्दर सम्पादन एवम् अनुवाद भा. ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित कराया गया था।

वीरोदय महाकाव्य- बींसवीं शताब्दी के मूर्धन्य महाकवि बृहत्चतुष्ठयी की रचना जयोदय महाकाव्य के रचयिता ब्र. भूरामल शास्त्री द्वारा रससिद्ध लेखनी से प्रस्तुत वीरोदय महाकाव्य का सुन्दर सम्पादन भी आपकी प्रतिभाद्वारा किया गया है, यद्यपि उक्त ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्राचीन हिन्दी में महाकवि ने स्वयं किया था, पं. जी ने रूपान्तरण के साथ सम्पादन किया एवम् महाकाव्य के नायक भ. महावीर चरित विषयक दिगम्बर एवम् श्वेताम्बर साहित्य का आलोडन कर उसका नवनीत प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है।

विशिष्ट बात यह कि प्रस्तावना में ग्रन्थ प्रकाशन काल तक अप्रकाशित महावीर चरित्र विषयक सामग्री का सार भी प्रस्तुत किया जिसमें-असगकवि का वर्धमान चरित, भट्टारक कीर्ति विरचित वीरवर्धमान काव्य, रइधु विरचित - महावीर चरित सिरिहर विरचित-वड्ढमाणचरिउ, कुमुदचन्द्र विरचित-महावीररास, आदि का अध्ययन सार प्रस्तुत किया है। सारांशतः सम्पादक महोदय ने वीरोदय महाकाव्य के वैशिष्ट्य के प्रतिपादन के साथ अपनी विशाल प्रस्तावना में यत्र तत्र उपलब्ध दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आचार्य प्रणीत संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश एवम् हिन्दी भाषा निबद्ध महावीर चरितों को तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर जिज्ञासुजगत पर महदुपकार किया है।

महावीरकाल की सामाजिक दशा एवम् जातिवादी व्यवस्था की मीमांसा करते हुए प्रस्तावना में वैदिक एवम् बौद्ध साहित्य का भरपूर उपयोग करते हुए उनके मत सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं।

इन सभी ग्रन्थों का सम्पादन पण्डित जी द्वारा अधुनातन साहित्य मीमांसक विद्वानों द्वारा स्वीकृत मानदण्डों के अनुरूप ही किया गया। तदनुसार ग्रन्थों के शुद्ध एवम् प्रामाणिक पाठों हेतु न्यूनतम तीन पाण्डुलिपियों का उपयोग किया जिसमें सर्वाधिक शुद्ध प्रति मूल रूप में देकर पादटिप्पण में अन्य प्रतियों के पाठभेद का संकेत किया गया। पादटिप्पणियों में सम्बन्धित विषय में अन्य आचार्यो के मतों का उल्लेख ससन्दर्भ किया गया।

पण्डित जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता ग्रन्थारम्भ में उनके बहुविद्या-वेतृत्व की निदर्शक विद्वत्ता पूर्ण **प्रस्तावनाएँ** हैं, जिनमें ग्रन्थकार का काल निर्धारण, आचार्य परम्परा - गुर्वावलि पूर्ववर्ती आचार्यो का रचना प्रभाव व रचना का परवर्ती आचार्यो पर प्रभाव ग्रन्थ विषयक अन्य साहित्य का वर्णन ग्रन्थ का प्रतिपाद्य एवम् उस पर तुलनात्मक अध्ययन व ऊहापोह ग्रन्थ की भाषा शैली प्रयुक्त पाण्डुलिपियों की प्रति का परिचय, उनके गहन अध्यवसाय एवम् विषय-पारंगतता के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की विशेषताओं में दूसरी प्रमुख विशेषता है, ग्रन्थान्त में विविध **परिशिष्टों** की संयोजना। परिशिष्टों में यदि सूत्र ग्रन्थ है तो सकल सूत्रों सूची, पद्यमय ग्रन्थों में ग्रन्थ के पद्यों की अकारादिक्रम से पद्यानुक्रमणिका, ग्रन्थागत अवतरणों/उद्धरणों की सूची एवम् उनके सन्दर्भ, ग्रन्थोल्लिखित ऐतिहासिक राजा, आचार्य, श्रावक, आदि की सूची भौगोलिक सूची ग्रन्थनामोल्लेखों की सूची वंशो की सूची, जोडी गयी हैं, जो अध्येता विद्वानों के लिये काफी उपयोगी साबित होती हैं।

-सेठ जी की नसियां
ब्यावर

भगवान् ऋषभदेव एवं श्रमण परंपरा : महत्वपूर्ण गणितीय एवं ऐतिहासिक पक्ष

– डॉ. अभय प्रकाश जैन

श्रमण परम्परा की प्राचीनता अब पूर्णत: सर्वमान्य हो चुकी है। इसमें सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के अनेक प्रकरण भारत के प्राचीनतम ग्रंथों में तथा पुरातत्व सामग्री में अनेक शोध-पत्रों के विषय बन चुके हैं। अभिनावावधि में प्रकाशित जैन द्रव्यानुयोग एवं करणानुयोग ग्रंथों में प्राप्य सामग्री उक्त काल एवं युगों की उच्चतम सभ्यता, ज्ञान, विज्ञान की अनुपम झलक देती है। प्रस्तुत पत्र में शोध शैली में एतद्संबंधी नवीनतम गणितीय एवं ऐतिहासिक पुरातत्व संबंधी प्रकाश डाला गया है।

श्रमण संस्कृति के आदीश-जिन प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की ऐतिहासिकता पुरातात्त्विक प्रमाणों एवं ऋग्वेदादि प्राचीनतम वैदिक ग्रंथों में सादर उल्लेख के प्रकाश में सिद्ध व स्थापित हो चुकी है।

सिंधु-हड़प्पा सभ्यता में गणित के प्रयोग

मोहनजोदड़ों में (पुरातत्त्व संबंधी खुदाई के फलस्वरूप) अनुसंधान हुए हैं। खुदाई का कार्य इस प्रकार प्रारंभ हुआ। स्व. राखालदास बेनर्जी पुरातत्व विभाग के उच्च पदाधिकारी थे। वे पाँच वर्षों तक लगातार सिकंदर के द्वारा भारत में बनवाए हुए बारह स्तंभों को ढूंढने में लगे हुए थे। 1922 के शीतकाल में रास्ता भूल जाने के कारण घोड़े पर सवार वह एक टीले पर जा पहुंचे। उन्हें वहां प्राचीन प्रकार का एक चाकू प्राप्त हुआ। अनुमान लगाया गया कि कोई पुरानी सभ्यता भूमि में नीचे दबी है। उन्होंने खुदाई प्रारंभ की। 1925 में सर जॉन मार्शल की देखरेख में और खुदाई हुई। 1931 तक ई. जे. मइके भी इस कार्य में लगे रहे। यह मोहनजोदड़ो की खुदाई थी। यहाँ पता चला कि ईसा के लगभग 3000 वर्ष पूर्व सिंध के निवासी हिन्दू लोग खास माप की ईटों के मकान बनाते थे। नगरों का गणितीय-यांत्रिक विधि से नियोजन करते थे। वे

सोना, चांदी, तांबा और जस्ता आदि धातुओं के माप-जोख वाले प्रयोग करते थे। उनका जीवन अत्यंत सुव्यवस्थित था। मोहनजोदड़ो में प्राप्त मुहरों और लेखों के अंकसूचक चिन्ह थे, और हालांकि अभी तक पूर्ण रूप से नहीं पढ़े जा सके है। परन्तु उनमें कहीं-कहीं एक खड़ी पाई या एक के ऊपर एक रखी कई खड़ी पाईयां मिली हैं। ज्ञात हुआ है कि एक से तेरह तक के अंक इन्हीं खड़ी पाईयों द्वारा सूचित किये गए हैं।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि 20,30, सैकड़े और अधिक की संख्याओं को लिखने के लिए भी उस समय संकेत थे अथवा नहीं। यद्यपि ऐसे अनेक चिन्ह मिलते हैं जिनके विषय में लोगों का विश्वास है कि वे बड़ी संख्याओं को बतलाते हैं। परन्तु अभी तक उन चिन्हों का सर्वसम्मत् मान पता नहीं चल सका है।

मोहनजोदड़ो में प्राप्त सामग्री तथा अशोक के अंक-गर्भित अंतलेखों के बीच प्राय: डेढ़ हजार या अधिक वर्षों का अंतराल है। इस अंतराल के काल में अभी तक कोई ऐसा लिखित प्रलेख (स्टेला) नहीं मिला जिसमें अंक चिन्हों का प्रयोग किया गया हो।

मोहनजोदड़ो के उत्तर में 400 मील पर दयाराम सहानी ने और उनके पश्चात् माधो म्वरूप वत्स ने खुदाई की जो कि हड़प्पा खुदाई के नाम से जानी गई। इन दोनों स्थानों की खुदाई में नाना प्रकार की वस्तुओं के साथ लगभग 3000 मुद्राऐं भी निकलीं। जो आज भी गूढ़ाक्षर-वेत्ताओं के लिए समस्या बनी हुई हैं। खुदाई की प्राप्त वस्तुओं से सिद्ध हुआ कि मोहनजोदड़ो एक द्वीप था जहां की सभ्यता का प्रभाव ईरान ओर ईराक की सभ्यताओं पर पड़ा था। सर जॉन मार्शल तथा मइके और वत्स ने इन सभी चित्रों को तथा संख्याओं को बहुत साफ सुथरे तौर पर छापा है। सिंधु घाटी की सभ्यता प्राय: 4000 वर्ष पुरानी है। जो कि उसका अंतिम काल था। इसमें यदि 5000 और जोड़ दिये जाऐं तो हम उस सभ्यता के जन्म के समीप पहुंच सकते हैं। यहां की लिपि में चिन्ह और चित्र दोनों पाए जाते हैं, जो कभी दायें से बायें, कभी बायें से दायें ओर कभी दोनों ओर से लिखे मिलते है। कुछ मुद्राओं में केवल लिपि है कुछ में केवल चित्र है और कुछ में चित्र और लिपि दोनों हैं। मार्शल ने

सील-**एम. आई. सी. पी. एल.** -12 **वीं, नं.**-17 में जो मनुष्य का आकार है उसको उन्होंने पशुओं से घिरे रहने के कारण पशुपतिनाथ माना है। मार्शल तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि यहां द्रविड़ सभ्यता थी ओर आर्य जाति विदेशों से लगभग 3500 वर्ष पूर्व भारत में आई। पशुपति वाली मुद्रा को विभिन्न विद्वानों ने अनेक प्रकार से पढ़ा है। सुधांशु कुमार रे ने सिंधु लिपि में 288 वर्णात्मक चिन्ह माने हैं और विभिन्न मुद्राओं के चिन्हों से लिपि बनाने का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है। अभी तक इस वर्णमाला का संबंध "**ब्राम्ह्यीलिपि**" से जोड़ने का प्रयास किया जाता रहा है किन्तु अभी तक कोई भी सर्वसम्मत हल पर नहीं पहुंच सका।

वस्तुत: ब्राम्ही और सुंदरी लिपियों के आविष्कार पर प्रो. एल. सी. जैन, जबलपुर के पांच लेखों (**अर्हत वचन** [1] में प्रकाशित) में जो परिपुष्ट साक्ष्य एवं प्रमाण उपलब्ध हैं, वे दो हैं :-

पुरातात्त्विक दृष्टि से अशोक के अभिलेख भारत की ऐतिहासिक युग के प्राचीनतम अभिलेख हैं। विशेष बात यह ध्यान देने की है कि सैंधव सभ्यता के पतन (18 वीं शती ई. पू.) और अशोक (3 री शती ई. पू.) के मध्य व्यतीत होने वाले लगभग 1500 वर्षों का एक भी अभिलेख उपलब्ध नहीं है। स्वतंत्र भारत में वैदिक काल में अनेक स्थलों का काफी विशाल पैमाने पर उत्खनन भी किया जा चुका है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस बीच भारत के लोग लेखन कला से अपरिचित थे।

दूसरा, इस तर्क के समर्थन में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज, जो 300 ई. पू. चंद्रगुप्त मौर्य की सभा में था, को "**भूगोल**" नामक गंथ में **स्ट्रेबो** ने इस प्रकार उद्धृत किया है, "मेगस्थनीज कहता है, कि जब वह सेंड्रोकोटोस (चंद्रगुप्त मौर्य) के दरबार में था, यद्यपि शिविर की जनसंख्या 40 हजार थी, उसने किसी दिन भी 200 **देख्म** से अधिक मूल्य की वस्तुओं की चोरी की रिपोर्ट नहीं सुनी, और वह भी ऐसे लोगों के बीच में, जो 'अलिखित कानूनों' का ही प्रयोग करते हैं क्योंकि" वह आगे कहता है, "उनको लेखन कला ज्ञान नहीं है। और वह सभी बातों को स्मृति की सहायता से नियमित करते हैं"।[2] मेगस्थनीज का यह कथन अशोक के पूर्व 15 सदियों तक अभिलेखों को पूर्व

अनुपलब्धि के साथ पूर्णतः संगत है। वह प्रमाणित करता है कि भारत (पश्चिमोत्तर प्रदेशों को छोड़कर) में लेखन कला का अस्तित्व चंद्रगुप्त मौर्य के युग तक नहीं था। इस प्रकार के चौदह तर्क श्री राम गोयल ने प्रस्तुत किये हैं।[3]

प्रो. एल. सी. जैन द्वारा निर्देशित लेखो[1] में (अर्हत् वचन में प्रकाशित) इस संभावना की अभिव्यक्ति भी है कि जो "कर्म सिद्धान्त" दिगम्बर जैनाचार्यो के पास शेष रहा था, उसे सुरक्षित रखने हेतु भद्रबाहु और उनके शिष्य चंद्रगुप्त मौर्य (मुनि प्रभाचंद्र) ने बारह वर्ष की समाधि काल के दौरान ब्राम्ही और सुंदरी क्रमशः भाषा के व्याकरण और गणित की लिपियों (अंक) का आविष्कार कर लेख रूप में रचित की होंगी, जिनके दो रूप गुणभद्राचार्य कृत कषाय प्राभृत और पुष्पदंत भूतबलि आचार्य कृत षट्खंडागम के रूप में अनेकानेक टीकाओं सहित तथा नेमिचंद्र चक्रवर्ती कृत 13 वीं सदी के लब्धि-सार और गोम्मटसार तथा उनकी टीकाओं सहित 13 वीं सदी तक कर्नाटक वृत्ति के रूप में गणतीय संदृष्टियों सहित हमारे सामने उपलब्ध हैं। उक्त साहित्य इस तथ्य का सक्षम व पुष्ट प्रमाण है कि इन दोनों लिपियों का आविष्कार अशोक के पूर्व चंद्रगुप्त मौर्य की दीक्षा होने के पश्चात् दक्षिण में श्रवण बेलगोल पर प्रारंभ हुआ होगा जहां से शेष मुनिसंघ को और आगे दक्षिण भारत में बढ़ने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने निर्देश दिया था।

पुरातात्त्विक प्रमाण – सैन्धव हड़प्पा सभ्यता में मिली मुहरें, छापे, शिलालेखों के अंश आदि कुछ ऐसी वस्तुऐं हैं जिनका सीधा संबंध भगवान ऋषभदेव व श्रमण परंपरा से है।

1928 ई. में खुदाई से प्राप्त एक मुहर (सी क्रं. 620, जो कि केन्द्रीय पुरातात्त्विक संग्रहालय में सुरक्षित है) में "जैन विषय एवं पुरातथ्य को एक रूपक के माध्यम से इस खूबी के साथ अंकित/समायोजित किया गया है कि वे जैन पुराततव, इतिहास व परंपरा की एक प्रतिनिधि निधि बन गए हैं"।[4]

इस सील में दायीं ओर नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में भगवान ऋषभदेव हैं, जिनके शिरोभाग पर एक त्रिशूल है जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, समयग्ज्ञान ओर सम्यक् चारित्र) का प्रतीक है। ऊपर की तरफ कल्पवृक्ष पुष्पावली तथा

मृदुलता अंकित हैं। निकट ही नतशीश हैं उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत, जो उष्णीय धारण किए हुए राजसी ठाठ में हैं। वे भगवान के चरणों में अंजलिबद्ध भक्तिपूर्वक नतमस्तक हैं। उनके पीछे वृषभ (बैल) हैं, जो ऋषभदेव का लांछन (चिन्ह) है। अधोभाग में सात प्रधान अमात्य हैं, जो तत्कालीन राजसी गणवेश में पदानुक्रम से पंक्तिबद्ध हैं।

पउमचरियं [2] छक्खंडा-मंगलायरण [6], आदिपुराण[7] आदि की कारिकाओं/गाथाओं में जो वर्णन मिलते है, उनमें तथा उक्त सील में बिम्ब-प्रतिबिंब भाव देखा जा सकता है। इन व्याख्याओं के निरीक्षण से इस तरह की सील या मुद्रा के प्रचलन की व्यापकता का मत मजबूत होता है, क्योंकि मोहनजोदड़ो की सील में अंकित आकृतियों तथा जैन साहित्य में उपलब्ध वर्णनों का यह सामय आकस्मिक नहीं हो सकता अवश्य ही यह एक अविछिन्न परंपरा की ठोस परिणति है।

मुहर की कल्पवृक्ष तथा मृदुलता की आकृतियों का विवरण इस प्रकार है- दो ऊर्ध्वगं कल्पवृक्ष-शाखाऐं हैं पुष्प-फल-युक्त, महायोगी ऋषभदेव उससे परिवेष्टित हैं, यह भक्ति-प्राप्य फल का द्योतक है [8] चक्रवर्ती भरत भगवान के चरणों में अंजलिबद्ध प्रणाम मुद्रा में नतशीश हैं। [2] कोमलदिव्यध्वनि के प्रतीक रूप एक लता-पर्ण मुखमंडल के पास सुशोभित है। [2] अधोभाग में हैं, अपने राजकीय गणवेश में सात मंत्री, जिनके पदनाम हैं [4] :-मांडलिक राजा, ग्रामाधिपति, जनपद-अधिकारी, दुर्गाधिकारी (गृहमंत्री), भंडारी (कृषि वित्त मंत्री), षडंग बलाधिकारी (रक्षामंत्री), मित्र (परराष्ट्र मंत्री)।

सिंधुघाटी से प्राप्त कुछ सीलों में स्वस्तिक (साथिया) भी उपलब्ध है, निष्कर्षत: तत्कालीन लोकजीवन में स्वस्तिक एक मांगलिक प्रतीक था। साथिया जैनों में व्यापक रूप में पूज्य और प्रचलित है। [2] स्वस्तिक जैन जीव-सिद्धान्त का भी प्रतीक है। इसे चतुर्गति का सूचक माना गया है। जीव की चार गतियां वर्णित हैं: नरक, निर्यच, मनुष्य और देव। 'स्वस्तिक' का एक अर्थ कल्याण भी है।

पौराणिक परंपरा में ऋषि और मुनि - वैदिक परंपरा का आदर्श पुरुष ऋषि, तथा जैनधर्म के नियम, आचार व सिद्धान्त का आदर्श रीति से पालन

करने वाला पुरुष, मुनि कहलाता है। ऋषि शब्द जहाँ प्रवृत्ति-परायणता का वाचक है, मुनि वहीं निवृत्ति-परायणता का। पुराणों के प्रमाण से ब्रम्हाजी ने प्रलय के बाद प्रजा की उत्पत्ति और वेदों की रक्षा हेतु एक मनु और सात ऋषियों को उत्पन्न किया।[10] इन सप्तर्षियों के पूर्ववर्ती दिगंबर जैन मुनि सनन्दन आदि की उत्पत्ति ब्रम्हाजी के साथ ही भगवान् शिव के द्वारा हुई।[11] इस प्रकार वैदिक पुराण स्वयं ही मुनियों का अस्तित्व ऋषियों से पूर्व ही स्वीकारते हैं।

वैदिक साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में न केवल मुनियों का उल्लेख है, बल्कि उनको या उनकी एक विशेष शाखा को वातरशना मुनि कहकर उनकी वृत्तियों का विवरण भी दिया गया है।[12] मुनियों के साथ "वातरशना" विशेषण, ऋषि पृथक् वैराग्य, अनासक्ति, मौनादि वृत्तियों वाले मुनियों को विशेष अर्थ देता है। वात-रशना (वायु-मेखला) से अर्थ है जिनका वस्त्र वायु हो अर्थात् नग्न। "वातरशना" जैन परंपरा में नितांत परिचित शब्द है। जिनसहस्त्रनाम में इसका उल्लेख है-

"दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थज्ञोनिरम्बरः"-महापुराण २५/२०४

अतः स्पष्टतया, ऋग्वेद की रचना के समय दिगंबर मुनि परंपरा विद्यमान, प्रतिष्ठित एवं स्तुत्य थी। इसके बाद के अर्थात् **उत्तरकालीन वैदिक परंपरा में** वातरशनामुनि पूर्ववत् सम्मान पाते हुए ऊर्ध्वरेता (ब्रम्हचारी) और **श्रमण** नामों से भी अभिहित होने लगे थे।

"वातरशना हवा ऋषयः श्रमणाः ऊर्ध्वमथिनो वभूवः"।[13]

पद्मपुराण (6/212) के अनुसार "तप का नाम ही श्रम है, अतः जो राजा राज्य का परित्याग कर तपस्या से अपना संबंध जोड़ लेता है, वह **श्रमण** कहलाने लगता है"।

अथर्ववेद के पंद्रहवें व्रात्यकांड का तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण कर विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि "व्रात्य" जैनों को ही संबोधित किया गया है।[14]

पुरातात्त्विक, भाषा-वैज्ञानिक एवं प्राचीन साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन से व्रात्य, श्रमण या अर्हत संस्कृति से द्रविड़, असुर, राक्षस, म्लेच्छ, दास, नाग आदि प्रसिद्ध अनार्य जातियों के भली-भाँति जुड़े होने के प्रमाण मिले हैं।

वैष्णव परंपरा के महान् ग्रंथ श्री मद् भागवत् के पाँचवे स्कन्ध में महर्षि शुकदेव ने ऋषभदेव की देशकालातीत महिमा का गुणगान इन शब्दों में किया है:-

"भगवान परमर्षिभिः प्रसादितो नामेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरूदेव्यां धर्मान् दर्शायतुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावतार" 5/3/20

अर्थात् महर्षियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर श्री विष्णु महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अंत:पुर में मेरूदेवी (मरूदेवी) के गर्भ से ऊर्ध्वरेता, वातरशन नग्न श्रमण ऋषियों का धर्म संकट प्रकट करने के लिये शुक्ल अर्थात् शुद्ध निर्मल सत्वमय विग्रह से प्रकट हुए। पहले जैन तीर्थंकर का **ऋषभ** नामकरण, उनके राज्य का नामकरण **अजनाभ** होना फिर बदल कर **भारत** होना क्रमश: पाँचवें स्कन्ध से ही 4/2, 4/2 एवं 4/9 में स्पष्टतया वर्णित है।[15]

अंत में-

यदि पुराणों और ग्रंथों में लिखी गई पंक्तियों में उनके लेखकों/रचताओ की मूलभूत विचारधारा और विषय वस्तु को खोजा जाये तो सत्य ही सामने आता है। सत्य तो दिगम्बर ही होता है। लेखन में अतिशयोक्ति व काल्पनिक अवधारणा रूपी आवरण का उपयोग तथ्य को सत्य से दूर ले जाता है। पुन: - पुन: आवश्यकता है- श्रमण संस्कृति के प्राचीनतम उपलब्ध शिलालेखों व लिपियों की पूर्वाग्रहरहित समीक्षा की।

संदर्भ सूची :-

1. **प्रोफेसर एल. सी. जैन** (1) हीनाक्षरी और घनाक्षरी का रहस्य, अर्हत-वचन, वर्ष-1(2), 11-16, 1998. (2) ब्राम्ही लिपि का अविष्कार एवं आचार्य भद्रबाहु मुनिसंघ (अर्हत वचन 2(2), 17-26) एवं 2(3) 1-12, 1290. 93) क्या सम्राट चन्द्र-गुप्त दक्षिण भारत में मुनि रूप में

ब्राम्ही लिपि के आविष्कार में सहयोगी हुए? 4(1) 13-20 जनवरी 92. तथा 5(3), 155-171, जुलाई 93.

2. **मजूमदार**, क्लासिल एकाउन्ट ऑफ इंडिया, 210
3. **श्री राम गोयल**, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड-1, पृष्ठ 18-27, जयपुर 82
4. **आचार्य विद्यानन्द**, मोहन जोदड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण, ऋषभ सौरभ 92, पृष्ठ 1-8
5. **विमल सूरि**, पउमचरियं, 4/68-69
6. **वीरसेनाचार्य**, छक्खंडा - मंगलायारण, 1/1/25
7. **जिनसेनाचार्य**, आदि पुराण 24/73-74
8. **वही**-15/36 एवं पार्श्वदेव समयसार 7/96
9. **अर्हददास**, पुरूदेवचम्पू प्रबंध 1/1
10. **विष्णु पुराण** 1/22/35
11. **शैव ग्रन्थ**, लिंगपुराण
12. **ऋग्वेद** 10/136/2
13. **तैतिरीय** आरण्यक 1/26/7
14. **डॉ. फूलचन्द प्रेमी**, व्रात्य और श्रमण संस्कृति, ऋषभ सौरभ 92 पृष्ठ 70-81
15. **उपाध्याय अमर मुनि**, भगवान ऋषभ देव : महर्षि शुक्रदेव की दृष्टि में ऋ. सौ. 92 पृष्ठ 9-13

-एन, 14 चेतकपुरी, ग्वालियर

अहिंसा की व्यावहारिकता

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा का महत्त्व है। चाहे वह वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक हो, सभी में अहिंसा की विशेषता रहती है और बार बार इसके प्रयोग के अवसर उपस्थित होते हैं। यथा गंगा नदी की प्रत्येक लहर में जल व्याप्त है, उसी प्रकार मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा व्याप्त होती है। इसके बिना मानव का एक दिन भी कार्य नहीं चल सकता है और न चला है। जहाँ भी कोई पारिवारिक समस्या उपस्थित हुई, सामाजिक आपत्तियाँ आना शुरु हुई, धार्मिक विवाद खड़े हुए, आर्थिक उलझन आ पड़ी राजनैतिक संघर्ष की आहट हुई- सभी के समाधान के लिए मनुष्य को अहिंसा की ही शरण लेनी पड़ती है। क्योंकि अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ है, वही जीवन का सर्वस्व है। इसीलिए अहिंसा का गुणगान करते हुए कहा है-

मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी, अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः।
अहिंसा दुःखदावाग्नि प्रावष्येण्य घनावली, भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधीः॥

-योगशास्त्र प्रकाश 2 श्लोक 50-59

-अहिंसा माता के समान सभी प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा संसाररूपी मरुस्थली में समस्त प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा संसाररूपी मरुस्थली में अमृत की नदी है। अहिंसा दुःखरूपी दावानल को विनष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघों की घनघोर घटा है। अहिंसा भवभ्रमणरूपी रोग से पीड़ित जनों के लिए उत्तम औषध है। ''अत्ता चेव अहिंसा'' अर्थात् आत्मा ही अहिंसा है।

आचार्य श्री समन्तभद्र ने कहा है कि ''अहिंसा सम्पूर्ण जगत् में सद्भावना, सहृदयता, सहानुभूति, जनसेवा और दया का संदेश देकर प्राणिमात्र के लिए प्रकट रूप में परमब्रह्म है।''[1] वैदिक परम्परा में इसे परमधर्म कहा है।[2] यह धर्म का प्राण है इसके बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता है।

सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, एवं अपरिग्रह आदि सभी व्रतों का समावेश अहिंसा में हो जाता है। श्रमणसंस्कृति का मूल स्वरूप अहिंसा है। इसके बिना न नैतिकता जीवित रह सकती है और न ही आध्यात्मिकता। अहिंसा की व्यावहारिकता सिद्ध है। क्योंकि चाहे गृहस्थ हो या साधु सर्वप्रथम अहिंसा की प्रतिज्ञा लेता है। इसकी प्रतिज्ञापूर्वक ही जीवन विकासपथ पर बढ़ पाता है। सामाजिक जीवन का प्रथम कर्तव्य अहिंसा है। मानव सभ्यता का आदर्श है। आत्मसिद्धि के लिये अनुकूल क्रिया-कर्म, जप-तप, अनुष्ठान, त्याग व्रतादि सभी अहिंसा हैं।

अहिंसा सभी सुखों का स्रोत रही है, इसकी आराधना से मानव ने लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की सुख शान्ति प्राप्त की है। आज भी अहिंसा में वही शक्ति है। मानव के जीवन में क्लेशों और कष्टों का अन्त करने में अहिंसा आज भी उतनी ही सक्षम है, जितनी पूर्वकाल मे थी। यह तभी संभव है, जब अहिंसा का पूर्ण आदर किया जाय, उसे जीवन में उतारा जाय। मानव को मांस, मदिरा, मधु का सर्वथा त्याग करना ही होगा। हिंसा जन्य व्यापार का त्याग करना ही चाहिए। ऐसे किसी भी कार्य को जानबूझकर नहीं करना चाहिए, जिसमें किसी प्राणी का प्राण हरण किया जाय।

अहिंसा को तत्त्वचिन्तकों ने चेतना विकास के लिए अपरिहार्य माना है उन्होंने इसे धर्म का स्वरूप व्याख्यायित किया है

अहिंसा लक्षणो धर्मः अधर्मः प्राणिनां वधः।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोके कर्तव्या प्राणिनां दया॥

अहिंसा धर्म का लक्षण, स्वरूप, आधार या मूलकेन्द्र जो कुछ भी कहें, वह सब है। अहिंसा जीवन का प्रकाश है। अहिंसक को भय नहीं होता उसका धैर्य अभेद्य किले के समान रक्षा करता है। सत्य प्रतिपादन में वह निर्भय रहता है, कोई प्रतिवादी उसे परास्त नहीं कर सकता संसार प्रपञ्चों में नहीं फंसता है, सर्वप्रिय हो जाता है। संसार का मित्र बन जाता है सम्यक्त्व के अंग वात्सल्य उपगूहन, स्थितिकरण और श्रावक के व्रत उसके जीवन के अंग हो जाते हैं। अहिंसक वृत्ति वाले की धर्म और धर्मात्माओं के प्रति प्रीति-वात्सल्य विनय जाग्रत रहता है। सतत सावधान रहता है।

जिसके चित्त में हिंसा के विचार नहीं है, उसे शेर या सांप आदि कोई भी हानि नहीं पहुँचाता है जिसके हिंसक भाव होते है, उन्हीं के ऊपर सिंहादि क्रूर प्राणी भी हमला करते है।

अहिंसक वृत्ति वाले व्यक्तियों के समक्ष हिंसक से हिंसक प्राणियों में परिवर्तन देखा जाता है भगवान् महावीर जब मुनि अवस्था में ऋजुकुला नदी के तट पर साधना में लीन थे तभी एक सिंह चमरी गाय का पीछा करता हुआ उधर पहुँचा। गाय प्राण रक्षा हेतु दौड़ रही थी कि उसके पूंछ के बाल झाड़ी मे उलझ गये। बालों के उलझने से वह खड़ी हो गयी क्योंकि चमरी गाय को अपने बाल प्राणों से भी अधिक प्रिय होते हैं सिंह ज्यों गाय के पास पहुँचता है तो उसकी दृष्टि साधना में लीन महावीर पर पड़ती है, उन्हें देखते ही उस हिंसक वृत्ति वाले सिंह की वृत्ति बदल गयी और अपने पंजे से चमरी गाय के पूंछ के बालों को सुलझा देता है। यह है अहिंसक की भावनाओं को प्रभाव।

इसी प्रकार को प्रसंग जयपुर के दीवान अमरचन्द का है, वह व्रती थे उन्होंने मांस खिलाने का त्याग किया हुआ था। जब चिड़ियाधर के शेर को मांस खिलाने के कागजात उनके पास आये तो उन कागजो पर आज्ञा नहीं दी। कर्मचारियों ने जब कहा कि शेर का आहार ही मांस है, वह अन्य कुछ नहीं खाता, तब दीवान जी ने कहा मैं खिलाऊंगा और अगले दिन वह दूध जलेबी लेकर नि:संकोच शेर के पिंजडें में घुस गये। शेर के सामने दूध जलेबी रखकर बोले कि यदि भूखे हो तो दूध जलेबी खा लो। हाँ, यदि मांस ही खाना है, तो मैं खड़ा हूँ सामने, मुझे खा लो।

उक्त प्रसंगों से स्पष्ट है कि अहिंसक भाव या विचारवालों का दूसरों पर कितना प्रभाव पड़ता है।

अहिंसा का सिद्धान्त सर्वोदयी है। सर्वोदय तीर्थ में अहिंसा का सर्वोच्च स्थान है इसमें मानसिक, वाचिक, कायिक अहिंसाओं का महत्त्व प्रतिपादित है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्ररूप अभ्युदय के कारणों की उत्पत्ति वृद्धि में कारण होता है, वह सर्वोदय तीर्थ है।

संसार में जितने भी धर्म, पंथ, सम्प्रदाय या मत है, वे सच्चे अर्थ में धर्म हैं या नहीं, उनमें धर्म का अस्तित्व है भी या नही? उनमें धर्म का आधार है

या नहीं? जितनी भी परम्पराएं या मान्यताएं हैं या धर्म संस्थाएं हैं वे भी धर्म से अनुप्राणित हैं या नहीं? इन सबकी पहचान या कसौटी अहिंसा है।

अहिंसा के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं, जो खण्ड-खण्ड होती हुई मानव जाति को एकरूपता दे सके या एक सूत्र में ग्रथित कर सके। विश्व के प्रत्येक प्राणी को सुरक्षा का आश्वासन, सृजनात्मक स्वातन्त्र्य का विश्वास आत्मौपम्य दृष्टिमूलक अहिंसा ही दिला सकती है। मानवों के साथ कल्पित इन औपचारिक भेदों को मिटाकर सद्भावना स्थापित करना अहिंसा का ही कार्य है। शिवार्य का भगवती आराधना में कहना है- "जिस प्रकार अणु से छोटी कोई वस्तु नहीं है। और आकाश से बड़ी कोई वस्तु नहीं। ठीक उसी तरह विश्व में अहिंसा से बढ़कर अन्य कोई व्रत या नियम नहीं है।"(गाथा. 784)

शान्ति का हनन हिंसा तथा उसकी रक्षा करना अहिंसा है। अहिंसा कायरों का नहीं वीरों का धर्म है। अहिंसक का हृदय उदार तो होता है पर निर्भय भी होता है। अहिंसक जीते जी शत्रु से हार नहीं मानता। अहिंसक हृदय प्रायः अवसरों पर मौन रहता है। किन्तु जब विरोधी के विरोध का अवसर आता है तो पाषाण से भी कठोर हो जाता है। दूसरों के तनिक से कष्ट पर उसका मन रो उठता है और उनकी रक्षा के अवसरों पर सिंहवृत्ति धारण कर लेता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो अहिंसा की अनिवार्यता ही है इसके बिना आध्यात्मिक गति ही नहीं हैं। व्यावहारिक जीवन के जितने भी पक्ष हैं उन सबमें अहिंसा की मुख्यता है। माता की ममता, पिता का दुलार, भगिनी का स्नेह, पुत्र की भक्ति, राजा की सुव्यवस्था, आयात-निर्यात के साधन, आवागमन के संकेत, राजमार्गों पर प्रकाश, चौराहों पर दिशा निर्देशक, तेल, मोटर गाड़ी, स्कूटर, साईकिल आदि की लाल बत्तियां आदि सभी अहिंसा के ही भाग है।

अहिंसा में अलौकिक वीरत्व भी है पर उसकी प्रधानता साधु के जीवन में है जिसके शत्रु बाहर के पशु व मनुष्यादि नहीं हैं बल्कि अतरंग के मानसिक विकार हैं जिनके साथ वह निरन्तर युद्ध करता रहता है।

आज मानव जाति प्रकृति से हटकर विकृति की और बढ़ रही है। इसी का परिणाम है परस्पर का द्वेष बढ़ रहा है। प्रत्येक मानव एक दूसरे को विनष्ट करने पर तुला हुआ है। विनाश मानव का स्वभाव नहीं विभाव है प्रकृति नहीं

विकृति है। स्वभाव तो सृजन है। रक्षण है। जीवों की प्रकृति जीवित रहने की है जैसा कि आचार्य कहते हैं-

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं ण मरिज्जिउं

अर्थात् सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चहता। सभी को अपनी जिन्दगी के प्रति प्यार है। आदर व आकांक्षा है। सभी अपनी सुख-सुविधाओ के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। अपने अस्तित्व के लिए सभी संघर्षशील हैं। जैसा मैं हूँ वैसे सभी प्राणी जीवन धारण करने वाले हैं शाश्वत सिद्धान्त को स्थापित करने वाली अहिंसा के सिवाय दूसरा कोई नहीं, यही इसकी सार्वभौमिकता/व्यावहारिकता है। आचार्य शिवार्य द्वारा भी कहा गया है-

जह ते न पियं दुःखं तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पोकमिओ जीवेसु होदि सदा।। 777 -मूलाराधना

जिस प्रकार स्वयं को दुःख अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार दूसरों को भी जानना चाहिए। सम्पूर्ण प्राणियों को अपने समान मानना योग्य है।

आचारांगसूत्र में भी यही भाव पाया जाता है- सभी प्राणियों को अपने प्राण प्रिय हैं वे सुख की इच्छा करते है और दुःख को प्रतिकूल मानते है। वे मरण नहीं चाहते। जीवित रहना चाहते हैं। सबको जीवन प्रिय है दशवैकालिक में भी यही कथन है कि-

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिजीउं।
तम्हा जाणवहं घोरं णिग्गंथा बज्जयंति णं।। दशवैकालिक अ0 6 गाथा।।

सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, मरण नहीं चाहते हैं प्राणिवध घोर निन्द्य कृत्य समझकर निर्ग्रन्थ मुनि उससे दूर रहते हैं।

रागादिभावों से ग्रस्त होना प्रमाद कहलाता है। इसीलिए हिंसा और प्रमाद रहित होने को अहिंसा कहा है। अहिंसा का यथार्थ स्वरूप राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, भीरुता, शोक, घृणा आदि विकृत भावों को त्याग करना है। प्राणियों के प्राण नाश करने मात्र को हिंसा समझना ठीक नहीं है। तात्त्विक बात तो यह है कि यदि राग, द्वेष, मोह, क्रोध, अहंकार लोभ, मात्सर्य आदि दुर्भाव विद्यमान हैं, तो अन्य प्राणी को घात न होते हुए भी हिंसा निश्चित है। यदि

रागादि का अभाव है तो प्राणिघात होते हुए भी अहिंसा है जैसा कि श्री अमृतचन्द्र स्वामी लिखते हैं-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिहिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥४४॥ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

रागादिक का अप्रादुर्भाव अहिंसा है, रागादिको की उत्पत्ति हिंसा है। यह जिनागम का सार है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने जिनके ग्रन्थों की सर्वप्रथम संस्कृत व्याख्या लिखकर यश प्राप्त किया, उन आचार्यवर्य महर्षि कुन्दकुन्द ने लिखा है-

मरदु जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥२१७॥ प्रवचन सार

जीव मरे या जीवित रहे, अयत्नाचारी के हिंसा निश्चित है। यत्नाचारी के हिंसामात्र से बन्ध नहीं है।

स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत्।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः॥ धवला पु. 4.5.6.93

प्रमाद हीन ही जीव रक्षा का प्रयत्न कर सकता है। जीवों का मरण हो या न हो। अयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह हिंसा करता है, जो यत्न पूर्वक आचरण करता है, वह अहिंसक होता है।

अयदाचारां समणो छस्सुवि कायेसु वधकरोति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो॥ प्रवचनसार 3/18

यत्नाचार रहित श्रमण छहों कार्यों के जीवों का वध करने वाला कहा गया है। यदि वह यत्नपूर्वक प्रवृत्त होता है तो जैसे कमल जल से लिप्त नहीं होता है, वैसे वह हिंसा से लिप्त नहीं होता।

हिंसा का दोष मुख्यरूप से असावधानी/प्रमाद योग से ही होता है इसीलिए हिंसा की परिभाषा देते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी लिखते हैं- ''प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'' इस सूत्र में आचार्य ने 'प्रमत्त योग' पद को विशेष रूप से प्रयुक्त किया है क्योंकि यदि राग-द्वेष का सद्भाव है, भले ही किसी जीव धारी के प्राणों का नाश न हो, किन्तु कषायवान् व्यक्ति अपनी

निर्मल मनोवृत्ति का तो घात करता ही रहता है। अतः स्वप्राणघातरूप प्राणव्यपरोपण भी पाया जाता है। स्वप्राणघात महा पाप ही है, हिंसा को दोष तो है ही। यह निश्चित है कि हिंसा और अहिंसा भावों की अपेक्षा अवश्य रखती है। जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने भी लिखा है "पर पदार्थ के निमित्त से मनुष्य को हिंसा का रंच मात्र भी दोष नहीं लगता, फिर भी हिंसा के आयतनों की निवृत्ति परिणामों की निर्मलता के लिए करनी चाहिए" इससे स्पष्ट होता है कि हिंसा का अन्वय-व्यतिरेक अशुद्ध तथा शुद्ध परिणामों के साथ है। परिणाम/भाव पूर्ण अहिंसा के मुख्य रूप से साधक हैं क्योंकि बिना भाव अहिंसा के द्रव्य अहिंसा का पूर्ण पालक साधक मुक्ति प्राप्त नही कर पाता है, पं. आशाधर जी भो समझाते हैं "यदि भाव के अधीन बन्ध मोक्ष की व्यवस्था न मानी जाय, तो संसार का वह कौन सा भाग होगा, जहाँ पहुँच मुमुक्षु पूर्ण अहिंसक बनने की साधना को पूर्ण करते हुए निर्वाण लाभ करेगा? इससे स्पष्ट है कि लोक को कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जहाँ पूर्णद्रव्य अहिंसक रह सके क्योंकि प्रत्येक स्थान पर जीव राशि है किन्तु साधना के फलस्वरूप साधक पूर्ण रूप से भाव अहिंसा का पालन कर ही परम लक्ष्य सिद्ध कर लेता है।

गृहस्थ भाव अहिंसा का पूर्ण पालन नहीं कर सकता। वह केवल त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत होता है। वह निरपराध प्राणियों को मन, वचन और काय स न स्वंय मारता है और न दूसरो से मरवाता है। वह ऐसी कोई भी प्रवृत्ति नहीं करता/करवाता है, जिससे स्थूलहिंसा की संभावना हो।

अहिंसक गृहस्थ बिना प्रयोजन संकल्पपूर्वक तुच्छ प्राणी को कष्ट नही पहुँचाता है किन्तु धर्म, समाज, परिवार की रक्षा हेतु या किसी विशिष्ट कर्तव्यपालन हेतु न्यायवान् होकर अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग करने से भी मुख नही मोड़ता है। आचार्य सोमदेव ने भी गृहस्थों को विरोधी हिंसा में दोष नहीं कहा। विरोधी हिंसा उस समय होती है, जब अपने ऊपर आक्रमण करने वाले पर आत्मरक्षार्थ शस्त्रादि का प्रयोग करना आवश्यक होता है, जैसे अन्यायवृत्ति से कोई दूसरे राष्ट्रवाला अपने देश पर आक्रमण करे, उस समय अपने आश्रितो की रक्षा के लिए संग्राम में प्रवृत्ति करना, उसमें होने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है।

जीवन रक्षार्थ शरीर का भरण-पोषण करने के लिए आहार-पान आदि के निमित्त होने वाली हिंसा आरम्भी हिंसा है।

जो खेती व्यापार आदि जीविका के उचित उपायों को करने में होती है वह उद्योगी हिंसा है।

उन हिंसाओं से एक गृहस्थ किसी भी प्रकार नहीं बच सकता है परन्तु उसे विवेक पूर्वक ही कार्य करना चाहिए। विवेक पूर्वक कार्य करने से वह हिंसा से बच सकेगा और अहिंसा का पूर्ण पालन कर सकेगा वह जो भी कार्य करता है या करवाता है उसमें वह पूर्ण सावधानी रखता है कि किसी को कष्ट न हो, किसी की हिंसा न हो, किसी के प्रति अन्याय न हो। विवेक पूर्वक पूर्ण सावधानी रखने पर भी यदि किसी प्राणी की हिंसा हो जाय तो श्रावक के अहिंसा व्रत का भंग नहीं होता हैं। अहिंसा के अभाव में जीवन का अस्तित्व ही नहीं रहता।

जिनेन्द्र वाणी से शाश्वत सिद्धान्त निकला है कि सभी जीव सुख चाहते हैं। जीना चाहते है। अत: किसी को भी दु:ख देना और मारना अपना ही बुरा करना / कराना है। यदि कोई दूसरे को दु:ख देता या मारता है, तो वह अपने को ही दु:ख देता / मारता है।

प्राणिमात्र की रक्षा करना / अभय देना / सभी को समान देखना अहिंसा है किसी साहित्यकार ने अहिंसा को इन शब्दों में भी प्रस्तुत किया है, "अपने मन, वाणी व शरीर के द्वारा तथा असावधानी से किसी भी प्राणी को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी प्रकार को कष्ट न पहुँचाना और इसी भावना के अनुरूप अपने नित्यकर्म बहुत सावधानी पूर्वक करना अहिंसा है। यह परिणामों को शुद्ध बनाने वाला रसायन है मर्यादा या व्रत का मुख्य द्वार है इसलिये आत्मकल्याणार्थी को अहिंसा आदि व्रतों में दृढ होते हुए संसारी पदार्थो से मोह ममता का त्याग कर मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए। यही जीवन में अहिंसा की व्यावहारिकता है।

1. अहिंसा भूतानां जगति विदितं बृहमपरमम्-बृहत्स्वयम्म्-स्तोत्र
2. अहिंसा परमो धर्म-महाभारत

-प्रवक्ता, दि. जैन कालेज, बड़ौत

जैन आचार दर्शन : आर्थिक व्यवस्था के संदर्भ में

-डॉ. जिनेन्द्र जैन

यह एक बुद्धिगम्य तथ्य है कि जब तक योजनाबद्ध और सुनियंत्रित आदर्शमूलक विकास-पथ का सक्रिय अनुसरण मानव-समाज द्वारा न होगा, तब तक वास्तविक उत्कर्ष के उन्नत शिखर पर दृढ़तापूर्वक चरण स्थापित नही किये जा सकेंगे। अनेक भौतिक उपलब्धियों के बाद भी, आज मानव वास्तविक सुख से वंचित है। वास्तविक सुख मानव-जाति में धर्म अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ है और उनका आपस में सम्बन्ध है। इसीलिए धर्म के साथ अर्थ रखने का फलितार्थ यह है कि अर्थ का उपयोग धर्म द्वारा नियन्त्रित हो और धर्म अर्थ द्वारा प्रवृत्यात्मक बने। इस दृष्टि से धर्म-अर्थ का सम्बन्ध संतुलित अर्थव्यवस्था और समाज-रचना का समाजवादी दृष्टिकोण स्थापित करने में सहायक बनता है। धर्म मानव-जीवन की आध्यात्मिक एवं धार्मिक शक्तियों के साथ-साथ सामाजिक विकास और उसके रक्षण के लिए भी आवश्यक व्यवस्था देता है। अत: समाज व्यवस्था के सूत्रों के धरातल पर धर्म आर्थिक तत्वों से जुडता है।

जैनधर्म केवल निवृत्तिमूलक दर्शन नहीं है, बल्कि उसके प्रवृत्यात्मक रूप में अनेक ऐसे तत्व विद्यमान हैं, जिनमें निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय होकर धर्म को लोकोपकारी रूप प्रकट हुआ है। इस दृष्टि से जैन धर्म जहां एक ओर अपरिग्रही, महाव्रतधारी अनगार धर्म के रूप में निवृत्तिप्रधान दिखाई देता है तो दूसरी ओर मर्यादित प्रवृतियाँ करने वाले अणुव्रतधारी श्रावक धर्म की गति-विधियों में सम्यक् नियन्त्रण करने वाला दिखाई देता है। समाज-रचना के समाजवादी दृष्टिकोण में से दोनों (अनगार एवं श्रावक) वर्ग सदा अग्रणी रहे हैं। समाज रचना में राजनीति और अर्थनीति के धरातल पर यदि जैनदर्शन के अहिंसात्मक स्वरूप को प्रयोग करें तो आधुनिक युग में समतावादी दृष्टिकोण को स्थापित किया जा सकता है। महात्मा गांधी ने भी आर्थिक क्षेत्र में ट्रस्टीशिप का

सिद्धान्त आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं का संचय न करना, शरीर श्रम, स्वादविजय, उपवास आदि के जो प्रयोग किये, उनमें जैनदर्शन के प्रभावों को सुगमता से रेखांकित किया जा सकता है।

जैनदर्शन का मूल लक्ष्य वीतरागभाव अर्थात् राग-द्वेष से रहित समभाव की स्थिति प्राप्त करना है। समभाव रूप समता में स्थित रहने को ही धर्म कहा गया है।[1] समता धर्म का पालन श्रमण के लिए प्रति समय आवश्यक है[2] इसीलिए जैन परम्परा में समता में स्थित जीव को ही श्रमण कहा गया है। जब तक हृदय में या समाज में विषम भाव बने रहते हैं, तब तक समभाव की स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती। समतावादी समाज-रचना के लिए यह आवश्यक है कि विषमता के जो कई स्तर यथा-समाजिक विषमता, वैचारिक विषमता, आर्थिक विषमता, दृष्टिगत विषमता, सैद्धान्तिक विषमता आदि प्राप्त होते हैं, उनमें व्यावहारिक रूप से समानता होनी चाहिए। समतावादी समाज रचना की प्रमुख विषमता आर्थिक क्षेत्र में दिखाई देती है। आर्थिक वैषम्य की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उससे अन्य विषमता के वृक्षों को पोषण मिलता रहता है। आर्थिक विषमता के कारण निजी स्वार्थों की पूर्ति से मन में कषायभाव जागृत होते हैं फलतः समाज में पापोन्मुखी प्रवृत्तियाँ पनपने लगती हैं। लोग और मोह पापों के मूल कहे गये हैं। मोह राग-द्वेष के कारण ही (जीव) व्यक्ति समाज में पापयुक्त प्रवृत्ति करने लगता है।[3] इसलिए इनके नष्ट हो जाने से आत्मा को समता में अधिष्ठित कहा गया है।[4] समाज में व्याप्त इस आर्थिक वैषम्य को जैनदर्शन में परिग्रह कहा गया है। यह आसक्ति, अर्थ-मोह या परिग्रह कैसे टूटे, इसके लिए जैनधर्म में श्राविक के लिए बारह व्रतों की व्यवस्था की है। समतावादी समाज रचना के लिये आवश्यक है कि न मन मे विषम भाव रहें और न प्रवृति में वैषम्य दिखाई दे। यह तभी सम्भव है जब धार्मिक और आर्थिक स्तर पर परस्पर समतावादी दृष्टिकोण को अपनाऐं। प्रत्येक मनुष्य के सामने विकास के समान अवसर एवं साधन उपलब्ध हों-इसे समाजवाद का मूलसिद्धान्त माना गया है। मानव-मात्र की समानता समतावादी समाज की रचना का व्यावहारिक लक्ष्य है। जैन दर्शन में धार्मिक प्रेरणा से जो अर्थतन्त्र उभरा है, वह इस दिशा में हमारा मार्ग दर्शन कर सकता है। अतः समतावादी समाज रचना के लिए जैन दर्शन के संदर्भ में निम्नांकित

आर्थिक बिन्दुओं को रेखांकित किया जा सकता है:-

1. अहिंसा की व्यावहारिकता
2. श्रम की प्रतिष्ठा
3. दृष्टि की सूक्ष्मता
4. आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन
5. साधनशुद्धि पर बल
6. सर्जन का विसर्जन

1. महावीर ने समता के साध्य को प्राप्त करने के लिए अहिंसा को साधन रूप बताया है। अहिंसा मात्र नकारात्मक शब्द नहीं है बल्कि इसके विधि रूपों में सर्वाधिक महत्त्व सामाजिक होता है। वैभवसम्पन्नता, दानशीलता, व्यावसायिक कुशलता, ईमानदारी, विश्वसनीयता और प्रामाणिकता जैसे विभिन्न अर्थ प्रधान क्षेत्रों में अहिंसा की व्यावहारिकता को अपनाकर श्रेष्ठता का मापदंड सिद्ध किया जा सकता है। अहिंसा की मूल भावना यह होती है कि अपने स्वार्थों, अपनी आवश्यकताओं को उसी सीमा तक बढ़ाओ जहां तक वे किसी अन्य प्राणी के हितों को चोट नहीं पहुंचाती हों। अहिंसा इस रूप में व्यक्ति संयम भी है और सामाजिक संयम भी।

2. साधना के क्षेत्र में श्रम की भावना सामाजिक स्तर पर समाधृत हुई। इसीलिए महावीर ने कर्मणा श्रम की व्यवस्था को प्रतिष्ठापित करते हुए कहा कि व्यक्ति कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता है।[5] उन्होंने जन्मना जाति के स्थान पर कर्मणा जाति को मान्यता देकर श्रम के सामाजिक स्तर को उजागर किया, जहां से श्रम अर्थव्यवस्था से जुड़ा और कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि की प्रतिष्ठा बढ़ी।

जैन मान्यतानुसार सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में जब कल्पवृक्षादि साधनों से आवश्कताओं की पूर्ति होना सम्भव न रहा, तब भगवान ने असि, और कृषि रूप जीविकावार्जन की कला विकसित की और समाज की स्थापना में प्रकृति-निर्भरता से श्रम जन्य आत्म-निर्भरता के सूत्र दिए। यही श्रमजन्य

आत्मनिर्भरता जैन परम्परा मे आत्म पुरुषार्थ और आत्म-पराक्रम के रूप में फलित हुई। अत: साधना के क्षेत्र में श्रम एवं पुरुषार्थ की विशेष प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि व्यक्ति श्रम से परमात्म दशा प्राप्त कर लेता है। उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीर और कुम्भकार सद्दालपुत्र का जो प्रसंग वर्णित है, उससे स्पष्ट होता है कि गोशालिक का आजीवक मत नियतिवादी है तथा भगवान महावीर का मत श्रम निष्ठ आत्म पुरुषार्थ और आत्मपराक्रम को ही अपना उन्नति का केन्द्र बनाता है।

3. धर्म के तीन लक्षण माने गये हैं-अहिंसा, संयम और तप। ये तीनों ही दु:ख के स्थूल कारण पर न जाकर दु:ख के सूक्ष्म कारण पर चोट करते हैं। मेरे दु:ख का कारण कोई दूसरा नहीं स्वयं मैं ही हूं। अत: दूसरे को चोट पहुंचाने की बात न सोचूं-यह अहिंसा है। मित्ती में सव्वभूएसु[6] इसे सार्वजनिक बनाना होगा। अपने को अनुशासित करूं-यह संयम है। अत: दुखों से उद्वेलित होकर अविचारपूर्वक होने वाली प्रतिक्रिया न करूँ। इसे परीषह जय भी कहते हैं। तथा दु:ख के प्रति स्वेच्छा से प्रतिकूल परिस्थिति को आमन्त्रित करना तप है। अत: अहिंसा, संयम ओर तप रूप इन तीनों उत्कृष्ट मंगल[7] के प्रति हमारी प्रवृति सम रूप रहे। अपने आपको प्रतिकूल परिस्थितियों की उसता से मुक्त बनाये रखें और सब प्रकार की परिस्थितियों में अपना समभाव बना रहे। क्योंकि "समया धम्मुदाहरे मुणी"[8] अर्थात् अनुकूलता में प्रफुल्लित न होना और प्रातकूलता मे विचितलत न होना समता है। ऐसी सूक्ष्म दृष्टि रखने पर सामाजिक प्रवृत्ति समतापूर्वक की जा सकती है।

4. आधुनिक समाज की रचना श्रम पर आधारित होते हुए भी संघर्ष और असन्तुलन पूर्ण हो गयी है। जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा होने पर जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन और विनिमय प्रारम्भ हुआ। अर्थ-लोभ ने पूंजी को बढ़ावा दिया। फलत: आद्योगीकरण, यंत्रवाद यातायात, दूरसंचार तथा अत्याधुनिक भौतिकवाद के हावी हो जाने से उत्पादन और वितरण में असंतुलन पैदा हो गया। समाज की रचना में एक वर्ग ऐसा बन गया जिसके पास आवश्यकता से अधिक पूंजी और भौतिक संसाधन जमा हो गये तथा दूसरा वर्ग ऐसा बना जो जीवन-निर्वाह की आवश्यकता को भी पूरा करने में असमर्थ

रहा। फलस्वरूप श्रम के शोषण से बढ़े वर्ग-संघर्ष की मुख्य समस्या ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का रूप ले लिया।

इस समस्या के समाधान में समाजवाद, साम्यवाद जैसी कई विचार धाराएं आयी, किन्तु सबकी अपनी-अपनी सीमाएं हैं। भगवान महावीर ने आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्ण इस समस्या के समाधान के कुछ सूत्र दिए, जिनके संदर्भ में समतावादी समाज की रचना की जा सकती है। ये सूत्र अर्थ प्रधान होते हुए भी जैन धर्म के साधना सूत्र कहे जा सकते हैं। महावीर ने श्रावकवर्ग की आवश्यकताओं एवं उपयोग का चिंतन कर हर क्षेत्र में मर्यादा एवं परिसीमन पूर्वक आचरण करने के लिए 12 व्रतों का विधान किया है। जिनके पालने से दैनिक जीवन मे आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन हो जाता है।

परिसीमन के वे सूत्र है:-

(क) महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धान्त देकर आवश्यकताओं को मर्यादित कर दिया। सिद्धान्तानुसार समतावादी समाज रचना में यह आवश्यक हो गया कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करें। मनुष्य की इच्छाएं आकाश के समाने अनन्त हैं,[9] और लाभ के साथ ही लोभ के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है। क्योंकि चांदी-सोने के कैलश पर्वत भी व्यक्ति को प्राप्त हो जायें, तब भी उसकी इच्छा पूरी नही हो सकती[10] अत: इच्छा का नियमन आवश्यक है। इस दृष्टि से श्रावकों के लिए परिग्रह-परिमाण या इच्छा परिमाण व्रत की व्यवस्था की गयी है। अत: मर्यादा से व्यक्ति आवश्यक संग्रह और शोषण की प्रवृत्ति से बचता है। सांसारिक पदार्थो का परिसीमन जीवन-निर्वाह को ध्यान में रखते हुए किया गया है, वे हैं-

(1) क्षेत्र (खेत आदि भूमि) (2) हिरण्य (चांदी) (3) वास्तु (निवास योग्य स्थान) (4) सुवर्ण (सोना) (5) धन (अन्य मूल्यवान् पदार्थ) (ढले हुए या घी, गुड़ आदि) (6) धान्य (गेहूं, चावल, तिल आदि) (7) द्विपद (दो पैर वाले) (8) चतुष्पद (चार पैर वाले) (9) कुप्य (वस्त्र, पात्र, औषधि आदि)

(ख) **भगवान महावीर का दूसरा सूत्र है- दिक्परिमाणव्रत**। विभिन्न दिशाओं में आने-जाने के सम्बन्ध में मर्यादा या निश्चय करना कि अमुक दिशा में इतनी दूरी से अधिक नहीं जाऊंगा। इस प्रकार की मर्यादा से वृतियों के संकोच के साथ-साथ मन की चंचलता समागत होती है तथा अनावश्यक लाभ अथवा संग्रह के अवसरों पर स्वैच्छिक रोक लगती है। क्षेत्र सीमा की अतिक्रमण करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में अपराध माना जाता है। अतः इस व्रत के पालन करने से दूसरों के अधिकार क्षेत्र में उपनिवेश बसा कर लाभ कमाने की या शोषण करने की वृति से बचाव होता है। इस प्रकार के व्रतों से हम अपनी आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन कर समतावादी समाज रचना में सहयोग कर सकते हैं।

(ग) **उपभोग-परिभोग पारिमाण व्रत-** श्रावकों का एक अन्य व्रत हैं दिक्परिमाणव्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर तथा वहां की वस्तुओं से निवृत्ति हो जाती है, किन्तु मर्यादित क्षेत्र के अन्दर और वहां की वस्तुओं के उपभोग (एक बार उपभोग) परिभोग (बार-बार उपभोग) में भी अनावश्यक लाभ और संग्रह की वृत्ति न हो इसके लिए इस व्रत का विधान है। जैन आगम में वर्णित इस व्रत की मर्यादा का उद्देश्य यही है कि व्यक्ति का जीवन सादगी पूर्ण हो और वह स्वयं जीवित रहने का साथ-साथ दूसरों को भी जीवित रहने को अवसर और साध न प्रदान कर सकें। व्यर्थ के संग्रह और लोभ से निवृत्ति के लिए इन व्रतों का विशेष महत्व है।

(घ) **दिक्परिमाण एवं उपभोग**- परिभोग परिमाण के साथ-साथ देशावकाशिक व्रत का भी विधान किया है। जिसके अन्तर्गत दिन-प्रतिदिन उपभोग-परिभोग एवं दिक्परिमाण व्रत का और भी अधिक परिसीमन करने का उल्लेख किया गया है। अर्थात् एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को कभी घटा देना, आवागमन के क्षेत्र एवं भागरूोपभोग्य पदार्थो की मर्यादा कम कर देना, इस व्रत की व्यवस्था मे है। श्रावक के लिए देशावकाशिक व्रत में 14 विषयों का चिन्तन कर प्रतिदिन के नियमों मे मर्यादा का परिसीमन किया गया है। वे 14 विषय है:-

सचित्त दव्व विग्गई, पन्नी ताम्बूल वत्थ कुसुमेसु।
वाहक सयल विलेवण, बम्म दिसि नाहण भत्तेसु।।[11]

इन नियमों से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी जाती है, उसका संकोच होता है और आवश्यकताएं उततरोत्तर सीमित होता है।

उक्त सभी व्रतों में जिन मर्यादाओं की बात कही गयी है, वह व्यक्ति की अपनी इच्छा अैर शक्ति पर निर्भर है। भगवान महावीर ने यह नहीं कहा कि आवश्यकताएं इतनी-इतनी सीमित हों। उनका मात्र संकेत इतना था कि व्यक्ति स्वेच्छा पूर्वक अपनी शक्ति और सामर्थ्यवश आवश्यकताओं - इच्छाओं को परिसीमित व नियंत्रित करें। जिससे समतावादी समाज का निर्माण किया जा सके।

5. साधन-शुद्धि पर बल देकर भी समतावादी समाज की रचना करने के कुछ सूत्र महावीर ने दिए। अणुव्रतों के द्वारा व्यक्ति की प्रवृत्ति न केवल धर्म या दर्शन के क्षेत्र विकसित होती है, बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी अणुव्रतों का पालन समतावादी समाज रचना का हेतु साधन माना जाता है। साधन वृद्धि में विवेक, सावधानी और जागरूकता का बड़ा महत्व है।

जैनदर्शन में साधन शुद्धि पर विशेष बल इसलिए भी दिया गया है कि उससे व्यक्ति का चारित्र प्रभावित होता है। बुरे साधनों से एकत्रित किया हुआ धन अन्तत: व्यक्ति को दुर्व्यसनों की ओर ले जाता है और उसके पतन का कारण बनता है। तप के बारह प्रकारों में अनशन ऊनोदरी भिक्षाचर्या और रस परित्याग भोजन से ही सम्बन्धित हैं। इसीलिए खाद्य शुद्धि संयम प्रकारान्तर से साधन शुद्धि के ही रूप बनते हैं।

अहिंसा की व्यावहारिकता की तरह ही सत्याणुव्रत एवं अस्तेयाणुव्रत का साधन-शुद्धि के संदर्भ में महत्त्व है। ये विभिन्न व्रत साधन की पवित्रता के ही प्रेरक और रक्षक है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा अर्थाजन करने में व्यक्ति को स्थूल हितों से बचना चाहिए। सत्याणुव्रत में सत्य के रक्षण और असत्य से बचाव पर बल दिया गया। व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए कन्नालाए (कन्या के विषय में) गवालीए (गौ के विषय में) भोमा लिए

(भूमि के विषय में) णासावहारे अर्थात् धरोहर के विषय में झूठ न बोले तथा (दूडसक्खिजे) झूठी साक्षी न दे। अर्थ की दृष्टि से सत्याणुव्रत का पालन कोर्ट-कचहरी में झूठे दस्तावेजो में भ्रष्टाचार एवं रिश्वतखोरी में नही हो पाता, क्योंकि इन सभी क्षेत्रों में अर्थ की प्रधानता होने से असत्य का आश्रय लिया जाता है। जिससे समाज के मूल्य ध्वस्त हो जाते हैं। इसीलिए सत्याणुव्रत समाज रचना का आधार बन सकता है।

अस्तेय व्रत की परिपालना का साधन शुद्धता की दृष्टि से विशेष महत्व है। मन, वचन और काय द्वारा दूसरों के हकों को स्वयं हरण करना, और दूसरों से हरण करवाना चोरी है। आज चोरी के साधन स्थूल से सूक्ष्म बनते जा रहे हैं। खाद्य वस्तुओं में मिलावट करना, झूठा जमा-खर्च बताना, जमाखोरी द्वारा वस्तुओं की कीमत घटा या बढ़ा देना ये सभी कर्म चोरी के हैं। इन सभी सूक्ष्म तरीकों की चौर्यवृत्ति के कारण ही मुद्रा-स्फीति का इतना प्रसार है और विश्व की अर्थ व्यवस्था उससे प्रभावित हो रही है। अत: अर्थ व्यवस्था संतुलन के लिए आजीविका के जितने भी साधन है और पूंजी की जितने भी स्रोत हैं, उनका और पवित्र होना आवश्यक है, तभी हम समतावादी समाज-निर्माण कर सकते हैं।

इसी संदर्भ में भगवान महावीर ने आजीविका उपार्जन के उन कार्यो का निषेध किया है, जिनसे पापवृत्ति बढ़ती है। वे कार्य कर्मदान कहे गये हैं। अत: साधन शुद्धि के अभाव में इन कर्मादानों को लोक में निन्द्य बताया गया है। इनको करने से सामाजिक प्रतिष्ठा भी समाप्त होती है। कुछ कर्मादान हैं जैसे- 1. इंगालकर्म (जंगल जलाना) 2. रसवाणिज्जे (शराब आदि मादक पदार्थो का व्यापार करना) 3. विसवाणिज्ज (अफीम आदि का व्यापार) 4. केसवाणिज्जे (सुन्दर केशों वाली स्त्रियों का क्रय-विक्रय) 5. दवग्गिदावणियाकमेन (वन जलाना) 6. असईजणणेसाणयाकम्मे (असामाजिक तत्वों का पोषण करना आदि)

6. **"अर्जन का विसर्जन"** नामक सिद्धान्त को जैन दर्शन में स्वीकार्य दान एवं त्याग तथा संविभाग के साथ जोड़ सकते हैं। महावीर ने अर्जन के साथ-साथ विसर्जन की बात कही। अर्जन का विसर्जन तभी हो सकता है, जब

हम अपनी आवश्यकताओं को निर्यंत्रित एवं मर्यादित कर लेते हैं। स्वैच्छिक परिसीमन के साथ ही अर्जन का विसर्जन लगा हुआ है। उपासक दशांग सूत्र में दस आदर्श श्रावकों का वर्णन है, जिसमें आनन्द, मन्दिनीपित और सालिही पिता की सम्पत्ति का विस्तृत वर्णन आता है। इससे यह स्पष्ट है कि महावीर ने कभी गरीबी का समर्थन नहीं किया। उनका प्रहार या चिंतन धन के प्रति रही हुई मूर्च्छावृत्ति पर है। वे व्यक्ति को निष्क्रिय या अकर्मण्य बनने को नहीं कहते पर उनका बल अर्जित सम्पत्ति को दूसरो में बांटने पर है। उनका स्पष्ट उद्घोष है-

''असविभगीणहु तस्य मोक्खो'' अर्थात् जो अपने प्राप्त को दूसरों में बाटंता नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होती। अर्जन के विसर्जन का यह भाव उदार और सवेदनशील व्यक्ति के हृदय में ही जागृत हो सकता है।

भगवतीसूत्र में तुंगियानगरी के श्रावकों का उल्लेख मिलता है जिनके घरों के द्वार अतिथियों के लिए सदा खुले रहते थे। अतिथियों में साधुओं के अतिरिक्त जरूरतमंद लोगों का भी समावेश है।

जैनदर्शन में दान और त्याग जैसी जनकल्याणकारी वृत्तियों का विशेष महत्त्व है। आवश्यकता से अधिक संचय न करना और मर्यादा से अधिक जरूरतमंद लोगों में वितरित कर देने की भावना समाज के प्रति कर्तव्य व दायितव बोध के साथ-साथ जनतांत्रिक समाजवादी शासन व्यवस्था को जन्म देना कही जा सकती है। दान का उद्देश्य समाज में ऊंच-नीच कायम करना नहीं, वरन् जीवन रक्षा के लिए आवश्यक वस्तुओं का समवितरण करना है। दान केवल अर्थ दान तक ही सीमित नही रहा बल्कि आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान तथा अभयदान इन रूपों में भी दान को जैन दृष्टिकोण से समझाया गया है। अत: अर्थ का अर्जन के साथ साथ विसर्जन करके समाज को नया रूप दिया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैनदर्शन में जिन आर्थिक तत्वों का गुम्फन किया गया है, उनकी आज के संदर्भ में बड़ी प्रासंगिकता है और धर्म तथा अर्थ की चेतना परस्पर विरोधी ने होकर एक-दूसरे की पूरक है।

संदर्भ सूची

1. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते-आचारांगसूत्र, 5/3/45
2. मूलाचार 7/521
3. प्रवचनसार 1/84
4. मोहक्खोहाविहीणो परिणामों अप्पणो हु समो । -प्रवचनसार 1/7
5. उत्तराध्ययनसूत्र 25/33
6. समणसुतं - 86
7. दशवैकालिक 1/1
8. आचारांगसूत्र
9. उत्तराध्ययनसूत्र 9/48
10. उत्तराध्ययनसूत्र 9/48
11. (1) सचित्तवस्तु (2) द्रव्य (3) विगय (4) जूते (5) पान (6) वस्त्र (7) पुष्प (8) वाहन (9) शयन (10) विलेपन (11) ब्रह्मचर्य (12) दिशा (13) स्नान (14) भोजन

प्राकृत एवं जैनगम विभाग
जैन विश्वभारती
लाडनूं (राज.)

●●

जैन विद्वत्ता : ह्रास या विकास

-डॉ. नंदलाल जैन

इग्लैंड से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'जैन स्पिरिट' के पिछले दो अंको में एडिनबरो विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर के 'जैन साहित्य की परंपरा एवं जैन विद्वत्ता के गिरते हुए स्तर' पर दो लेख प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों से जैनों के विषय में पाश्चात्य विचारधारा का अनुमान तो होता ही है, हमें भविष्य के लिये मार्गदर्शन भी मिलता हैं। वे कहते हैं कि जैनों का आध्यात्मिक आगम साहित्य अपनी टीकाओं एवं भाष्यों आदि के माध्यम से पर्याप्त स्वयं-समीक्षात्मक हैं ओर प्रारंभ में यह विद्वान् साधुओं द्वारा लिखा गया हैं। चौदहवीं सदी तक जैन प्राय: अभिजात कुलीन राजा या क्षत्रिय ही थे और साधुओं ने केवल साधु-आचार ही लिखा या साधुत्व की ओर बढ़ने की प्रेरणा देने वाला साहित्य लिखा जिसमें 'ज्ञाताधर्मकथा' के समान काव्य-सौदर्य से भरा कथा साहित्य भी है। इसके बाद जैन प्राय: व्यवसायी हो गये और फलत: साहित्य की दिशा भी बदल गई। गृहस्थों के आचार पर भी साहित्य लिखा जाने लगा। लेकिन यह साहित्य आदर्शवादी अधिक है और बहूतेरे अंशो में, नितांत अव्यावहारिक है। इस विवरण का आधार मुख्यत: श्वेतांबर साहित्य ही है। वस्तुत: लेखक का यह कथन सही नही हैं। त्रिलोक प्रज्ञप्ति में ऋषभ से लेकर महावीर तक श्रावक-श्राविकाओं की संख्या दी गई है, जो साढ़े चार लाख से सदैव ही अधिक रही हैं। इसमें अभिजात वर्ग तो अल्प ही था, अन्य वर्ग ही प्राय: 99 प्रतिशत था। तीर्थंकर इन्हें समुचित चर्या न बताते यह कैसे संभव था? इसीलिये 'उपासक दशा' अंग तो श्रावक के विषय में ही हैं, अन्य आगम ग्रंथो में भी श्रावक की चर्या और व्रतों का वर्णन हैं। हाँ, स्वतंत्र रूप से श्रावकाचार के ग्रंथ नहीं होंगे, पर दिंगबरों में समंतभद्र का रत्नकरंडश्रावकाचार तो प्रसिद्ध हैं। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी 'मानव धर्म' के रूप सामने आया है।

उत्तरवर्ती काल में तो अनेक श्रावकाचार लिखे गये। इनका संग्रह जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर से प्रकाशित हुआ हैं।

मध्यवर्ती युग में दिगंबर पडितों ने, तेरहवीं सदी में आशाधर ने एवं 15-16 वीं सदी में बनारसीदास और टोडरमल ने कुछ साहित्य लिखा। उन्होंने पं. कैलाशचंद्र शास्त्री का नाम लेते हुए यह कहा है कि पिछले सौ वर्षो मे पाठशालाओं में पढ़े हुए दिगंबर पंडितों ने बहुत बौद्धिक काम किया है। लेकिन उनका काम हिन्दी में होने से पश्चिम जगत ने उसे मान्यता नहीं दी। साथ ही, दिगंबर जैनों का अध्ययन भी, श्वेतांबरो के समान गंभीरता से नही किया गया। इसलिये वे प्राय: विस्मृत से बने रहे। तथापि, इन पंडितों ने पश्चिमी विद्वानो के समान समीक्षात्मक एवं स्वतंत्र विचारकता की दृष्टि रही है। तथापि, अनेक प्रश्न ऐसे हैं (जैसे तत्त्वार्थ सूत्र के कर्त्ता अथवा भक्तामर स्तोत्र के रचयिता) जिनमें सांप्रदायिक दृष्टिकोण भी पाया जाता है जिसे दूर करना कठिन ही प्रतीत होता हैं, इस दृष्टि से, जैन विद्वानों के साहित्य का अध्ययन गंभीरता से करना चाहिये। फिर भी. विदेशी विद्वान् यह मानते हैं कि जैनों ने दो बातों को प्रमाण माना है- (1) आगम और (2) तर्क। आगमों को तर्क के अनुरूप होना चाहिये, पर प्रमुखता आगमों की है।

लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि जैनों की प्रतिष्ठा एवं सम्मान के लिये बौद्धिक संपदा को समृद्ध करना आवश्यक है। अभी उनकी प्रतिष्ठा का मूल आधार प्राचीन जैन बौद्धिक साहित्य है। उन्होंने वर्तमान जैन विद्वत्ता को पुरातन विद्वानों के समकक्ष नही माना हैं, फलत: उनके गिरते हुए स्तर पर निराशा व्यक्त की है और उसे उन्नत करने के लिये विदेश में विशेषकर लंदन को केन्द्र बनाकर उसे आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाने की आशा व्यक्त की है। इसकी चर्चा करते समय उन्होंने पं. सुखलालजी, मालवणियाजी, बेचरदास जी, मुनि जंबू विजय, पुण्य विजय या जिन विजय जी की विद्वत्ता की सराहना की है। इन विद्वानों में इनके समकक्ष किसी दिगंबर विद्वान् या साधु का नाम नही है। यह दिगंबर जैनधर्म के प्रति पश्चिम की अनभिज्ञता ही व्यक्त करती हैं। हमारे यहां भी राष्ट्रपति-सम्मानित कोठिया जी, फूलचंदजी, पं. महेन्द्र कुमार

जी, डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ज्योति प्रसाद जी, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, और आचार्य ज्ञानसागर जी के समान पूर्व में और अब आ. विद्यासागर जी, गणिनी ज्ञानमती जी, आ. विशुद्धिमती जी, राष्ट्रपति सम्मानित डॉ. राजाराम, पं. पद्मचंद्र शास्त्री, डॉ. एन. एल. जैन, पं. शिवचरणलाल जी, प्रो. उदयचंद्र जैन के समान अनेक विद्वान् हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि आज की विद्वत्ता--विषय विशेष से संबंधित होती हैं। साहित्य के अनुयोग विभाजन के बाद यह प्रवृत्ति विकसित हुई है। श्वेतांबरों में आचार्य महाप्रज्ञ, डॉ. ढाकी, डॉ. सागरमल जैन आदि की विद्वत्ता को ह्रासशील मानना भ्रामक हैं। अत: लेखों के लेखक को अपना मत संशोधित करना चाहिए।

अपने लेखों में लेखक ने स्पष्ट किया है कि उन्हें न तो दिगंबरों का साहित्य उपलब्ध हैं और न ही पश्चिमी जगत में उन्हें दिगंबरों के विषय मे कोई बतानेवाला हैं। उन्होने यह भी संकेत दिया कि आज की विद्वत्ता व्यक्ति के करिश्मा और भाषण कलाबाजी के रूप में परिणत हो गई है, जिसे पश्चिमी जगत में उन्हें दिगंबरों के विषय में कोई बतानेवाला है। उन्होनें यह भी संकेत दिया कि आज की विद्वत्ता व्यक्ति के करिश्मा और भाषण कलाबाजी के रूप में परिणत हो गई है, जिसे पश्चिमी जगत् स्वीकार नहीं करता। फिर भी इस बिन्दु पर विद्वानों को विचार करना चाहिये और अपनी विद्वत्ता को शोधमुखी बनाना चाहिये।

इस संक्षिप्त लेखसार से यह स्पष्ट हैं कि पश्चिम में दिगंबर जैन धर्म के परिचय, अध्ययन एवं शोध को प्रोत्साहित करने के लिये निम्न बातें ध्यान मे रखना चाहिये :

1. पश्चिम में दिगंबर जैनधर्म के प्रति भयंकर अज्ञान है।
2. इसका कारण है कि उनका साहित्य अभी पश्चिम में नही पहुंचा है। दिगंबर विद्वान् (जिसे पश्चिम विद्वान् माने) इस विषय में अंग्रेजी मे शोधपत्रादि प्रकाशित नहीं करते और न ही अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में, आर्थिक समस्या के कारण, भाग ले पाते हैं।

3. श्वेताबंरों के प्राय: सभी आगम ग्रंथ अंग्रेजी और कुछ अन्य भाषाओं में अनूदित होकर सर्वत्र पहुंच चुके हैं। दुर्भाग्य से, किसी भी दिगंबर आगमतुल्य ग्रंथो षट्खंडागम, कषायपाहुड, मूलाचार, भगवती आराधना आदि के अनुवाद अभी भी अछूते ही हैं। (आ. कुंदकुंद के ग्रंथ अपवाद हैं) कहते हैं कि षट्खंडागम को मठ से प्राप्त करने और उसके अनुवाद तथा प्रकाशन की प्रक्रिया में प्राय: सौ वर्ष लग गये थे। क्या दिंगबर समाज अब भी इतनी ही जड़ बनी रहेगी? एक बार मैंने एक दिगंबर जैनाचार्य से इस विषय की चर्चा की थी और उन्हें एक जैन विश्वभारती से प्रकाशित सटिप्पण दशवैकालिक भी भेंट किया था, पर मुझे लगता हैं कि उन्होनें उसी मनोवृत्ति का परिचय दिया है, जिसमें पश्चिमी विद्वानों ने मनोरंजक भाषा में कहा हैं कि दिगंबरों को आगम लोप की मान्यता का आधार उनकी यह मान्यता है कि यदि आगम रहेंगे, तो उनकी कृतियां कौन पढ़ेगा ? यद्यपि यह सत्य नहीं हैं, फिर भी कहीं न कहीं करारी चोट तो है ही। अस्तु, मेरा सुझाव यह है कि दिगंबर संस्थाओं और दानी व्यक्तियों की ओर से यह कार्य जितनी जल्दी हो, प्रारंभ करना/कराना चाहिये एवं उसे पश्चिमी विद्वानों को भेजना चाहिये। इस लेखक ने इस दिशा में अब तक तीन लाख का साहित्य 50 विद्वानों एवं संस्थाओं को भेजा है। यह भी प्रयत्न किया जा रहा है कि धवला, राजवार्तिक आदि ग्रंथों का अनुवाद किया जाय। पर इस कार्य में उसे कहीं से भी सक्रिय प्रेरणा नहीं मिल रही है।

4. यह भी आवश्यक है कि विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठियों में 1-2 विद्वानों को अवश्य भेजना चाहिये जो दिगंबर जैन धर्म के विविध पक्षों पर शोधपत्र/भाषण दे सकें।

5. आजकल साधुवर्ग द्वारा मार्गदर्शित विभिन्न बहु-आयामी बहु-कोटि व्ययी योजनायें चलाई जा रही हैं, जिसके विषय में पर्याप्त अलोचनायें हो रही हैं। फिर भी, उपरोक्त समस्या को ध्यान में रखकर साधुजनों से इस दिशा में भी कुछ मार्गनिर्देश करने के लिये निवेदन करना चाहिये।

श्वेतांबर प्रतिष्ठाओं में आय का 15 प्रतिशत शैक्षिक एवं अकादमिक कार्यों में व्यय किया जाता है। क्या साधुजन तीर्थों की या धार्मिक आयोजनों की आय का कम से कम 10 प्रतिशत भी इस कार्य में उपयोग के लिये प्रेरित नहीं कर सकते? दिगंबर समाज में प्राय: 100 प्रतिष्ठायें प्रतिवर्ष होती हैं जिनकी औसत आय पांच लाख माननी चाहिये। इस आधार पर जैनधर्म के विश्वीय संवर्धन के ऐसे कार्य के लिये प्रतिवर्ष 50 लाख रुपये तक उपलब्ध हो सकते हैं। प्रतिष्ठाचार्य भी इस दिशा में प्रेरणा और योगदान कर सकते हैं।

इस संबंध में मैने अपने एक लेख (जैन गजट, अक्टूबर, 2000) में भी संकेत दिया था। इन लेखों से उसकी पुष्टि होती हैं। एक योजना भी सुझाई थी। पर 'दिगंबरत्व' का अर्थ ही हैं, "ऊर्ध्वदिशा में उडना, जमीन से ऊपर रहना" फिर भी, महत्ता दूसरों के द्वारा आंकी जाती है, यह ध्यान में रखना चाहिये। अंतर्मुखी एवं व्यक्तिवादी धर्म दूसरों के मतों का क्यों सम्मान करे? फिर भी, एक उदाहरण सामने आया है कि दिल्ली के श्री आर. पी. जैन ने अमरीका के एक प्रोफेसर को दिगंबर धर्म के अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया और उन्होंने जयपुर में द्यानतराय की पूजाओं पर कुछ काम भी किया है। (महावीर जयती स्मारिका, 2001)। पर इसे अपवाद ही समझना चाहिये। क्या हमारे समाज का नेतृवृंद या साधुवृंद भगवान् महावीर के 2600 वें जन्मोत्सव वर्ष में इस ओर ध्यान देगा?

-जैन केन्द्र रीवाँ, (म.प्र.)

55 2

अनेकान्त

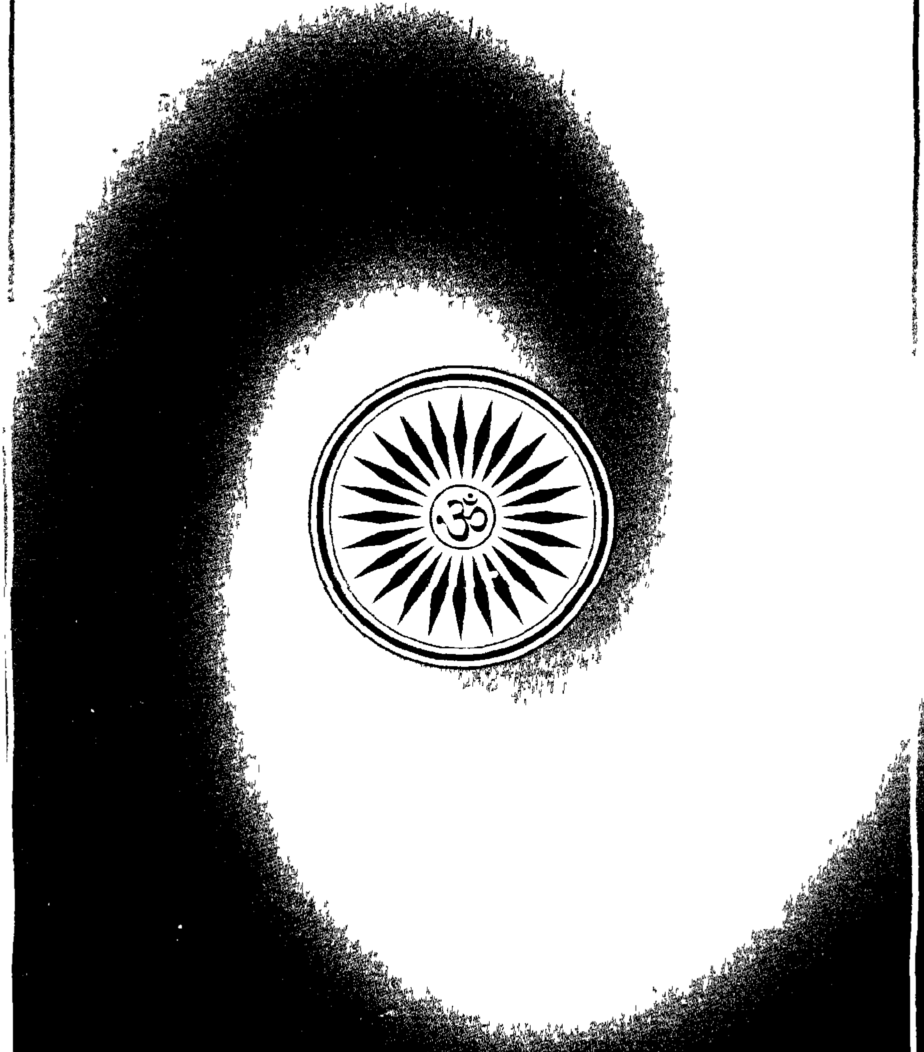

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

1 अपनी सुधि भूलि आप 1

2 सम्पादकीय 2

3 भगवान् महावीर का जन्म स्थान
- डॉ ऋषभचन्द्र जैन "फौजदार" 5

4 आचार्य जिनसेन की दृष्टि मे भोगवाद के दुष्परिणाम
डॉ सुरजमुखी जैन 23

5 आचार्य श्री विद्यासागर कृत "मूकमाटी" मे अभिव्यक्त समाजवादी विचार
डॉ सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती' 26

6 महाकवि वीर 'जंबुसामि चरिउ'
-डॉ प्रकाशचन्द्र जैन 32

7 ऋषभ नगर (मरसलगज) का जैन मन्दिर
सुरेशचन्द्र जैन बारौलिया 49

8 समवसरण एक विमर्श
- समणी मंगलप्रज्ञा 52

वर्ष-55, किरण 2
अप्रैल-जून 2002

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ प्र)
फोन : (0131) 603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/
वार्षिक शुल्क
30/-
इस अंक का मूल्य
10/
सदस्यों व मंदिरो के
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स 110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो। इसमें प्राय: विज्ञापन एवं समाचार नहीं लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 3250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर मे छूट

(रजि आर 10591/62)

अपनी सुधि भूलि आप

-पण्डितप्रवर दौलतराम

अपनी सुधि भूलि आप, आप दुख उपायौ।
ज्यौं शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायौ।। अपनी.।।

चेतन अविरुद्ध शुद्ध, दरश बोधमय विशुद्ध।
तजि जड रत फरस रूप, पुद्‌गल अपनायौ।। अपनी.।।

इन्द्रिय सुख दुख में नित्त, पाग राग रुख में चित्त।
दायक भव विपति वृन्द, बन्ध कौ बढ़ायौ।। अपनी.।।

चाह दाह दाहै, त्यागौ न ताह चाहे।
समता सुधान गाहै, जिन प्रकट जो बतायौ।। अपनी.।।

मानुष भव सुकुल पाय, जिनवर शासन लहाय।
''दौल'' निज स्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायौ।। अपनी.।।

सम्पादकीय

दिगम्बर जैन शास्त्रों में वैशाली भगवान् महावीर की ननिहाल के रूप में वर्णित है। वैशाली के राजा चेटक महावीर की माता प्रियकारिणी (त्रिशला) के पिता थे। राजा चेटक के दस पुत्र और सात पुत्रियाँ थीं। इनमें से दो पुत्रियों ने विवाह न करके दीक्षा ग्रहण कर ली थी। (श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार चेटक महावीर की माता के भाई माने गये हैं।) अतएव भगवान् महावीर से गहरा संबन्ध होने के कारण वैशाली में उनके प्रति अगाध आस्था का होना स्वाभाविक ही है।

जैन वाङ्.मय में भगवान् महावीर का जन्मस्थान विदेह देश में कुण्डपुर या कुण्डलपुर के नाम से उल्लिखित हुआ है। आचार्य पूज्यपादकृत निर्वाण भक्ति, आचार्य जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, महाकवि असगकृत वर्द्धमानचरित, दामनन्दिकृत पुराणसारसंग्रह, विबुध श्रीधर कृत वड्ढमाणचरिउ, पं. आशाधरकृत त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र आदि ग्रन्थों में कुण्डपुर तथा भट्टारक सकलकीर्तिकृत वीरवर्धमान चरित, महाकवि पद्मकृत महावीररास तथा पश्चाद्वर्ती साहित्य में प्राय: कुण्डलपुर का भगवान् महावीर की जन्मभूमि के रूप में उल्लेख हुआ है। बिहार में नालन्दा जिला मुख्यालय से 3 कि. मी. दूर बड़गाँव नामक एक गाँव है, इस गाँव के बाहर एक प्राचीन जिनालय है, जो कुण्डलपुर नाम से प्रसिद्ध है तथा भगवान् महावीर की जन्मभूमि माना जाता रहा है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् पं. बलभद्र जी ने 1975 ई. में प्रकाशित 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र' में इस कुण्डलपुर के विषय में लिखा है-

''कुण्डलपुर बिहार प्रान्त के पटना जिले में स्थित है। यहाँ का पोस्ट आफिस नालन्दा है और निकट का रेलवे स्टेशन भी नालन्दा है। यहाँ भगवान् महावीर के गर्भ, जन्म और तप कल्याणक हुए थे, इस प्रकार की मान्यता कई

6934

शताब्दियों से चली आ रही है। यहाँ पर एक शिखरबन्द मन्दिर है, जिसमें भगवान् महावीर की श्वेतवर्ण की साढ़े चार फुट अवगाहना वाली भव्य पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। यहाँ वार्षिक मेला चैत्र सुदी 12 से 14 तक महावीर के जन्मकल्याणक को मनाने के लिए होता है।''

गत छह दशकों में कुण्डग्राम, वासुकुण्ड (वासोकुण्ड) वैशाली को भगवान् महावीर की जन्मस्थली माना जाता रहा है। यद्यपि पं. सुमेरचन्द्र जैन दिवाकर आदि कुछ जैन विद्वान् इससे अपनी सहमति नहीं बना पाये तथापि पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री एवं डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन आदि ने वैशाली को जन्मस्थली मानने में अपनी सहमति व्यक्त की है। 31 मार्च 1945 ई. को मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ गाँव को वैशाली के रूप में उद्धार करने के लिए बिहार सरकार के तत्कालीन शिक्षा सचिव श्री जगदीशचन्द्र माथुर, डॉ. योगेन्द्र मिश्र, श्री जगन्नाथ प्रसाद साहू आदि ने मिलकर एक वैशाली संघ नामक संगठन की स्थापना की तथा जन सहयोग से यहाँ तीर्थकर महावीर के नाम पर एक हाई स्कूल की स्थापना की। इस संघ के प्रयासों के फलस्वरूप 3 वर्ष बाद 21 अप्रैल 1948 ई. को बसाढ़ गाँव में भगवान् महावीर की जन्मजयन्ती का प्रथम बार आयोजन किया गया। इस समारोह में जथरिया भूमिहारों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। बाद में वैशाली संघ और बिहार सरकार की ओर से प्रतिवर्ष महावीर जयन्ती मनाई जाने लगी। वैशाली संघ ने 1955 ई. में वैशाली में एक रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना की। इसकी स्थापना में साहू शान्ति प्रसाद जैन का महनीय अवदान रहा है। 1951 ई. में स्थापित 'वैशाली कुण्डपुर तीर्थ प्रबन्धक कमेटी' ने वैशाली में जैन विहार नामक एक धर्मशाला बनवाई तथा यहाँ से लगभग 5 कि. मी. की दूरी पर भगवान् महावीर की जन्मस्थली को प्रचारित-प्रसारित किया। परिणाम स्वरूप गत आधी सदी में यह स्थान भगवान् महावीर की जन्मभूमि मान लिया गया।

भगवान् महावीर की 2600 वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में भगवान् महावीर का एक विशाल एवं भव्य स्मारक वैशाली में निर्माणाधीन है। सम्पूर्ण जैन समाज को इसका स्वागत करना चाहिए। पूज्य ज्ञानमती माता जी के प्रयास

से कुण्डलपुर (नालन्दा) का विकास हो, इसका भी कहीं से विरोध नही होना चाहिए। हाँ, पुरातत्त्वविदों, इतिहासज्ञों तथा परम्परागत जैन विद्वानों को मिल-बैठकर भगवान् महावीर की जन्मस्थली सर्वसम्मति से एक स्वीकार कर लेना चाहिए चाहे वह वैशाली का कुण्डग्राम/वासोकुण्ड हो या नालन्दा का कुण्डलपुर। कहीं ऐसा न हो कि विवादों की यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जावे और हमारे सभी तीर्थक्षेत्र अन्य-अन्य स्थानों पर कल्पित कर लिये जायें।

अनेकान्त के गत अंक 55/1 में आर्यिका श्री चन्दनामती माता जी का एक आलेख "भगवान् महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर-एक वास्तविक तथ्य" प्रकाशित किया था। प्रस्तुत अंक में डॉ. ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार' का "भगवान् महावीर का जन्मस्थान" आलेख प्रकाशित कर रहे हैं। दोनों ने अपने-अपने समर्थन में प्रमाण दिये हैं। सुधी मनीषियों से विनम्र निवेदन है कि वे इन्हें देखकर तथा अन्य शास्त्रीय, पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर भगवान् महावीर की जन्मस्थली का सर्वसम्मत निर्णय खोजें ताकि अनावश्यक संभावित विवाद को रोका जा सके।

-जयकुमार जैन

भगवान् महावीर का जन्म-स्थान

गत अंक में आर्यिका चन्दनामती जी का एक लेख भगवान् महावीर की जन्मभूमि के सन्दर्भ में प्रकाशित किया था। उसी कड़ी में कुण्डलपुर के विषय में ही प्रस्तुत लेख विचारार्थ प्रस्तुत है-

सम्पादक

-डॉ. ऋषभचन्द्र जैन "फौजदार"

भगवान् महावीर के 2600 वें जन्म कल्याणक महोत्सव वर्ष के प्रसंग में पूरा राष्ट्र एवं जैन समाज, सामूहिक तथा एकल रूप में अनेक कार्यक्रम आयोजित कर रहा है। ऐसे समय में भगवान महावीर के जन्म स्थान के सम्बन्ध में भ्रम पैदा करना जैन समाज के लिए शुभ लक्षण नहीं है। इसी वर्ष मई-2001 के **'सम्यग्ज्ञान'**, अप्रैल-जून-2001 के **'अर्हत् वचन'** और दिसम्बर-2001 के **'जैन महिलादर्श'** में "**भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर**" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है, जो प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती माता जी द्वारा लिखित है। पुन: फरवरी-2002 के **'सम्यज्ञान'** के उक्त माता जी का ही "**बजी कुण्डलपुर में बधाई, वैशाली कहाँ से आई**" शीर्षक लेख भी छपा है। उक्त लेखों में पूज्य माता जी ने मगधदेश के "**कुण्डलपुर**" को विदेह का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जो उचित नहीं है। इसी प्रसंग में मेरा यह विनम्र प्रयास है।

यहाँ भगवान् महावीर के जन्म स्थान से सम्बद्ध शास्त्रीय उद्धरण मूलरूप में हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

1. सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
   देव्यां प्रियाकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभु:।।

   –आचार्य पूज्यपाद (5 वीं शती ई.) निर्वाणभक्ति, पद्य-4.

"भगवान् महावीर का जीव भारतवर्ष में विदेह (देश) के कुण्डपुर नगर में उत्तम स्वप्नों को दिखाकर प्रियकारिणी देवी और सिद्धार्थ राजा का पुत्र हुआ।"

2. अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रियः।। 2/1
तत्राखण्डलनेत्रालीपद्मिनीखण्डमण्डलम्।
सुखाम्भः कुण्डभाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम्।। 2/5

-जिनसेन (8 वीं शती ई.) हरिवंशपुराण, 2/1 एवं 5.पृ.12.

"अथानन्तर इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में लक्ष्मी से स्वर्ग-खण्ड की तुलना करने वाला, विदेह इस नाम से प्रसिद्ध एक बड़ा विस्तृत देश है। उस विदेह देश में कुण्डपुर नाम का एक ऐसा सुन्दर नगर है, जो इन्द्र के नेत्रों की पंक्तिरूपी कमलिनियों के समूह से सुशोभित है तथा सुखरूपी जल का मानो कुण्ड ही है।"

3. तस्मिन्षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति।
भरतेऽस्मिन्विदेहाख्ये विषये भवनांगणे।।
राज्ञः कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्प्रथु।
सप्तकोटिर्मणिः सार्धा सिद्धार्थस्य दिनम्प्रति।।

-आचार्य गुणभद्र (9 वी शती ई.), उत्तरपुराण, 74/251-52. पृ.460

"जब उसकी आयु छह माह की बाकी रह गई और वह स्वर्ग से आने को उद्यत हुआ तब इसी भरत क्षेत्र के विदेह नाम के देश सम्बन्धी कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के आँगन में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की बड़ी मोटी धारा बरसने लगी।"

विदेहविषये कुण्डसंज्ञायां पुरि भूपतिः।।
नाथो नाथकूलस्यैकः सिद्धार्थाख्यस्त्रिसिद्धिभाक्।
तस्य पुण्यानुभावेन प्रियासीत्प्रियकारिणी।। वही, 75/7-8.

"विदेह देश के कुण्ड नगर में नाथवंश के शिरोमणि एवं तीनों सिद्धियों से सम्पन्न राजा सिद्धार्थ राज्य करते थे। पुण्य के प्रभाव से प्रियकारिणी उन्हीं की स्त्री हुई थी।"

4. श्रीमानथेह भरते स्वयमस्ति धात्र्या पुंजीकृतो निज इवाखिलकान्तिसारः।
नाम्ना विदेह इति दिग्वलये समस्ते ख्यातः परः जनपदः पदमुन्नतानाम्।।

तत्रास्त्यधो निखिलवस्त्ववगाहयुक्तं भास्वत्कलाधरबुधैः संवृषं सतारम्।
अध्यासितं वियदिव स्वसमानशोभं ख्यातं पुरं जगति कुण्डपुराभिधानम्।।
उन्मीलितावधिदृशा सहसा विदित्वा तज्जन्म भक्तिभरतः प्रणतोत्तमांगाः।
घण्टा निनाद समवेतनिकायमुख्या दिष्टया ययुस्तदिति कुण्डपुरं सुरेन्द्राः।।

-असग (10 वीं शती ई.), वर्द्धमानचरित, 17/1, 7, 61

"अथानन्तर इसी भरतक्षेत्र में एक ऐसा लक्ष्मी सम्पन्न देश है जो पृथिवी की स्वयं इकट्ठी हुई अपनी समस्त कान्तियों का मानों सार ही है, जो समस्त दिशाओं में विदेह इस नाम से प्रसिद्ध है, तथा उत्तम मनुष्यों के रहने का उत्कृष्ट स्थान है।"

"तदनन्तर उस विदेह देश में कुण्डपुर नाम का एक जगत्-प्रसिद्ध नगर था जो स्वसदृश शोभा से सम्पन्न होता हुआ आकाश के समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार आकाश समस्त वस्तुओं के अवगाह से युक्त है, उसी प्रकार वह नगर भी समस्त वस्तुओं के अवगाह से युक्त था। तात्पर्य यह है कि "आकाशस्यावगाहः" इस आगम वाक्य से जिस प्रकार आकाश, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों को अवगाह देता है, उसी प्रकार वह नगर भी संसार के समस्त पदार्थों को अवगाह देता था- उसमें संसार के समस्त पदार्थ पाये जाते थे। जिस प्रकार आकाश-भास्वत्-सूर्य, कलाधर-चन्द्रमा और बुध ग्रहों से अध्यासित-अधिष्ठित है उसी प्रकार वह नगर भी भास्वत्कलाधर बुधों-दैदीप्यमान कलाओं के धारक विद्वानों से अधिष्ठित था - इस सबका उसमें निवास था। जिस प्रकार आकाश सवृष-वृष राशि से सहित होता है, उसी प्रकार वह नगर भी सवृष-धर्म से सहित था व जिस प्रकार आकाश सतार-ताराओं से सहित है उसी प्रकार वह नगर भी सतार-चाँदी, तरुण पुरुष, शुद्ध मोती अथवा मोतियों आदि की शुद्धि से सहित था।"

"खुले हुए अवधिज्ञान रूपी नेत्र के द्वारा शीघ्र ही जिन बालक का जन्म जानकर भक्ति के भार से जिनके मस्तक झुक गये थे तथा जिनके मुख्य भवन घण्टा के शब्द से शब्दायमान हो रहे थे। ऐसे इन्द्र उस समय सौभाग्य से कुण्डपुर आये।"

5. अथाऽस्मिन् भारते वर्षे विदेहेषु महर्द्धिषु।
आसीत्कुण्डपुरं नाम्ना पुरं सुरपुरोत्तमम्।।

-दामनन्दि (11 वीं शती ई) पुराणसारसंग्रह-2, वर्ध.च.4/1, पृ.188.

"अथानन्तर-इसी भरतक्षेत्र में विदेह नाम का समृद्धि-शाली देश है, वहां देवों के नगरों से भी बढ़कर कुण्डपुर नाम का नगर था।"

6. णिवसइ विदेहु णामेण देसु खयरामरेहिं सुहयर-पएसु।
तहिं णिवसइ कुंडपुराहिहाणु पुरुधय-चय-झंपिवे-तिव्व भाणु।।

-विबुध श्रीधर (12 वीं शती ई.) वड्ढमाण चरिउ, 9/1. पृ 198-99.

"उसी भारतवर्ष में विद्याधरों और अमरों से सुशोभित प्रदेश-वाला विदेह नामक एक सुप्रसिद्ध देश है, जहाँ सुन्दर धार्मिक लोग रहते हैं।"

-------- उसी विदेह देश में कुण्डपुर नामक एक नगर है, जिसने अपनी ध्वजा समूह से तीव्र भानु को ढक दिया था।"

7. चुत्वा विदेहनाथस्य सिद्धार्थस्याङ्.गजोऽजनि।
सोऽत्र कुण्डपुरे शक्रः कृत्वाभिषवणादिकम्।।

-प. आशाधर (13 वीं शती ई), त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, 24/24 पृ. 153.

"पुष्पोत्तर विमान (स्वर्ग) से च्युत होकर विदेह देश के राजा सिद्धार्थ व प्रियकारिणी के गर्भ से कुण्डपुर में महावीर नाम से जन्में। इन्द्र ने अभिषेकादि कार्य किये।"

8. अथेह भारते क्षेत्रे विदेहाभिध ऊर्जितः।
देशः सद्धर्मसंघाद्यैः विदेह इव राजते।।
इत्यादि वर्णनापेतदेशस्याभ्यन्तरे पुरम्।
राजते कुण्डलाभिख्यं ....।।

-सकलकीर्ति (15 वीं शती ई.), वर्धमान चरित, 7/2, 10.

"इसी भरतक्षेत्र में विदेह नामक शक्तिशाली देश है, जो सद्धर्म और सद्संघ आदि से विदेह की तरह शोभायमान है। इस प्रकार के वर्ण से युक्त देश में "कुण्डलपुर" नामक नगर है।"

9. बहु जनपद मीझार तु वीदेह देस रूपडो ए।
कुंडलपुर सोहि चंग तु पुरुष नामी जीम ए।
ते नयर तणु नाथ तु कासप गोत्र धणी ए।
सीधारथ भूप जाणंतु हरिवंस सिरोमणि ए।।
ते भूप तणी पटरांणी तु नाम प्रियकारिणी ए।

–महाकवि पद्म (16 वीं शती ई.) महावीररास, 14/6, 10, 16 एवं 21.

10. अथेह भरते क्षेत्रे विदेहविषये शुभे।
भूरिपुरादिसंयुक्ते भाति कुण्डपुरं पुरम्।

–मुनिधर्मचन्द्र (17 वीं शती ई.), गौतमचरित्र, 4/1.

"इसी भरतक्षेत्र में एक विदेह देश है जो कि बहुत ही शुभ है और अनेक नगरों से सुशोभित है। उसमें एक कुण्डपुर नाम का नगर है।"

11. अब यह आरजखण्ड महान्, देश सहस बत्तीस प्रमान।
तामें दक्षिण दिस गुणमाल, महा **विदेहा** देश रसाल।।
सो **विदेहवत है** समुदाय, सब शोभा ता कही न जाय।
कोई तप फल के परभाय, उपजें वर **विदेह** में आय।।
ताके मध्य नाभिवत जान, **कुण्डलपुर** नगरी सुख खान।
पुरपति महीपाल मतिमान, श्री सिद्धारथ नाम महान्।
तिनहिं भवन देवी महा, प्रियकारिणी वर नार।।
त्रिशला त्रस रक्षा करण, रूप अधिक परताप।।

–कवि नवलशाह, (18 वीं शती ई.) वर्धमानपुराण, 7/84, 85, 91, 103, 108, 109.

12. समण भगवं महावीरे णाते णातपुत्ते णायकुलविणिव्वते **विदेह विदहदिण्णे विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहे त्ति** कट्टु......।

आचाराग, 2/15 सूत्र-746 (ब्यावर संस्करण)

"अर्थात् श्रमण भगवान महावीर, जो कि ज्ञातपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे, ज्ञातकुल (के उत्तरदायित्व) से विनिवृत्त थे, अथवा ज्ञात कुलोत्पन्न थे, देहासक्ति रहित थे, विदेहजनों द्वारा अर्चनीय-पूजनीय थे, विदेहदत्ता (माता) के पुत्र थे, विशिष्ट शरीर-वज्रवृषभ-नाराच संहनन एवं समचतुरस्र

संस्थान से युक्त होते हुए भी शरीर से सुकुमार थे। (इस प्रकार की योग्यता से सम्पन्न) भगवान् महावीर तीस वर्ष तक विदेहरूप में गृह में निवास करके -------------।" वही पृ. 377.

13. समणे भगवं महावीरे ------------- नायपुत्ते नायकुलचंदे **विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसि** ----- कट्टु।

-कल्पसूत्र-सूत्र-110. पृ. 160 (प्राकृत् भारती संस्करण) जयपुर

"श्रमण भगवान महावीर --------- ज्ञातवंश के थे, ज्ञातवंश में चन्द्रमा के समान थे, विदेह थे, विदेहदिन्ना-त्रिशला माता के पुत्र थे, विशिष्ट कान्ति के धारक थे, विशिष्ट देह से अत्यन्त सुकुमार थे। वे तीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम में निस्पृह रहकर--------।" वही पृ. 161.

14. (क) अरहा णायपुत्ते भगवं वेसालीए वियाहिए।

-सूत्रकृतांग-1/2/3/22. पृ. 178 (ब्यावर सं.)

"इन्द्रादि देवों द्वारा पूजनीय (अर्हन्त) ज्ञातपुत्र तथा ऐश्वर्यादि गुण युक्त भगवान् वैशालिक महावीर स्वामी ने वैशाली नगरी में कहा था।

(ख) "नायपुत्ते भगवं वेसालिए"

-उत्तराध्ययन सूत्र, 6/18, पृ. 51. वीरायतन संस्करण, 1972.

"ज्ञातपुत्र भगवान वैशालिक (महावीर)।"

चुर्णि-"णातकलप्पसूते सिद्धत्थखत्तियपुत्ते।"

साध्वी चन्दना दर्शनाचार्य ने उक्त संस्करण में उक्त गाथा सूत्र के टिप्पण में पृ. 429 पर लिखा है--"भगवान् महावीर का विशाला अर्थात् वैशाली (उपनगर-कुण्डग्राम) में जन्म होने से उन्हें वेसालिए-वैशालिक कहा जाता है।"

15. अत्थेत्थ भरहवासे, कुण्डग्गामं पुरं गुणसमिद्धं।
तत्थ य नरिन्दवसहो सिद्धत्थो नाम नामेणं।

-विमलसूरि (पहली शती ई.) पउमचरियं, 2/21.

"इसी भरतक्षेत्र में गुण एवं समृद्धि से सम्पन्न कुण्डग्राम नाम का नगर

था। वहाँ पर राजाओं में वृषभ के समान उत्तम सिद्धार्थ नामक राजा राज्य करता था।''

16. सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं णयरम्मि **कुंडले** वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो।
-यतिवृषभ, (2 री शती ई.), तिलोयपण्णत्ति, 4/549.

''भगवान महावीर कुण्डलपुर में पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणी से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

17. अह चित्तसुद्धपक्खस्स तेरसीपुव्वरत्तकालम्मि।
हत्थुत्तराहिं जाओ कुंडग्गामे महावीरो।। आवश्यक निर्युक्ति, गाथा-304.

''चैत्रशुक्ल त्रयोदशी को रात्रि के पूर्वभाग में हस्त-उत्तरा नक्षत्र में कुंडग्राम में महावीर उत्पन्न हुए।''

18. अत्थि इह भरहवासे मज्झिमदेसस्स मण्डणं परमं।
सिरिकुण्डगामनयरं वसुमइरमणी तिलयभूयं।। नेमिचन्द्र सूरि, महावीर चरिय.

''इस भारतवर्ष (भरतवर्ष-क्षेत्र) के मध्यम देश का परम आभूषण और पृथ्वी रूपी रमणी का तिलकभूत श्रीकुण्डग्राम नामक नगर है।''

19. कुण्डपुरपुर वरिस्सर सिद्धत्थक्खत्तियस्य णाहकुले।
तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए।।28।।
-वीरसेन (9 वीं ई.) षट्खंडागम (धबला) पु. 9, खण्ड-4, भाग-1 पृ. 122
वही, कसायपाहुड (जयधबला), भाग-1, पृ. 78, गाथा-23.

''कुंडपुर (कुण्डलपुर) रूप उत्तमपुर के ईश्वर सिद्धार्थ क्षत्रिय के नाथ कुल में सैकड़ों देवियों से सेव्यमान त्रिशला देवी के----।''

20. आसाढ़ जोण्हपक्खछट्ठीए कुंडलपुर णगराहित्व-णाहवंस-सिद्धत्थणरिंदस्स तिसिलादेवीए गब्भमागंतूण तत्थ अट्ठदिवसाहिय णावमासे अच्छिय-चइत्तसुक्क-पक्खेतेरसीए उत्तराफग्गुणीणक्खत्ते गब्भादो णिक्खंतो।
-वीरसेन, (9 वीं शती ई.) षट्खण्डागम (धबला), पु 9, ख.4, भाग-1, पृ. 121.
-----''**कुंडपुर**''------वड्ढमाणजिणिंदो--शेष वही।

-वीरसेन (9 वीं शती ई.) कसायपाहुड (जयधवला), भाग-1, पृ. 76-77.

आषाढ़ शुक्ल पक्ष षष्ठी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की त्रिशला देवी के गर्भ में आकर और वहाँ आठ दिन अधिक नौ मास रहकर चैत्र शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में गर्भ से बाहर आये।''

21. इह जंबुदीवि भरहंतरालि। रमणीय-विसइ सोहाविसालि।।
कुंडउरि राउ सिद्धत्थ सहित्थु जो सिरिहरु मम्मण वेस रहिउ।।

-महाकवि पुष्पदंत, (10 वीं शती ई.) वीरजिणिंदचरिउ, 1/6, पृ. 10.

''इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विशाल शोभाधारी विदेह प्रदेश में कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ राज्य करते हैं। वे आत्म-हितैषी और श्रीधर होते हुए भी विष्णु के समान वामनावतार सम्बधी याचक वेष से रहित हैं।''

उक्त शास्त्रीय उद्धरणों से स्पष्ट है कि भगवान महावीर का जन्म विदेह देश के ''कुण्डपुर'' (कुण्डलपुर या कुण्डग्राम) में हुआ था, जो आज ''वासोकुण्ड'' नाम से जाना जाता है। महावीर का जन्मस्थान होने के कारण ही यहाँ सन् 1955 ई. में बिहार सरकार ने (स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन के आर्थिक सहयोग से) प्राकृत और जैनविद्या के उच्चतर अध्ययन-अनुसन्धान के निमित्त **''प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली''** की स्थापना की थी। संस्थान के भवन तथा जन्म स्थान वासोकुण्ड में महावीर स्मारक का शिलान्यास 23 अप्रैल 1956 को भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने किया था।

देश-विदेश के जैन-जैनेतर विद्वानों ने पिछले एक-डेढ़ सौ वर्षो में भगवान् महावीर के जन्म स्थान के विषय में खूब विचार किया है। उनमें से कतिपय विद्वानों का ससन्दर्भ उल्लेख यहाँ किया जा रहा है--------

विदेशी-विद्वान्

1. हर्मन जैकोबी, सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द-22, ऑक्सफोर्ड, 1884; एवं भारत-1964, पृ. 10-13 (जैन सूत्र, प्रथम भाग की भूमिका) तथा इन्सायक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द-7 पृ. 466.

2 डा. ए. एफ रूडोल्फ होर्नले, उवासगदसाओ के अंग्रेजी अनुवाद में, बिब्लियोथेका इण्डिका सीरीज, कलकत्ता, 1888. फुटनोट-8, पृ. 3-5.

3. डा. विसेन्ट ए. स्मिथ, जर्नल ऑफ दि रायल एशिएटिक सोसायटी, 1902, पृ. 267-288 तथा इन्साईक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द-12, पृ. 567-68, सन् 1921.

4 डॉ. टी. ब्लॉक, एक्सकैवेसन्स एट बसाढ, ऑर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया का वार्षिक विवरण, सन् 1903-4, पृ 81-122

5 श्रीमती सिक्लेयर स्टेवेन्शन, दि हार्ट ऑफ जैनिज्म, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1915, पृ. 21-22

6 डॉ. जाल चार्पेण्टियर, उपसाला विश्वविद्यालय, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, प्रथम भारतीय संस्करण, एस चांद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, जिल्द-1, पृ 140 सन् 1955.

7. डॉ डी. पी. स्पूनर, ऑर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया का वार्षिक विवरण, सन् 1913-14, पृ. 98-185.

8 जी पी मल्लाल शेखर, डिक्शनरी ऑफ पालिप्रोपर नेम्स, भाग-2, लन्दन, सन् 1938, पृ. 943 तथा भाग-1, पृ 64.

जैनेतर-विद्वान्

1 सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, ए हिस्टरी ऑफ इण्डियन फिलॉसफी वाल्यूम-1, कैम्ब्रिज, 1922, पृ 173

2 नन्दलाल दे, द ज्याग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शिएण्ट एण्ड मडिएवल इण्डिया, लदन, 1927, पृ 107

3 बी सी ला, महावीर: हिज लाइफ एण्ड टीचिंग्स, लंदन, 1937 पृ 19, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ 169-72

4. सर्वपल्ली डॉ राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसफी, वाल्यूम-1, इण्डियन एडीशन, 1940, पृ 291-92

5 राहुल सांकृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन, इलाहाबाद, 1944, पृ 492

6 डॉ राधाकुमुद मुकर्जी, 31 मार्च 1945 को प्रथम वैशाली महोत्सव का अध्यक्षीय भाषण, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ 6

7. श्री रामतिवारी, ब्र चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, आरा, सन् 1954, पृ 666-67

8. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, भारत के प्रथम राष्ट्रपति द्वारा प्राकृत जैन शास्त्र और अहिसा शोध सस्थान के भवन का शिलान्यास करते समय दिया गया भाषण, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 103, प्रथम संस्करण की भूमिका एव महावीर स्मारक लेख, 23 अप्रैल 1956 बासुकुण्ड, वैशाली।

9. श्री रगनाथ रामचन्द्र दिवाकर, राज्यपाल बिहार, 23 अप्रैल 1956 को बारहवे वैशाली महोत्सव क अवसर पर अध्यक्षीय भाषण, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ 116-17

10. डॉ. एस. मुकर्जी, वही, पृ 120.

11. प्रो राधाकृष्ण शर्मा, ब्र. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 597

12 पं नरोत्तम शास्त्री, वही पृ. 605.

13 डॉ सम्पूर्णानन्द, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ 394

14. योगेन्द्र मिश्र, एन अर्ली हिस्टरी ऑफ वैशाली, दिल्ली, 1962, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 251-59 तथा ब्र. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 669-76.
15. डॉ. वी. एस. अग्रवाल द्वारा लिखित (श्री विजयेन्द्र सूरि लिखित पुस्तक) की भूमिका एवं वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 108.
16. पं. बलदेव उपाध्याय, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 237-42.
17. टी. एन. रामचन्द्रन्, वही, पृ. 128-33.
18. जे. सी. माथुर, वही, पृ. 387.
19 डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, वही, पृ. 398-99.
20. श्री नागेन्द्र प्रसाद सिंह, वही, पृ. 471-72.
22. पं. बिहारी लाल शर्मा, "मंगलायतनम्", संस्कृत गद्य रचना, 2500 वाँ निर्वाण महोत्सव वर्ष 1975 मे वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी से प्रकाशित।

जैन-विद्वान्

1. ब्र. भूरामल शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागर) वीरोदय महाकाव्य, दूसरा सर्ग।
2 पं. मूलचन्द शास्त्री, वर्धमान चम्पू।
3. श्री चिमनलाल जे शाह, जैनिज्म इन नॉर्थ इण्डिया (800 बी सी से 526 एडी.) लॉगमेन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, 1932, पृ 23-24।
4 बाबू कामता प्रसाद जैन, "वैशाली" शीर्षक लेख, जैन सिद्धात भास्कर, वर्ष-3, 1936-36, पृ 48-52।
5. जे. एल. जैनी, आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म, कैम्ब्रिज, 1916, रिप्रिन्ट 1940 पृ 27।
6 प. कल्याणविजय गणि, श्रमण भगवान महावीर, शास्त्र सग्रह सतिति, जालोर, 1941 प्रस्तावना, पृ 25-28।
7 प. के भुजबली शास्त्री, "भगवान महावीर की जन्म भूमि" शीर्षक निबन्ध, जैन सिद्धांत भास्कर, 10/2, सन् 1943. पृ. 60'66।
8. विजेन्द्र सूरि, वैशाली (प्रथम एव द्वितीय सस्करण) सन् 1946, 1957, तीर्थकर महावीर, भाग-1, बम्बई, 1960, वैशाली अभिन्दन ग्रन्थ, पृ. 160 168 एव 264
9. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, लाईफ इन एन्शिएण्ट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन द जैन कैनन्स, बम्बई, 1947, पृ. 297.
10. पं. सुखलाल सघवी, अध्यक्षीय भाषण, नवम वैशाली महोत्सव 28 मार्च 1953, वैशाली अभिन्दन ग्रन्थ, पृ. 84-94.
11. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ब्र. चन्दाबाई अभिन्नदन ग्रन्थ, आरा 1954, पृ. 626.
12. श्री बी. सी जैन वही, पृ. 688
13. डॉ. हीरालाल, वैशाली अभिन्नदन ग्रन्थ, पृ. 97-98, प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध सस्थान वैशाली का कैलेण्डर, सन् 1961, सन् 1992 तथा वीरजिणिंद चरिउ की प्रसतावना।
14. आचार्य श्री हस्तिमल्ल जी महाराज, जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ 556 (उद्धत शोधादर्श-44, पृ. 59.)।

15. राष्ट्रसत आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज।
16. महासती चन्दना, उत्तराध्ययन सूत्र टिप्पण, वीरायतन संस्करण, 1972, पृ. 429.
17. कैलाशचन्द्र जैन, लॉर्ड महावीर एण्ड हिज टाइम्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1974, पृ. 34-37
18. श्री अजित प्रसाद जैन, शोधादर्श-44, पृ. 58-59.
19. डॉ. शशिकान्त, वही, पृ. 17.

उपर्युक्त सभी विद्वानों ने एक स्वर से विदेह देश में मौजूद वैशाली के समीपवर्ती कुण्डपुर (कुण्डलपुर, कुण्डग्राम) वर्तमान वासोकुण्ड को भगवान महावीर का जन्म स्थान माना है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग लिछुआड़ (जो अंग देश में था) को भगवान महावीर की जन्मभूमि मानते हैं, जो शास्त्रीय दृष्टि से मान्य नहीं है। उसी परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान् भी लिछुआड़ को भगवान महावीर का जन्म स्थान नहीं मानते। यहाँ दो विशिष्ट विद्वानों के मन्तव्य उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किये जा रहे हैं :-

श्वेताम्बर विद्वान् पुरातत्ववेत्ता पं. कल्याणविजय गणी का अभिप्राय इस प्रकार है-

''प्रचलित परम्परानुसार आज कल भगवान की जन्मभूमि पूर्व बिहार में क्यूल स्टेशन से पश्चिम की ओर आठ कोस पर अवस्थित लच्छआड़ गाँव माना जाता है पर, हम इसको ठीक नहीं समझते इसके अनेक कारण हैं-

1. सूत्रों में महावीर के लिए ''विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदंहसूमाले तीसं वासाइं विदेहं-सिकट्टु'' इत्यादि जो वर्णन मिलता है, उससे यह स्वत: सिद्ध होता है कि महावीर विदेह देश में अवतीर्ण हुए और वहीं उनका संवर्द्धन हुआ था। यद्यपि टीकाकारों ने इन शब्दों का अर्थ और ही तरह से लगाया है, पर शब्दों से प्रथमोपस्थित विदेह, विदेहदत्त, विदेहजात्य, विदेहसुकुमाल, तीस वर्ष विदेह में (पूरे) करके, इन अर्थवाले शब्दों पर विचार करने से यही ध्वनित होता है कि भगवान महावीर विदेह जाति के लोगों में उत्तम और सुकुमाल थे। एक जगह तो महावीर को ''वैशालिक'' भी लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि आपका जन्म स्थान क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक

विभाग रहा होगा।

2. जबकि भगवान ने राजगृह और वैशाली आदि में बहुत से वर्षों में चातुर्मास किए थे, तब क्षत्रियकुण्डपुर में एक भी वर्षाकाल नहीं बिताया। यदि क्षत्रियकुण्डपुर जहाँ आज माना जाता है, वहीं होता तो भगवान के कतिपय वर्षाकाल भी वहाँ अवश्य ही हुए होते, पर ऐसा नहीं हुआ। वर्षावास तो दूर रहा, दीक्षा लेने के बाद कभी क्षत्रियकुण्डपुर अथवा उसके उद्यान में भगवान के आने-जाने का भी कहीं उल्लेख नहीं है। हाँ, प्रारम्भ में जब आप ब्राह्मणकुण्डपुर के बाहर बहुसालचैत्य में पधारे थे, तब क्षत्रियकुण्डपुर के लोगों का आपकी धर्मसभा आने और जमालि के प्रव्रज्या लेने की बात अवश्य आती है।

भगवान महावीर बहुधा वहीं अधिक ठहरा करते थे जहाँ पर राजवंश के मनुष्यों का आपकी तरफ सद्भाव रहता। राजगृह-नालंदा में चौदह और वैशाली-वाणिज्यग्राम में बारह वर्षावास होने का यही कारण था कि वहाँ के राजकर्त्ताओं की आपकी तरफ अनन्य भक्ति थी। क्षत्रियकुण्डपुर के राजपुत्र जमालि ने अपनी जाति के पाँच सौ राजपुत्रों के साथ निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या ली थी। इससे भी इतना तो सिद्ध होता है कि क्षत्रियकुण्डपुर, जहाँ से कि एक साथ पाँच सौ राजपुत्र निकले थे, कोई बड़ा नगर रहा होगां तब क्या कारण है कि महावीर ने एक वर्षावास अपने जन्मस्थान में नहीं किया? इसका उत्तर यही है कि क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक उपनगर था और वैशाली-वाणिज्यग्राम में बारह वर्षावास-चातुर्मास हुए ही थे, जिनसे क्षत्रिय कुण्ड और ब्रह ब्राह्मणकुण्ड के निवासियों को भी पर्याप्त लाभ मिल चुका था। इस क्षत्रियकुण्ड में आने अथवा वर्षावास करने सम्बन्धी उल्लेखों का न होना अस्वाभाविक नहीं है।

3. भगवान् की दीक्षा के दूसरे दिन कोल्लाकसंनिवेश में पारणा करने का उल्लेख है। जैन सूत्रों के अनुसार कोल्लाकसंनिवेश दो थे- एक वाणिज्यगांव के निकट और दूसरा राजगृह के समीप। यदि भगवान का जन्मस्थान आजकल का क्षत्रियकुण्ड होता तो दूसरे दिन कोल्लाक में पारणा होना असम्भव था, क्योंकि राजगृहवाला कोल्लाकसंनिवेश वहां से कोई चालीस मील दूर पश्चिम

में पड़ता था और वाणिज्यग्रामवाला कोल्लाक इससे भी बहुत दूर। इससे यही मानना तर्कसंगत होगा कि भगवान् ने वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रियकुण्ड के ज्ञातखण्ड वन में प्रव्रज्या ली और दूसरे दिन वाणिज्यग्राम के समीपवर्ती कोल्लाक में पारणा की।

4. क्षत्रियकुण्ड में दीक्षा लेकर भगवान् ने कर्मारग्राम, कोल्लाकसंनिवेश आदि में विचर कर अस्थिकग्राम में वर्षा-चातुर्मास के बाद भी मोराक, वाचाला, कनकखल, आश्रमपद और श्वेताविका आदि स्थानों में विचरण के उपरान्त राजगृह की तरफ प्रवास किया और दूसरा वर्षावास राजगृह में किया था।

उक्तविहार-वर्णन में दो मुद्दे ऐसे हैं जो आधुनिक क्षत्रियकुण्ड असली क्षत्रियकुण्ड नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हैं। एक तो भगवान् प्रथम चातुर्मास के बाद श्वेताविका नगरी की तरफ जाते हैं और दूसरा यह कि उधर विहार करने के बाद आप गंगानदी उतर कर राजगृह जाते हैं।

श्वेताविका श्रावस्ती से कपिलवस्तु की तरफ जाते समय मार्ग में पड़ती थी। यह भूमि-प्रदेश कौशल के पूर्वोत्तर में और विदेह के पश्चिम में पड़ता था और वहाँ से राजगृह की तरफ जाते समय बीच में गंगा पार करनी पड़ती थी, यह भी निश्चित है। आधुनिक क्षत्रियकुण्डपुर के आस-पास न तो श्वेताविका नगरी थी और न उधर से राजगृह जाते समय गंगा ही पार करनी पड़ती थी। इससे ज्ञात होता है कि भगवान् की जन्मभूमि आधुनिक क्षत्रियकुण्ड जो आजकल पूर्व बिहार में गिद्धौर स्टेट में और पूर्वकालीन प्रादेशिक सीमानुसार अंग देश में पड़ता है, नहीं हैं, किन्तु गंगा से उत्तर की ओर उत्तर बिहार में कहीं थी और वह स्थान पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रिय-कुण्ड ही हो सकता है। (जैन सिद्धांत भास्कर, 10/2, सन् 1943, पृ. 63-65. उद्धृत - पं. के. भुजबली शास्त्री, भगवान महावीर की जन्मभूमि)।

स्व. आचार्य विजयेन्द्रसूरि ने अपनी पुस्तक "वैशाली" में भगवान महावीर के जन्मस्थान के विषय में जो निष्कर्ष निकाले, वे यथावत् रूप में इस प्रकार हैं-

''अब हम संक्षेप में इस परिणाम पर पहुँचते हैं----

1. आधुनिक स्थान जिसे क्षत्रियकुण्ड कहा जाता है और जिसे लिच्छुआड़ के पास बताया जाता है, मुंगेर जिला के अन्तर्गत है, महाभारत में इस प्रदेश को एक स्वतंत्र राज्य ''मोदगिरि'' के नाम से उल्लेख किया गया है, जो कि बाद में अंग देश से मिला दिया गया था अर्थात् प्राचीन ऐतिहासिक युग में यह स्थान विदेह में न होकर अंग देश अथवा मोदगिरि-अन्तर्गत था। इसलिए भगवान की जन्मभूमि यह स्थान नहीं हो सकती।

2. आधुनिक क्षत्रियकुण्ड पर्वत पर है, जबकि प्राचीन क्षत्रियकुण्ड के साथ शास्त्रों में पर्वत का कोई वर्णन नहीं मिलता। वैशाली के आस-पास क्योंकि पहाड़ नहीं है, इसलिए भी वही स्थान भगवान का जन्मस्थान अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

3. आधुनिक क्षत्रियकुण्ड की तलहटी में एक नाला बहता है, जो कि गण्डकी नहीं है। गण्डकी नदी आज वैशाली के पास बहती है।

4. शास्त्रों में क्षत्रियकुण्ड को वैशाली के निकट बताया है, जबकि आधुनिक स्थान के निकट वैशाली नहीं है।

5. विदेह देश तो गंगा के उत्तर में है, जबकि आधुनिक क्षत्रियकुण्ड गंगा के दक्षिण में है।

इससे स्पष्ट है कि भ्रांतिवश लिच्छआड़ के निकट पर्वत के ऊपर के स्थान को क्षत्रियकुण्ड मान लिया गया है। यहाँ भगवान का कोई भी कल्याणक-गर्भ, जन्म और दीक्षा नहीं हुआ।

शास्त्रों के अनुसार हमारी यह सम्मति है कि जो स्थान आजकल बसाढ़ नाम से प्रसिद्ध है, वही प्राचीन वैशाली है। इसी के निकट क्षत्रियकुण्ड ग्राम था, जहाँ भगवान के तीन कल्याणक हुए थे। इसी स्थान के निकट आज भी वणियागाँव, कूमनछपरागाछी और कोल्हुआ मौजूद हैं। आजकल यह क्षत्रियकुण्ड स्थान वासुकुण्ड नाम से प्रसिद्ध है। पुरातत्व विभाग भी वासुकुण्ड को ही प्राचीन क्षत्रियकुण्ड मानता है। यहाँ के स्थानीय लोग भी यही समझते हैं कि

भगवान का जन्म यहीं हुआ था।

(श्रमण-2001. मे प्रकाशित "वैशाली" नामक लेख, पृ. 46-47.)

पं. कल्याणविजय गणि और **आचार्य विजयेन्द्र सूरि** जी महाराज के उपर्युक्त निष्कर्ष से यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर का जन्म विदेह देशस्थ कुण्डपुर, जो वैशाली के समीप है, में हुआ था, लिछुआड़ (मुंगेर-अंगदेश) या कुण्डपुर (नालन्दा-मगध) देश में नहीं।

जैन, बौद्ध और **वैदिक** परम्परा के शास्त्रों में **अंग, मगध** और **विदेह** स्वतन्त्र देश बतलाये गये हैं। बृहत्कल्पसूत्र वृत्ति, प्रज्ञापनासूत्र, सूत्रकृतांग, टीका, प्रवचनसारोद्धार आदि में जिन आर्य देशों का उल्लेख है, उनमें अंग, मगध और विदेह की भी गणना है। बौद्धग्रन्थों में उल्लिखित सोलह महाजनपदों में भी इनका नामोल्लेख पाया जाता है। आदिपुराण में भी इनका पृथक्-पृथक् उल्लेख है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय में ये तीनों स्वतन्त्र देश रहे हैं। वर्तमान बिहार अंग, मगध और विदेह इन तीनों प्राचीन देशों का संयुक्त रूप है, केवल विदेह का नहीं। यहाँ उक्त तीनों देशों (जनपदों) की सीमाओं के विषय में विचार करते हैं।

अंग जनपद की सीमाओं के विषय में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री का यह कथन दृष्टव्य है- "चम्पेय जातक (506) के अनुसार चम्पानदी अंग-मगध की विभाजक प्राकृतिक सीमा थी, जिसके पूर्व और पश्चिम में यह दोनों जनपद बसे हुए थे। अंग जनपद की पूर्वी सीमा राजमहल की पहाड़ियाँ, उत्तरी सीमा कोसी नदी और दक्षिण में उसका समुद्र तक विस्तार था।" (आदिपुराण मे प्रतिपादित भारत, पृ. 44-45) अत: अंग देश का विस्तार पूर्व में राजमहल की पहाड़ियों तक, पश्चिम में चम्पा नदी तक, उत्तर में कोयी नदी तक और दक्षिण में समुद्र तक था।

प्राचीन काल में मगध देश गंगा नदी के दक्षिण में वाराणसी से मुंगेर तक फैला हुआ था, इसकी दक्षिणी सीमा दामोदर (दमूद) नदी के उद्गम स्थान कर्णसुवर्ण (सिंहभूम) तक मानी जाती थी। बौद्धकाल में मगध की सीमा पूर्व में चम्पा नदी, पश्चिम में शोण (सोन) नदी, उत्तर में गंगा नदी और दक्षिण

में विन्ध्य पर्वतमाला थी। (डिक्शनरी ऑफ पालिप्रोपर नेम्स, भाग-2, पृ. 403 एवं प्राड. मौर्य बिहार, पृ. 78)

मगध देश के सीमा विस्तार के सम्बन्ध में शक्ति संगम तन्त्र में इस प्रकार कहा है-

कालेश्वरं समारभ्य तप्तकुण्डान्तकं शिवे।
मगधाख्यो कालेश्वर-कालभैरव-नहि दुष्यर्ति।। 3-7-10.

अर्थात् कालेश्वर-कालभैरव-वाराणसी से लेकर तप्तकुण्ड-सीताकुण्ड-मुंगेर तक मगध नामक महादेश माना गया है।

ह्यान्-त्सांग के अनुसार, मगध जनपद की मण्डलाकार परिधि 833 मील थी। इसके उत्तर में गंगा नदी, पश्चिम में वाराणसी, पूर्व में हिरण्य पर्वत और दक्षिण में सिंहभूमि वर्तमान थी। ऋग्वेद और महाभारत में मगध को कीकट कहा गया है। शक्ति संगम के अनुसार मगध के दक्षिण में कीकट देश था।

विदेह देश के विस्तार के सम्बन्ध में शक्ति संगम तन्त्र के सुन्दरी खण्ड में इस प्रकार कहा गया है-

गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।
विदेहभूः समाख्याता तैरभुक्त्यभिया तु सा।।

अर्थात् तीरभक्ति कही जाने वाली विदेहभूमि गण्डकी (गण्डक नदी) के तीर से लेकर चम्पारण की अन्तिम सीमा तक फैली हुई है।

''शक्ति-संगम-तंन्त्र'' के ही प्रसंग से ''बिहार थ्रो द एजेज'' पृ. 55 पर लिखा है- ''फ्रॉम द बैन्क ऑफ गण्डक टू द फॉरेस्ट ऑफ चम्पारण द कन्ट्री वाज कॉल्ड, विदेह ऑर तीरभुक्ति, **इट वाज बाउन्डेड ऑन ईस्ट, वैस्ट एण्ड साउथ बाई थ्री बिग रिवर्स, द कोसी, गण्डक एण्ड गंगाज, वाइल द तराई रीजन्स फॉर्मड् इट्स नॉर्दर्न, बाउन्डरी,**'' अर्थात् गण्डक नदी के तट से लेकर चम्पारण पर्यन्त का स्थान विदेह अथवा तीरभुक्ति कहा जाता था। उसके पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में कोसी, गण्डक तथा गंगा-ये तीन बड़ी नदियाँ हैं और हिमालय का त्रराई क्षेत्र इसके उत्तर की ओर है।

बृहद्विष्णु पुराण में विदेह के तीरभुक्ति तथा मिथिला आदि बारह नाम

कहे गये हैं। इनमें से तीरभुक्ति या तिरहुत आज भी प्रसिद्ध है, इसी नाम से प्रमण्डल भी बना हुआ है। विदेह की सीमा के सूचक बृहद्विष्णु पुराण के मूलपद्य इस प्रकार हैं-

"गंगाहिमवतोर्मध्ये नदी पंचदशान्तरे।
तैरभुक्तिरिति ख्यातो देश: परमपावन:।।
कौशिकीं तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वे।
योजनानि चतुर्विंशत् व्यायाम: परिकीर्तित:।।
गंगाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम्।
विस्तार: षोडषट: प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दन:।।
मिथिला नाम नगरी तत्रास्ते लोकविश्रुता।
पंचभि: कारणै: पुण्या विख्याता जगतीत्रये।।" बृहद्विष्णुपुराण मिथिलामाहात्म्य, 2/5 10-12

अर्थात् गंगा नदी और हिमालय पर्वत के मध्य पन्द्रह नदियों वाला परमपवित्र तीरभुक्ति (विदेह) नामक देश है। कौशिकी (कोशी) से लेकर गण्डकी (गण्डक) तक विदेह की पूर्व से पश्चिम तक की सीमा 24 योजन (96 कोस) है। गंगा नदी से लेकर हैमवत वन (हिमालय) तक चौड़ाई 16 योजन (64 कोस) है। ऐसे विदेह अथवा तीरभुक्ति देश में तीनों लोकों के विख्यात पाँच कारणों से पुण्यशाली मिथिला नाम की नगरी है।

सम्राट् अकबर द्वारा महामहोपाध्याय मिथिलेश पंडित महेश ठाकुर के दान-पत्र में भी मिथिला की सह-सीमा गंगा से हिमालय तथा कोशी और गण्डकी नदी के बीच बताई गई है। मूल उद्धरण इस प्रकार है-" अज गंग ता संग अज कोसी ता गोसी"। (प क भुजबली शास्त्री, जेन सिद्धात भास्कर, 10/2 पृ 62, सन् 1943)

आचार्य विजयेन्द्र सूरि ने "वैशाली" नामक अपनी पुस्तक में उक्त उद्धरण दिया है, जिससे स्पष्ट होता है कि विदेह देश गंगा नदी से उत्तर दिशा में था- "गंगाया उत्तरत: विदेहदेश:। देशोऽयं वेदोपनिषत्पुराणगीयमानानां जनकाना राज्यम्। अस्यैव नामान्तरं मिथिला। राज्यस्य राज-धान्यपि मिथिलैव नामधेय बभूव।" (भारत-भूगोल, पृ 37)

इनके अतिरिक्त प्रो. उपेन्द्र ठाकुर, प्रो. कृष्णकान्त मिश्र, भवानी शंकर

त्रिवेदी, डॉ. देव सहाय त्रिवेद, डॉ. सावित्री सक्सेना आदि विद्वानों ने भी विदेह की उक्त सीमा को ही मान्य किया है।

यहाँ यह ध्यातव्य है वर्त्तमान बिहार केवल प्राचीन विदेह का पर्याय नहीं है, बल्कि अंग, मगध और विदेह, तीनों का संयुक्त रूप है। इनमें मगध और विदेह की विभाजक नदी गंगा नदी, अंग और मगध की विभाजक चम्पा नदी तथा अंग और विदेह की विभाजक कोशी नदी थी और इनकी भौगोलिक स्थिति प्रायः आज भी वैसी ही है। इसलिए इस भ्रांति से बचने की जरूरत है कि प्राचीन विदेह ही आज का बिहार राज्य है।

उपर्युक्त शास्त्रीय उद्धरणों, विद्वानों के विमर्श एवं मन्तव्यों, अंग, मगध और विदेह देशों (जनपदों) के सीमा सम्बन्धी विवरणों से स्पष्ट है कि भगवान महावीर का जन्म विदेह देश के कुण्डपुर (कुण्डलपुर या कुण्डग्राम) में हुआ था, जो इस समय वासुकुण्ड या वासोकुण्ड नाम से प्रसिद्ध है तथा मुजफ्फरपुर जिले के सरैया प्रखण्ड में है। यहाँ से प्राचीन वैशाली (बसाढ़) लगभग पाँच किलोमीटर की दूरी पर है। लिछुआड़ का समीपवर्त्ती क्षत्रियकुण्ड, जो मुंगेर जिले में है, तथा कुण्डलपुर (नालन्दा) भगवान महावीर का जन्मस्थान नहीं हैं, क्योंकि ये क्रमशः अंग और मगध देश में मौजूद हैं। समाज तो श्रद्धालु होता है, इसलिए विद्वानों, साधु संस्थाओं, समाज के नेतृत्त्व वर्ग से यह अपेक्षित है कि वह उसे भ्रम में न डालें। यदि पहले से समाज में कोई गलत धारणा बनी हुई है तो उसके विषय में उसे सावधान करें। मेरे इस लेख का उद्देश्य किसी की श्रद्धा को प्रभावित करना नहीं है, बल्कि समाज को यथार्थ की जानकारी देना है। अनेकान्तवादी जैन-दर्शन में आग्रह के लिए स्थान नहीं है।

-प्राध्यापक, प्राकृत और जैनशास्त्र,
प्राकृत, जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान
वैशाली (बिहार) - 844128.

आचार्य जिनसेन की दृष्टि में भोगवाद के दुष्परिणाम

-डॉ. सूरज मुखी जैन

आज विश्व में भोगवाद का बोलबाला है, मानव अधिकाधिक भोग सामग्री की प्राप्ति के लिये उचित-अनुचित किसी भी प्रकार धनार्जन करने की चिन्ता से प्रतिक्षण व्याकुल रहता है। रात-दिन ऊपरी दिखावा और ऐशो-आराम की सामग्री जुटाने की आपाधापी में उसके हृदय से पारस्परिक स्नेह, सौहार्द एवं सहानुभूति की सुखद भावनाएं लुप्त हो गयी है। अटूट धन सम्पत्ति की लालसा ने अपनों को पराया बना दिया है। धर्मप्राण भारत में खून की नदियां बह रही हैं। भाई-भाई के पिता-पुत्र के, पुत्र-पिता के, बेटा-मां के और मां-बेटे के खून से अपने हाथ रंग रहे है। गौ हमारी माता है, किन्तु आज धन प्राप्ति के लिये प्रतिदिन लाखों गायों की हत्या कर मांस का निर्यात किया जा रहा है। देश में नित्य नये कत्लखाने खुल रहे हैं, जहाँ अत्यन्त निर्दयता के साथ लाखों मूक पशुओं का वध किया जा रहा है। मांसाहार की प्रवृत्ति बढ़ रही है। सिल्क के कपड़े, चमड़े के जूते चप्पल, सुगन्धित इत्र तेल साबुन तथा सौन्दर्य-प्रसाधन की अन्य अनेक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये अनेक निर्दोष प्राणियों को हत्या कर हम अपनी अमानवीय इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु 'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता ही गया, की उक्ति चरितार्थ हो रही है। आज संसारिक दृष्टि से भी कोई व्यक्ति सुखी और सन्तुष्ट नहीं दिखाई देता। हमारे ऋषि-महार्षियों ने 'सन्तोष एव सुखस्य परं निधानं' कहकर हमें स्पष्ट निर्देश दिया है कि सुख का कारण भोगों का भोग नहीं अपितु सन्तोष है।

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में भोगवाद के दुष्परिणाम को दिखाते हुए कहा है-

प्रथम तो विषयों को एकत्र करने में जीव को महान् कष्ट होता है, किसी प्रकार वह एकत्र भी हो जाय तो उसकी रक्षा की चिन्ता से जीव दुखी रहता है और उसके आर्त्त परिणाम रहते हैं। यदि संचित किया हुआ धन या विषय सामग्री दुर्भाग्य से चोरी हों जाय या डकैती हो जाय अथवा अन्य किसी प्राकृतिक प्रकोप

के कारण नष्ट हो जाय तो असह्य दुःख होता है और पहले भोगे हुए विषयों को बार-बार स्मरण कर जीव दुखी होता रहता है। जिस प्रकार ईंधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती, नदियों के पूर से समुद्र की तृष्णा नहीं मिटती, उसी प्रकार विषयों के भोग से जीव को कभी तृप्ति नहीं होती। जैसे खारा जल पीकर मनुष्य की प्यास और अधिक बढ़ जाती है वैसे ही विषयों के भोग से मनुष्य की तृष्णा भी अधिक बढ़ जाती है।[1]

एक-एक इन्द्रिय की आधीनता के कारण होनेवाली जीव की दुर्दशा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि वनों में बड़े-बड़े जंगली हाथी जो अपने समूह के स्वामी होते हैं तथा अत्यन्त मदोन्मत्त रहते हैं, वे भी हथिनी के स्पर्श से मोहित होकर गड्ढों में फंस कर दुःखी होते देखे जाते हैं। विकसित कमलों से युक्त अत्यन्त स्वादिष्ट जलवाले तालाब में अपनी इच्छानुसार विहार करने वाली मछली रसना इन्द्रिय के वश में होकर बंसी में लगे हुए मांस की लालसा से अपने प्राण गंवा देती है। घ्राण इन्द्रिय के वश में होकर मदोन्मत्त हाथियों के मद की वास को ग्रहण करने वाला भौंरा गुंजार करता हुआ हाथियों के कर्णरूपी पंखों के प्रहार से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। वायु से हिलती हुई दीपक की शिखा पर पड़कर चक्षु इन्द्रिय की आधीनता के कारण पंतगे की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार अपनी इच्छानुसार जंगलों में विचर कर कोमल-कोमल स्वादिष्ट तृणों के अंकुर को चरनेवाली हरिणियां शिकारी के मधुर गीतों की ध्वनि से आकृष्ट होकर काल का ग्रास बन जाती हैं। जब एक-एक इन्द्रिय के विषय का सेवन अनेक दुःखों का कारण है तब पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त प्राणी का तो कहना ही क्या है।[2]

पुनः आचार्य कहते हैं कि जो औषधि रोग को जड़ से दूर न कर सके, वह औषधि औषधि नहीं है, जो जल प्यास को न बुझा सके, वह जल जल नहीं है, जो धन आपत्ति को दूर न कर सके, वह धन धन नहीं है, इसी प्रकार विषयभोग से प्राप्त जो सुख विषयों की इच्छा को नष्ट न कर सके, वह सुख नहीं सुखाभास ही है।[3] जिस प्रकार विकारयुक्त घाव होने पर उसे शस्त्र आदि से चीरने का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार विषयों की चाह रूपी रोग के उत्पन्न होने पर उसे दूर करने के लिये विषयसेवन किया जाता है, वह विषय सेवन सुख का कारण नहीं है, केवल इच्छारूपी रोग का प्रतीकार है।[4] जिस प्रकार खाज खुजलाते

समय सुख का अनुभव होता है, किन्तु बाद में दाह बढ़ जाने से कष्ट ही होता है, उसी प्रकार विषय-भोगों को भोगते समय तो सुख का अनुभव होता है किन्तु तृष्णा की वृद्धि होते रहने से अन्तत: वह दु:ख का ही कारण होता है।[5] जले हुए घाव पर गीले चन्दन का लेप कुछ समय आराम देता है किन्तु फोड़े के अन्दर का विकार दूर नहीं होने पर चन्दन का लेप स्थायी आराम नहीं देता, उसी प्रकार विषयी जीव को विषयसेवन करते समय सुख का आभास होता है किन्तु विषयों की चाहरूपी रोग के रहते हुए उसे स्थायी सुख नहीं मिलता।[6] दांतों से सूखी हड्डी चबाने वाले कुत्ते को रसास्वादन का कोई आनन्द नहीं मिलता, फिर भी वह हड्डी को चबाता रहता है उसी प्रकार विषयसेवन करने वाले की कभी सन्तुष्टि नहीं होती, फिर भी वह विषय सेवन में संलग्न रहता है और अपने को सुखी मानता है।[7]

अत: समस्त अनर्थपरम्परा को विषय भोगों से उत्पन्न हुआ जानकर तीव्र दु:ख देने वाली विषयों से राग को त्याग देना चाहिये।[8]

परद्रव्यों से प्राप्त होने वाला सुख सच्चा सुख नहीं है अपनी आत्मा से प्राप्त होनेवाला सुख ही नित्य, अविनाशी और सच्चा सुख है।[9] भोगों के भोग से प्राप्त होने वाला सुख पराधीन है उसमें अनेक बाधाएं उत्पन्न होती रहती हैं, बीच-बीच में व्यवधान उपस्थित होता रहता है और वह कर्मबन्ध का भी कारण है। अत: वह सुख, सुख न होकर दु:ख ही है।[10] बुद्धिमान् लोग उसी सुख को चाहते हैं, जिसमें चित्त सन्तुष्ट हो जाय, विषयासक्त जनों का चित सदैव विषय प्राप्ति के लिये व्याकुल रहता है। अत: वे कभी सुखी नहीं हो सकते।[11]

आज के भोगवादी मानव को भी सुख प्राप्ति के लिये अपने प्राचीन ऋषि-महार्षियों तथा आचार्यो द्वारा प्रतिपादित भोगों के दुपरिणाम को समझ कर अपनी असीमित इच्छाओं को नियमित कर भगवान महावीर के 'जियो और जीने दो' के आदर्श को ही अपनाना होगा अन्यथा सुखप्राप्ति के हेतु किये गये उसके सभी प्रयास निष्फल ही सिद्ध होंगे।

सन्दर्भ 1. आचार्य जिनसेन आदिपुराण 11/182, 183, 186, 2. वही 11/187 से 203 तक
3 आचार्य जिनसेन, आदिपुराण 11/168, 168, 4. वही 11/176, 5. वही 11/178, 6. वही 11/175
7 वही 11/185, 8. वही 11/211, 9. वही 21/208, 10 आचार्य जिनसेन आदिपुराण 11/173
11. वही 11/172

आचार्य श्री विद्यासागर कृत "मूकमाटी" में अभिव्यक्त -समाजवादी विचार-

-डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन "भारती"

श्रमण सन्त परम्परा के जाज्वल्यमान नक्षत्र आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज कृत "मूकमाटी" महाकाव्य एक महाकृति ही नहीं, बल्कि धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विचारों का ऐसा बीजक है जिसे वर्तमान में जिया जा सकता है, भविष्य में परखा जा सकता है और अतीत से जोड़ा जा सकता है। सन्त सहज होते हैं और उनका जीवन सहजता का प्रतिबिम्ब। वे न तो कानों सुनी कहते हैं न आँखों देखी बल्कि जिसे भोगा है, अनुभव किया है तथा शास्त्र और तर्क की कसौटी पर कसकर देखा है, उसे ही कहते हैं। इसीलिए उनके विचारों में गंगा जैसी ही नहीं, वरन् गंगोत्री जैसी पावनता होती है। "मूकमाटी" में माटी मूक नहीं होती बल्कि सम्पूर्ण रूप से मुखरित होती है। वह जन के मन को छूती है ओर तन को पावनता के चरम तक ले जाने की प्रेरक बन जाती है। व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि की कल्पना को सार्थक आयाम देती है। "मूकमाटी" में समाजवादी विचार यत्र-तत्र प्रसंगवश बिखरे हुए हैं, जिनकी सुरभि से आप भी सुरभित हो सकते हैं। "मूकमाटी" में व्यक्त समाजवादी विचारों पर दृष्टि डालने से पूर्व हमें उसके शब्दगत यथार्थ को समझना चाहिए। "समाजवाद" दो शब्दों से मिलकर बना है "समाज" और "वाद"। "वाद" का तात्पर्य है विचार या विचारधारा। अर्थात् ऐसी विचारधारा जिसका लक्ष्य समाज हित हो। "समाजवाद" के लिए अंग्रेजी भाषा में "सोशलिज्म" का प्रयोग किया जाता है जिसकी उत्पत्ति "सोश्यिस" शब्द से हुई है, जिसका अर्थ "समाज" होता है। अर्थात् इसका लक्ष्य भी समाज ही है। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री एफ. एच. गिडिंग्स का कथन है कि- "समाज स्वयं एक संघ है, संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का एक ऐसा योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति परस्पर सम्बन्धों द्वारा जुड़े रहते हैं।[1]

एच. पी. फेअर-चाइल्ड के अनुसार- "समाज मनुष्यों का एक समूह है जो अपने कई हितों की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग करते हैं, अनिवार्य रूप से स्वयं को बनाये रखने व स्वयं की निरन्तरता के लिए।[2]"

समाजवादी विचार उक्त समाज के लिए जन्मा जिसे समाज हित को सर्वोपरि माना। सन् 1827 ई. में प्रारम्भ हुआ यह शब्द आज एक विचारधारा बन चुका है और इसे व्यक्तिवाद, वर्गवाद के विरुद्ध प्रयुक्त किया जाता है। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के अनुसार-

"समाजवादी समाज एक ऐसा वर्गहीन समाज होगा जिसमें सब श्रमजीवी होंगे। इस समाज में वैयक्तिक सम्पत्ति के हित के लिए मनुष्य के श्रम का शोषण नहीं होगा। इस समाज की सारी सम्पत्ति सच्चें अर्थो में राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति होगी तथा अनर्जित आय और आय सम्बंधी भीषण असमानतायें सदैव के लिए समाप्त हो जायेंगी। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उसकी प्रगति योजनाबद्ध होगी और सब लोग सबके हित के लिए जीयेंगे।[3]"

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज "समाजवाद" को विभिन्न दृष्टिकोणो से "मूकमाटी में रखते हैं; उनकी दृष्टि में यह-

"अमीरों की नहीं
गरीबों की बात है
कोठी की नहीं
कुटिया की बात है।[4]"

अमीरी-गरीबी की खाई को चौड़ा करना समाजवाद नहीं, बल्कि समाजवाद तो इस खाई को पाटने में है। पीड़ा के अन्त से ही सुख का प्रारम्भ हो सकता है-

"पीड़ा की इति ही
सुख का अर्थ है।[5]"

चार वर्णों में समाज विभक्त है यथा-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रारम्भ में यह व्यवस्था कर्मणा थी। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि-

"कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होई खत्तिओ।

वइस्सो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा।[6]''

अर्थात् मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

किन्तु आज वर्ग व्यवस्था जन्मत: मान लेने से श्रेष्ठता के मायने भी बदल गये हैं। दलित-सवर्ण संघर्ष तथा भेदभाव के मूल में यही भावना है। आचार्य श्री ''वर्ण को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि-

''वर्ण का आशय
न रंग से है
न ही अंग से
वरन्
चाल-चरण, ढंग से है।[7]''

अर्थात् वर्ण का तात्पर्य न रंग से है और न ही शरीर से अपितु आचरण और जीवन पद्धति से है।

कर्मणा जीवन पद्धति को स्वीकारने वाला व्यक्ति दुखों से दूर रहता है। आचार्य श्री के अनुसार यदि गम (दु:ख) से डर हो तो श्रम से प्रेम करो-

''गम से यदि भीति हो
तो --- सुनो
श्रम से प्रीति करो।[8]''

श्रमशील व्यक्ति न तो किसी पर बोझ बनता है और न ही किसी पर अन्याय करता है। वह व्यष्टि के सुख में सुख नहीं, बल्कि समष्टि के सुख में सुख मानता है। ''वाद'' के पीछे मान होता है जो व्यक्ति को व्यक्ति से अलग कर देता है। आचार्य श्री का मानना है कि-

''पृथक्वाद का आविर्भाव होना
मान का ही फलदान है।[9]''

यह सही है। मनुष्य बनने के लिए संयमी होना आवश्यक है-

''संयम के बिना आदमी नहीं
यानी

आदमी वहीं है
जो यथा-योग्य
सही-आ---दमी है।[10]"

आज व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ बदल गयी हैं, उसके लक्ष्य बदल गए हैं, उसके सोच में परिवर्तन हुआ है; स्थिति यहाँ तक आ गयी कि उसे दूसरों के दुःख देखकर करुणा तो दूर, दर्द भी नहीं उभरता। ऐसे लोगों को पाषाण हृदय की संज्ञा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि-

"मैं तुम्हें हृदय शून्य तो नहीं कहूँगा
परन्तु
पाषाण-हृदय अवश्य है तुम्हारा
दूसरों का दुःख दर्द
देखकर भी
नहीं आ सकता कभी
जिसे पसीना
है ऐसा तुम्हारा
-----सीना।[11]"

व्यक्ति बुरा नहीं होता बुरे होते हैं उसके विचार। अतः विचारों को बदलना नितान्त आवश्यक है। लोक में प्रसिद्ध है कि "भावना भवनाशिनी" अर्थात् भावना संसार का नाश करने वाली होती है। सन्त, महर्षि, मुनि आदि सदा से इसी बात को कहते आए हैं-

"फिर भी
ऋषि-सन्तों का
सदुपदेश-सदोदश
हमें यही मिला कि
पापी से नहीं
पाप से,
पंकज से नहीं
पंक से

घृणा करो।
अयि आर्य!
नर से
नारायण बनो
समयोचित कर कार्य।[12]

अर्थात् ऋषि-सन्तों का सदा यही आदेशात्मक उपदेश मिला है कि पापी से नहीं, पाप से घृणा करो। पंकज (कमल) से नहीं बल्कि पंक (कीचड़) से घृणा करो। हे आर्य! (श्रेष्ठ पुरुष)। तुम समयोचित कार्य कर नर नारायण बनो।

भारतीय संस्कृति का आदर्श और कामना सूत्र रहा है-

सर्व भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ।।[13]

अर्थात् सभी सुखी हों, सभी आलस्य (प्रभाद) से रहित हों, सभी कल्याण को देखें, किसी को भी दुख नहीं हो। इसी कामना के साथ सदगृहस्थ देवपूजन के समापन पर विश्व शान्ति की कामना करता हुआ कहता है कि

''संपूजकों को प्रतिपालकों को यतीन को यतिनायकों को।
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेश को ले कीजै सुखी है जिन शांति को दे।।
होवै सारी प्रजा को सुख बलयुत हो धर्मधारी नरेशा।
होवै वर्षा समै पे तिलभर न रहे व्याधियों को अँदेशा।।
होवै चोरी न जारी सुसमय बरतै हो न दुष्काल मारी।
सारे ही देश धारैं जिनवर-वृषको जो सदा सौख्य कारी।।[14]

इतना ही नहीं, भारतीय संस्कृति में विश्वशांति की कामना के साथ-साथ ''विश्व बन्धुत्व'' और ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की भावना भी भायी गयी है, किन्तु आज के इस विषम दौर में धन-आधारित व्यवस्था के कारण इन भावनाओं ने या तो अपने अर्थ खो दिए हैं या अपने अर्थ बदल दिए हैं। ''धन'' जो कभी साधन था आज साध्य बन गया है। इस चिन्ता से प्रेरित ''मूकमाटी'' का रचनाकार लिखता है कि-

"वसुधैव कुटुम्बकम्"
इस व्यक्तित्व का दर्शन
स्वाद-महसूस
इन आँखों को
सुलभ नहीं रहा अब।
यदि यह सुलभ भी है
तो भारत में नहीं
महाभारत में देखो।
भारत में दर्शन स्वारथ का होता है।
------ हाँ - हाँ ।
इतना अवश्य परिवर्तन हुआ है कि
"वसुधैव कुटुम्बकम्"
इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य
धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।[15]"

और इस सोच के परिणामस्वरूप हमारी आध्यात्मिकता को ही नहीं, बल्कि समाजवादी स्वरूप को भी ठेस पहुँची है। धन-लिप्सा की दौड़ में व्यक्ति ने अपने सुख-चैन को तो खोया ही है, दूसरों के सुख-चैन को भी नष्ट कर दिया है। स्वयं के संचय के लिए वह दूसरों के मुँह का निबाला भी छीनने से नहीं डरता। आज व्यक्ति को सामाजिक बनाने के लिए धन के पीछे दौड़ने वाले पूँजीवादी दिमाग को परे करना पड़ेगा क्योंकि संसार में रहकर हमें संसार से मैत्री का भाव ही रखना चाहिए आखिर हम बैर करें भी तो किससे? यहाँ हमारा बैरी है ही कौन? बैर पशुप्रवृत्ति है मानवीय नहीं, मानव तो मैत्री भावना से बनता है। रचनाकार की कामना है कि-

"सबसे सदा-सहज बस
मैत्री रहे मेरी।
वैर किससे
क्यों और कब करूँ ?

यहाँ कोई भी तो नहीं है
संसार भर में मेरा बैरी।[16]''

असामाजिकता, अन्याय, उत्पीड़न और बैर भाव का बहुत बड़ा कारण हमारे नेतागण हैं, जिन्हें स्वार्थ ने अंधा बना दिया है। वे ''पद'' पर बैठकर पद के विरुद्ध आचरण करते हैं। अब राजा प्रजा का अनुरंजन न कर प्रजा का दोहन और शोषण करता है। वह बातें तो बड़ी-बड़ी करता है, किन्तु स्वयं वैसा आचरण नहीं करता। ''कथनी और करनी'' की इस भिन्नता ने नेतृत्व के प्रति आस्था को ही कमजोर नहीं किया, बल्कि कहीं-कहीं तो नेता को नायक से खलनायक की स्थिति में पहुँचा दिया है। आज सच्चे नेता कम और तथाकथित नेता अनगिनत हैं। स्वयं का आचरण पवित्र नहीं होने तथा नहीं दिखने के कारण ''समाज'' के बीच विश्वास कम हुआ है इसीलिए आचार्य श्री कामना करते हैं कि-

''पदाभिलाषी बनकर
पर पर पद-पात न करूँ,
उत्पात न करूँ
कभी भी किसी जीवन को
पद-दलित नहीं करूँ हे प्रभो।
आज पथ दिखाने वालों को
पथ दिख नहीं रहा है, माँ।
कारण विदित ही है-
जिसे पथ दिखाया जा रहा है
वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं
औरों को चलाना चाहता है
और
इन चालक, चालकों की संख्या अनगिन है।[17]''

''समाजवाद'' के लिए आवश्यक है कि समाज में समता ही नही, बल्कि समरसता भी हो, किन्तु देखने में आता है समाज में ''श्वान सभ्यता'' ने अपना घर बना लिया है। आज व्यक्ति कुत्ते की तरह अपनी ही जाति पर गुर्राता है। सिंह वृत्ति समाप्त हो गयी है जबकि राजा की वृत्ति पहले सिंहवृत्ति

मानी जाती थी और आज भी उसकी आवश्यकता है-

"श्वान-सभ्यता-संस्कृति की
इसीलिए निन्दा होती है
कि
वह अपनी जाति को देखकर
धरती खोदता है, गुर्राता है
सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है
राजा की वृत्ति ऐसी ही होती है
होनी भी चाहिए।[18]"

कोई भी विचार धारा जनभावनाओं पर अवलम्बित होती है।

जन भावना को दो रूपों में देखा जाता है एक सज्जनता के रूप में और दूसरे दुर्जनता के रूप में। यह सज्जनता और दुर्जनता क्या है, इस विषय में आचार्य श्री का मत है कि-

"एक-दूसरे के सुख-दुःख में
परस्पर भाग लेना
सज्जनता की पहचान है,
और
औरों के सुख देख, जलना
औरों के दुःख को देख, खिलना,
दुर्जनता का सही लक्षण है।[19]"

अर्थात् एक-दूसरे के सुख-दुख में भाग लेना सज्जनता है और दूसरों के सुख को देख जलना, ईर्ष्या करना तथा दूसरों के दुःखों को देख हर्षित होना दुर्जनता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति "कामायनी" में श्री जयशंकर प्रसाद जी कहते हैं कि-

औरों को हँसते देखो प्रभु हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ।।[20]

"समाजवाद" शोषण के विरुद्ध विचारधारा का नाम है। जब किसी विचारधारा में दृष्टि भेद समाहित होता है तो वैचारिक संघर्ष भी जन्मते हैं।

समाजवाद की सही प्रतिष्ठा न होने का कारण है वर्ग भेद, वर्णभेद, जाति भेद। किसी का अधिक पोषण किया जा रहा है तो दूसरी और अत्यन्त शोषण है जिसकी परिणति आतंकवाद में होती है-

"यह बात निश्चित है कि
मान को टीस पहुँचने से ही
आतंकवाद का अवतार होता है
अति पोषण या अति शोषण का भी
यही परिणाम होता है।[21]"

"आतंक" जब किसी "वाद" से अभिव्यक्त होने लगे तो समझना चाहिए कि समाज में कुछ लोग इसके समर्थक भी हैं। भले ही हम इन्हें "भ्रमित जन" की संज्ञा दे। "वाद" वही श्रेष्ठ है जिसमें हिंसा, असत्य और चोरी के लिए कोई अवकाश नहीं हो। यही कारण है कि नक्सलवादी भी अपने आपको अमीर-गरीब का भेद मिटाने वाला कहते हैं, किन्तु उनके हिंसक और चौर्य रूप के कारण समाज उन्हें मान्यता नहीं देता।

समाजवाद को फलने-फूलने के अवसर लोकतंत्र में अधिक होते हैं, किन्तु आज लोकतंत्र भी नाम के रह गए हैं। जिस तंत्र को "जन" का सेवक होना चाहिए था वह "जन" से अपने पैर पुजवा रहा है। "जनतंत्र" के पर्याय रूप में "धनतंत्र" "मनमाना तंत्र" "भीड़ तंत्र" जैसे नाम प्रचलित हो गए हैं। लोक पीछे छूट गया है। तंत्र लोक को हाँक रहा है फिर भी हम हैं कि जाग नहीं रहे हैं यहाँ तक कि "गणतंत्र" के स्वरूप को लेकर भी प्रश्न उभरने लगे है-

"कभी-कभी बनाई जाती कड़ी से और कड़ी छडी
अपराधियों की पिटाई के लिए।
प्राय: अपराधी जन बच जाते
निरपराध ही पिट जाते,
और उन्हें
पीटते-पीटते टूटती हम।
इसे हम गणतंत्र कैसे कहें ?

यह तो शुद्ध "धनतंत्र" है
या मनमाना "तंत्र" है।[22]"

जहाँ अपराधी की जगह निरपराधी सजा पाने लगें, रक्षक भक्षक बन जायें, राजा अपने धर्म से विमुख हो जायें, मंत्री चाटुकार और पदलिप्सु हो जायें, सेवक अवज्ञाकारी हों, वहां "समाजवाद" तो क्या सामजिक स्वरूप की कल्पना ही बेकार हो जाती है। किसी भी तंत्र की सफलता उसके प्रति जन आस्था से प्रभावित होती है किन्तु यदि उसी "जन" का विश्वास न्याय पर नहीं रहे तो "तंत्र" की सफलता खतरे में ही मानना चाहिए। आज के दौर में न्याय प्राप्ति चॉद-तारे तोड़ने जैसा प्रतीत होने लगा है क्योंकि न्याय लम्बित ही नहीं, बल्कि विलम्बित भी हो गया है परिणाम स्वरूप न्याय और अन्याय के बीच की विभाजक रेखा समाप्त सी हो गई है। "मूकमाटी" में इसी भाव की अभिव्यक्ति प्रसंगवश हुई है-

"आशातीत विलम्ब के साथ
अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्याय सा लगता ही है
और यही हुआ
इस युग में इसके साथ।[23]"

समाजवाद का एक लक्ष्य है सामाजिक असमानता को समाप्त कर विभेदक रेखाओं को समाप्त करना। तथाकथित पद-दलितों के उत्थान हेतु अनेकानेक सहयोगी योजनायें चल रही हैं, किन्तु अपेक्षित परिणाम सामने नहीं आ रहा है। कारण स्पष्ट है कि शरीर, अर्थ और शिक्षा की उन्नति से ही कोई व्यक्ति उन्नत नहीं बन सकता जब तक कि उसके संस्कार सात्विक हो-

"परन्तु! यह ध्यान रहे-
शारीरिक आर्थिक शैक्षणिक आदि
सहयोग मात्र से
नीच बन नहीं सकता उच्च
इस कार्य का सम्पन्न होना
सात्विक संस्कार पर आधारित है।[24]"

डॉ. केतकर का मत भी इसी बात से मेल खाता है। उनके अनुसार "जाति व्यवस्था नष्ट करने का तात्पर्य ब्राम्हणों को शूद्र बनाना नहीं, बल्कि शूद्रों को ब्राह्मण बनाना है।[25]"

"समाजवाद" की प्रबल विरोधी विचारधारा "पूंजीवाद" है।

जब पूँजी कुछ-एक लोगों तक सीमित हो जाती है तो अनेक लोगों को रोटी-कपड़ा-मकान जैसी मूल आवश्यकताओं से वंचित रहना पड़ता है। एक बार गांधी जी से एक मारवाड़ी सेठ ने पूछा कि- "आप सबसे टोपी लगाने के लिए कहते हैं यहाँ तक कि टोपी के साथ आपका नाम जुड़ गया है और लोग उसे गांधी टोपी कहने लगे हैं; फिर आप स्वयं टोपी न लगाकर नंगे सिर क्यों रहते हैं?

गांधी जी ने मारवाड़ी सेठ के प्रश्न को सुनकर उनसे उत्तर के स्थान पर प्रश्न किया कि- "आपने जो यह पगड़ी पहन रखी है इससे कितनी टोपी बन सकती हैं"?

मारवाड़ी सेठ ने उत्तर दिया- "बीस"

गांधी जी ने कहा कि "जब आप जैसा एक व्यक्ति बीस लोगों की टोपी अपने सिर पर रख लेता है तो उन्नीस लोगों को नंगे सिर रहना पड़ता है। उन्हीं उन्नीस लोगों में से मैं एक हूँ।

गांधी जी का उत्तर सुनकर मारवाड़ी सेठ निरुत्तर हो गया। बस पूंजीवाद में यही बुराई है वह दूसरों के अधिकार को हस्तगत कर लेता है। जैन धर्म में इसीलिए "अपरिग्रह" की अवधारणा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है ताकि पूंजीपति अपनी सम्पदा का स्वयमेव त्याग कर सकें। यहाँ गृहस्थ के लिए दान करना नित्यकर्म माना गया है। पूंजीवाद को अशान्ति का अन्तहीन सिलसिला बताते हुए आचार्य श्री विद्यासागर जी कहते है कि-

हे स्वर्ण कलश !
परतंत्र जीवन की आधारशिला हो तुम
पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम
और

अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला।[26]"

समाजवाद की प्रतिष्ठापना हेतु सामाजिक जनों को संघर्ष करना होना लेकिन यह ध्यान रहे कि तुम्हारा यह संघर्ष "संहार" में नहीं बदल जाये। पराजय का तात्पर्य मात्र हार मानकर बैठ जाना नहीं है बल्कि जीतने के लिए पुनः प्रयत्न करना है। निरन्तर जीवनोत्कर्ष से ही "उच्च" लक्ष्यों की प्राप्ति संभव होगी। कवि के ये शब्द प्रेरणा के द्योतक हैं-

"संहार की बात मत करो,
संघर्ष करते जाओ!
हार की बात मत करो
उत्कर्ष करते जाओ।[27]"

जब व्यक्ति समष्टि में अपनी पहचान खोजता है तब समाजवाद का जन्म होता है और जब अपने में समष्टि की पहचान खोजता है तो व्यक्तिवाद होता है। व्यक्तिवाद का लक्ष्य वैयक्तिक भोग साधनों की प्राप्ति करना है उसका विश्वास स्वयं के उत्थान पर आधारित है। वह सोचता है-

"स्वागत मेरा हो
मनमोहन विलासितायें
मुझे मिलें अच्छी वस्तुएँ-
ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी
फिर भला बता दो हमें,
आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी?
सबसे आगे मैं
समाज बाद में।[28]"

नितान्त वैयक्तिक धारणा तामसता है जिसके रहते "समाजवाद" के प्रति आस्था संभव ही नहीं है। समाजवाद सामाजिक विचारधारा से आयेगा। जहाँ यह सोच होगा कि मैं सबसे आगे और बाद में समाज वहाँ समाजवाद कैसे संभव होगा ?

"समाजवाद" में निहित धारणा को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि-

"अरे कम - से - कम

शब्दार्थ की ओर तो देखो !
समाज का अर्थ होता है समूह
और
समूह यानी
सम-समीचीन ऊह-विचार है
जो सदाचार की नींव है।
कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि
प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचार वालों का
जीवन ही समाजवाद है
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से
समाजवादी नहीं बनोगे।[29]''

जैसा कि समाजवाद शब्द से ही अर्थ ध्वनित होता है कि समाज यानी समूह यानी जिसके विचार सम्यक् हैं और जो सदाचार की नींव पर आधारित है ऐसा प्रचार-प्रसार से दूर श्रेष्ठ आचार और श्रेष्ठ विचार वालों का जीवन ही समाजवाद है। तात्पर्य यह है कि समाजवादी बनने के लिए अपने आचार-विचार को श्रेष्ठ बनाना होगा, मात्र समाजवाद-समाजवाद चिल्लाने से कोई समाजवादी नहीं बनेगा।

आज देखने में यही आ रहा है कि जो अपने लिए समाजवादी कहते हैं वे समाजवाद के निहितार्थ का स्पर्श भी नहीं करते। इस स्थिति पर समकालीन विचारधारा के कवि ''धूमिल'' का मंतव्य है कि-

''भूख और भूख की आड़ में
चबायी गयी चीजों का अक्स
उनके दाँतों पर ढूँटना
बेकार है। समाजवाद
उनकी जुबान पर अपनी सुरक्षा का
एक आधुनिक मुहावरा है।
मगर मैं जानता हूं कि मेरे देश का समाजवाद
मालगोदाम में लटकती हुई

उन बाल्टियों की तरह है जिस पर "आग" लिखा है
और उनमें बालू और पानी भरा है।[30]"

तात्पर्य स्पष्ट है कि आज समाजवाद का नारा पूंजीपतियों, भ्रष्ट राजनेताओं ने अपने सुरक्षा-कवच के रूप में अपना लिया है। वे गरीबों की भूख का सौदा करते हैं और वह भी उस शातिर बदमाश की तरह जो दुष्कृत्य तो करता है, किन्तु कोई सबूत नहीं छोड़ता। हमारे देश में समाजवाद उसी तरह खोखला हो गया है जिस तरह मालगोदाम में लटकी हुई बाल्टियां जिनके ऊपर आग लिखा होता है किन्तु अन्दर बालू और पानी भरा होता है। कथन से ही स्पष्ट है कि जो बाहर प्रदर्शित किया जाता है वह अन्दर नहीं होता और समाजवाद स्पष्टत: बाह्य और अन्तर की एकात्म व्यवस्था है। यदि भेद है तो समाजवाद हो ही नहीं सकता। यदि समाजवाद के लक्ष्यों को यथार्थ में पाना है तो आचार्य श्री के इन वचनों का समादर करना होगा कि-

"अब धनसंग्रह नहीं
जन संग्रह करो।
और
लोभ के वशीभूत हो
अंधाधुन्ध संकलित का
समुचित वितरण करो
अन्यथा
धनहीनों में
चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।
चोरी मत कर, चोरी मत करो
यह कहना केवल
धर्म का नाटक है
उपरिल सभ्यता ---- उपचार।
चोर इतने पापी नहीं होते
जितने कि
चोरों को पैदा करने वाले
तुम स्वयं चोर हो

चोरों को पालते हो
और
चोरों के जनक भी।[31]''

अर्थात् अब धनसंग्रह के स्थान पर जनसंग्रह करो यानी कि जिससे जनहित हो; ऐसे कार्य करो। लोभ के वशीभूत होकर जो तुमने अंधाधुंध संपदा एकत्र की है उसका समुचित वितरण करो। ऐसा नहीं होने पर धनहीनों (गरीबों) में चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं। चोरी मत करो, चोरी मत करो'' यह कहना केवल धर्म का नाटक, बाह्य सभ्यता मात्र बनकर रह गया है क्योंकि हमारा आचरण चोर बनने के लिए व्यक्तियों को प्रेरणा देता है। वास्तव में चोर इतने पापी नहीं होते जितने कि चोरों को पैदा करने वाले। जो संचयी हैं वे स्वयं चोर हैं, चोरों को वे ही पालते हैं और चोरों को उत्पन्न भी वे ही करते हैं इसलिए आवश्यक है कि हम अपनी सोच-विचार को बदलें। किसी शायर ने ठीक ही लिखा है कि-

''कोठियों से मत आँकिए मुल्क की मैयार।
असली हिन्दुस्तान तो फुटपाथ पर आबाद है।।''

''समाजवाद'' में क्रान्ति को कोई स्थान नहीं है यह तो पूरी तरह स्वैच्छिक शान्ति की व्यवस्था है जो ''महाजनो येन गतः सा पन्थः'' की नीति पर चलती है इसीलिए सच्चा समाजवादी भावना करता है कि-

''यहाँ ---- सब का सदा
जीवन बने मंगलमय
छा जावे सुख-छाँव
सबके सब टलें-
अमंगल भाव
सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो
गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे
आमूल महक उठें

-----बस।[32]"

अर्थात् यहाँ सबका जीवन मंगलमय बने, सबका कल्याण हो। सब पर सुख की छाया हो। सबके अमंगल दूर हो। सबकी जीवन रूपी लता हरी-भरी और खिली हुई हो उस पर गुण के फूल खिले हों। सबकी नाशा की आशा यानी सुगन्धि की चाह मिट जाये ताकि वह जीवन लता जड़ सहित महक उठे।

इस प्रकार "मूकमाटी" में आचार्य श्री विद्यासागर जी ने समाजवाद के उन रूपों, पक्षों का उद्घाटन किया है जिनके स्तम्भ और भित्तियों पर समाजवाद का महल खड़ा हो सकता है। सच्चे सामाजिक और समाजवादी बनने के लक्ष्य को सामने रखते हुए हमें विवेक-बुद्धि को जागृत करना चाहिए तथा भेद-भाव समाप्त करना चाहिए; यही कवि की धारणा भी "मूकमाटी" में मूक नहीं बल्कि मुखरित होती है-

"समाजवाद का लय हो
भेदभाव का अन्त हो
भेद-भाव जयवन्त हो।[33]"

सन्दर्भ

(1) प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी, प्र. 27, (2) डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी, प्र. 300
(3) द्रष्टव्य आधुनिक राजनीतिक विचारधारायें : पुखराज जैन, प्र 115
(4) मूकमाटी - 32, (5) वही - 33, (6) उत्तराध्ययन 25 - 31, (7) मूकमाटी - 47,
(8) वही - 355, (9) वही - 55, (10) वही - 64, (11) मूकमाटी - 50, (12) मूकमाटी - 51,
(14) जिनवाणी संग्रह (शान्ति पाठ) पृ. 521 से 522, (15) मूकमाटी - 82, (16) मूकमाटी - 105,
(17) मूकमाटी - 115, (18) वही 171, (19) मूकमाटी - 168, (20) कामायनी - ,
(21) मूकमाटी - 418, (22) मूकमाटी - 271, (23) मूकमाटी - 272, (24) वही - 273,
(25) निजी डायरी में संगृहीत विचार, (26) मूकमाटी - 366, (27) मूकमाटी - 432,
(28) मूकमाटी 460 - 461, (29) मूकमाटी - 461, (30) ससद से सड़क तक, 126-127,
(31) मूकमाटी - 467-468, (32) मूकमाटी - 478, (33) मूकमाटी - 474

-सम्पादक पार्श्वज्योति
हिन्दी विभाग,
सेवासदन महाविद्यालय, (बुरहानपुर) म. प्र.

महाकवि वीर : 'जंबुसामि चरिउ'

-डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन

भारत एक ऐसा विशाल देश है, जहाँ धर्म, सम्प्रदाय, जातियों की विविधता के बावजूद भी, अनेकता में एकता पायी जाती है। इसी विशेषता के कारण भारतीय संस्कृति की गणना विश्व की महान् संस्कृतियों में की जाती है। प्राचीन काल में भारत जगद्गुरु कहलाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक महाजागरण काल में हमें ऐसा लगने लगा था कि विश्व का आध्यात्मिक नेतृत्व, फिर से भारत के हाथ में आने वाला है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो दुनिया के दूसरे देशों के लोग भी यह सोचने लगे थे, कि भारत के पास कोई ऐसा सन्देश है, जिसमें समूची मानवता का हित निहित है। भले ही आज के अति भौतिकवादी युग में हम अपनी रोटी दूसरों के साथ बाँट कर खाने के बजाय, दूसरों की रोटी छीन कर खाने पर आमादा हों। भले ही उपनिषद् के ऋषि के "तेन त्यक्तेन भुंजीथा:" अर्थात् 'भोग भी त्याग के साथ करें', के सन्देश को हमने भुला दिया हो; पर फिर भी, यह बात सच है कि इन नवीन विश्व को, यदि कुछ पाना है, तो वह उसे प्राचीन भारत से ही प्राप्त हो सकता है। प्राचीन भारत से यहाँ अभिप्राय, हमारे ऋषि मुनियों द्वारा हमें सौंपी गई, उस आध्यात्मिक और साहित्यिक धरोहर से है, जो काफी जद्दो-जहद के बाद बड़े प्रयत्न-पूर्वक आज भी हमारे ग्रंथागारों में सुरक्षित है। इनमें से कुछ अमूल्य रत्न प्रकाश में आये हैं, और कुछ अभी प्रकाश में आने की बाट जोह रहे हैं।

इस साहित्य भण्डार की श्रीवृद्धि में जैन साहित्यकारों का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पर साहित्य के महाराथियों ने, उसे आँख उठाकर देखने की कृपा ही नहीं की। हिन्दी-साहित्य के एक नहीं, अनेक इतिहास प्रकाशित हुए, किन्तु उनमें जैन साहित्य का कहीं कोई उल्लेख नही मिलता जिसे देख कर यह पता चले कि जैन साहित्यकारों का भी कोई अनूठा साहित्य था। हिन्दी की उत्पत्ति की चर्चा में कहीं-कहीं अपभ्रंश का नाम लिया गया

है या फिर कहीं-कहीं कुछ जैन साहित्यकारों का नामोल्लेख मात्र करके चुप्पी साध ली जाती है। यही नहीं, कहीं-कहीं तो यह कह दिया गया है कि वह जैन धर्म से सम्बन्धित और साम्प्रदायिक है। जबकि साहित्यकार चाहे जिसे देश, जाति, धर्म या सम्प्रदाय का हो वह सत्य और सौन्दर्य की तह में प्रवेश करके, अपने मानस से भाव राशि के मोती चुनकर, उन्हें शब्दों की लड़ी में पिरोकर, शिव की साधना करता है।

जैन मतानुसार, 'साहित्य', 'श्रुतज्ञान' का अपरनाम है। जो मूलतः अर्ध-मागधी प्राकृत भाषा में था। मानवीय आवश्यकता के अनुरूप वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं में रचा गया। पूर्वाचार्यो की इस परम्परा और संस्कृति को अविच्छिन्न बनाये रखने वाले जैन मनीषियों ने भी साहित्य की अभिवृद्धि में अपना अमूल्य योगदान दिया। उनके द्वारा जो सुन्दर आत्मपीयूष से छल-छलाता हुआ साहित्य रचा गया, वही आज जैन साहित्य के नाम से अभिप्रेत है। जैनाचार्यों ने प्रारम्भ से ही, लोक भाषा को, अपने साहित्य का माध्यम बनाया। सातवीं-आठवीं शताब्दी में तो उन्होनें संस्कृत का पल्ला छोड़कर, अपभ्रंश भाषा में साहित्य का सृजन किया। यों तो 17 वीं शताब्दी तक अपभ्रंश रचनाएँ पायी जाती है, पर 10वीं, 11 वीं और 12 वीं शताब्दी तो अपभ्रंश भाषा की स्वर्ण युग रही है। इस अवधि में अपभ्रंश साहित्य विपुल परिमाण में रचा गया।

यही वि. सं. 1010 से 1075 तक का समय, महाकवि वीर का काल रहा है। कवि ने अपनी एक मात्र उपलब्ध कृति, 'जंबुसामि चरिउ' में उसके रचना काल का उल्लेख करते हुये माध शुक्ला दशमी वि. सं. 1973 में उसके पूर्ण होने की बात कही है-

> "विक्कमनिवकालाओं छाहत्तर दससएसु वरिसाणं।
> माहम्मि सूद्ध पक्खे दसम्मि दिवसम्मि संतम्मि।।2।।"[2]

जैसा कि कवि ने आगे प्रशस्ति में ही लिखा है कि बहुत से राजकार्यों में व्यस्त रहने के कारण उन्हें पूरा करने में एक वर्ष का समय लगा।[3] कवि के द्वारा उल्लेखित अपने समय की पुष्टि बाह्य साक्ष्य से भी होती है। उनकी इस कृति पर महाकवि पुष्पदंत का प्रभाव देखा जाता है तथा उनका समय वि. की

9 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं 10 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध रहा है। यही नहीं, कवि के परवर्ती, वि. सं. 1100 में हुये मुनि नयनंदि के 'सुदंसण चरिउ' पर कवि के 'जंबुसामि चरिउ' का प्रभाव भी इस काल की सिद्धि करता है। कवि ने अपनी इस कृति में जिन ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया है, उनसे भी इसका रचना काल यही सिद्ध होता है।[4] डॉ. हीरालाल जैन और डॉ. आ. ने. उपाध्ये भी इस कृति का अन्य कृतियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'जंबूचरियं' की रचना निश्चित ही वि. सं. 1076 में 'जंबुसामि चरिउ' के प्रणयन से अवश्य ही कुछ समय पूर्व ही हो चुकी होगी, तथा इसकी ख्याति से आकृष्ट होकर 'वीर कवि' ने इसका अध्ययन किया होगा।[5]

कवि ने 'जंबुसामि चरिउ' में अपना परिचय देते हुये लिखा है कि वह मालव देश के प्राचीन नगर सिद्ध वर्षों के पास गुलखेडी/गुलखेड गाँव के निवासी लाड वग्ग वंशीय महाकवि देवदत्त की पत्नी, 'संतुवा' की कोख से जन्मे प्रथम पुत्र थे। इनके अलावा इन के तीन छोटे भाई और भी थे, जिनके नाम साहिल, लक्षणीक तथा जईस थे। कवि के चार विवाह हुये थे। उनकी चारों पत्नियों के नाम - जिनमती, पद्मावती, लीलावती और जयादेवी थे। इनमें से पहली पत्नी 'जिनमती' से कवि को 'नेमिचन्द्र' नामक पुत्र की प्राप्ति हुई।[6] 'जंबुसामि चरिउ' के अध्ययन से पता चलता है कि कवि का अध्ययन बहुत विशद था। उन्होंने पतंजलि के व्याकरण महाभाष्य पर कैयट द्वारा रचित 'प्रदीप' नामक प्रख्यात टीका से शब्द शास्त्र का, छन्द शास्त्र का[7], नामकोश का, तर्कशास्त्र का गहन अध्ययन किया। इसके अलावा उन्होंने प्राकृत काव्य 'सेतबन्धु' का भी विशेष अध्ययन किया। बाल्मीकि रामायण[9] और महाभारत[10] तथा शिवपुराण आदि का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। जैनागम के चारों अनुयोगों में भी उनका अच्छा अध्ययन था। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र[11] आदि प्राचीन ग्रथों का तथा अन्य शास्त्रीय लक्षण ग्रथों का भी उन्होंने तलस्पर्शी अध्ययन किया था। अपने पूर्ववर्ती कवियों-महाकवि कालिदास और पुष्पदन्त आदि के साहित्यिक गुण उन्हें परम्परा से प्राप्त थे। वे बाण आदि प्रख्यात लेखकों की कृतियों से भी सुपरिचित थे। कवि के अध्ययन सम्बन्धी इस विस्तृत विवरण से स्पष्ट है कि वे संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में भी काव्य रचना करने में

पूर्ण निष्णात थे, पर अपने पिता के, मित्र की, प्रेरणा और आग्रह पर, आपने 'जंबुसामि चरिउ' की रचना तत्कालीन लोकभाषा अपभ्रंश में ही की।

कवि को प्राचीन साहित्य में तो जंबुस्वामी के चरित्र से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री अत्यन्त संक्षिप्त रूप में ही प्राप्त हुई; परन्तु उसी नींव पर उन्होंने अपनी कल्पना और काव्य प्रतिभा के बल पर 'जंबुसामि चरिउ' नामक इस महाकाव्य की रचना की कवि की इस कृति की कथावस्तु का आधार, कवि गुणपाल की प्राकृत भाषा की रचना 'जंबुचरियं' रही है। इसके अलावा अन्य पूर्ववर्ती कृतियों में पायी जाने वाली सामग्री में ही परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन करके वीर कवि ने अपनी इस कृति को एक चरित्रात्मक महाकाव्य का रूप प्रदान किया है। उन्होंने इसकी कथावस्तु 11 संधियों में विभाजित की है। ग्रंथ के आरम्भ में मंगलाचरण करके, अपने अध्ययन की बात कहता हुआ, विनम्रता प्रदर्शित करता है। प्रथम तीन संधियों में कवि ने भवदत्त और भवदेव के जन्म जन्मान्तरों का वर्णन किया है। चौथी संधि से जंबुस्वामी की कथा का आरम्भ हो जाती है। पाँचवीं संधि से सातवीं तक कवि ने जंबुस्वामी की वीरता तथा चार कन्याओं के साथ उनके विवाह का वर्णन किया है। आठवीं संधि में बसन्त क्रीड़ा, हाथी का उपद्रव तथा युद्ध वृत्त आदि का वर्णन है। इस के बाद कवि ने काव्य के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुये कथा सूत्र को आगे बढ़ाया है। इसी में सुधर्मास्वामी से भवदत्त और भवदेव के पाँचो भवों (जन्मों) का वर्णन सुनकर विरक्त हुये जम्बुस्वामी को चारों पत्नियाँ वश में करने का प्रयास करती हैं। नौवीं संधि में भी इसी परस्पर कथा-वार्ता का क्रम चलता है। दशवीं संधि में विद्युच्चर भी उन्हें भोगों की ओर प्रेरित करने का विफल प्रयास करता है, पर जंबुस्वामी दीक्षा ग्रहण कर मुनि बन जाते है। उनके माता-पिता और चारों पत्नियाँ भी साधना के मार्ग पर चल पड़ते है। इसी संधि में सुधर्मा स्वामी के निर्वाण, जंबूस्वामी कैवल्य और निर्वाण का भी वर्णन किया है। ग्यारहवीं संधि में विद्युच्चर की साधना के द्वारा सर्वार्थ सिद्धि गमन का भी वर्णन है। अन्त में कवि ने प्रशस्ति के अन्तर्गत अपना परिचय तथा कृति के रचना काल आदि का उल्लेख किया है। इस कृति में अन्तर्कथाओं ने मूल कथा वस्तु को गति प्रदान करने के साथ-साथ कथा वस्तु की मूल धारा को आवश्यक मोड़ देने में बड़ी सहायता की है। कहीं-कहीं वे भावी घटनाओं का संकेत भी देती हैं। वे नायक के चारित्रिक गुणों का उद्घाटन करते हुए, कवि को अपने निश्चित उद्देश्य तक पहुंचाने में

सफल बनाती है। इन्हीं के कारण उसे उपदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

'काव्य' और 'महाकाव्य' की कसौटी पर भी कवि का 'जंबुसामि चरिउ' चरित-नामान्तक महाकाव्य पूरी तरह खरा उतरता है। भावयोजना की दृष्टि से इसे प्रेमाख्यानक महाकाव्य कहा गया है।[12] इसका आरम्भ बड़े भाई के द्वारा छोटे भाई भवदेव के अनिच्छा पूर्वक दीक्षित कर लिये जाने से प्रिय-वियोगजन्य विप्रलंभ शृंगार से होता है। पर अन्त में शान्त रस में परिणत हो जाता है। कवि ने इस कृति में मुख्य रूप से वीर, बीभत्स, रौद्र, भयानक एवं शान्त रसों की योजना की है। इसके अलावा अद्‌भुत, करुण और हास्य रस के अंश भी इस काव्य में मिलते तो है, पर बहुत ही थोड़ी मात्रा में। कवि ने स्वयं भी अपनी इस रचना का शृंगार वीर रसात्मक महाकाव्य कहा है। कवि की रस योजना का आनन्द लेने के लिये इस कृति के कुछ प्रमुख प्रसंग हष्टव्य हैं- वियोग ृंगार-मिथुनों की उद्यान क्रीड़ा,[13] संयोग शृंगार-जम्बू की प्रव्रज्या के समाचार से विचलित माता की मनोदशा,[14] शान्त रस-भवदेव का अन्तर्द्वन्द्व[15], भगवान महावीर का उपदेश[16] तथा संधि तीन सम्पूर्ण तथा संधि आठ, ग्यारह भी लगभग पूर्ण। वीर रस-युद्ध वर्णन में[17], भयानक और बीभत्स रस क्रमशः युद्ध वर्णन और विद्युच्चर मुनि के ऊपर दैवी उपसर्ग के प्रसंगो में[18] मिलता है, रसों के साथ ही काव्यत्व उत्पन्न करने हेतु, कवि ने यथा-स्थान अलंकार, गुण और रीतियों की भी सुंदर योजना की है। अलंकारों में कवि ने अनुप्रास, यमक[19], उपमा, रुपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है। वसन्त ऋतु में मिथुनों की उद्यान क्रीड़ा में उत्प्रेक्षा की छटा देखते ही बनती है।[20] रूपक का प्रयोग तो कवि ने इस कृति में आद्योपांत किया है। छन्दों की दृष्टि से इसकी रचना प्रमुख रुप से 16 मात्रिक छन्दों में हुई है। कवि ने माधुर्य-भवदेव का पत्नी स्मरण (2.14), ओज-हाथी का उपद्रव (4.21) युद्धवर्णन (5.14, 6.11) और प्रसाद सभी गुण का प्रयोग किया है। प्रसाद गुण के तो शताधिक उदाहरण मिलते है।

कुछ प्रमुख सन्दर्भ- कवि का विनय प्रदर्शन (2.2) मगध देश का वर्णन (1.8) रानियों का सौन्दर्य (1.12), वसन्त आगमन (4. 15.7-16) जंबूस्वामी का आत्म-चिन्तन (9.1) आदि। इस प्रकार हम देखते है कि कवि की यह कृति गुणयुक्त और दोषमुक्त है। रचना शैली की दृष्टि से 'जंबुसामि चरिउ'

की रचना किसी एक शैली में नही हुई। दूसरी संधि का अधिकांश भाग जहाँ वैदर्भी शैली में है, तो जंबुस्वामी की माता के सपने, वसन्त आगमन पर उद्यान का सौन्दर्य तथा तीसरी संधि का अधिकांश भाग वैदर्भी की और झुकती हुई पांचाली शैली में है। इसी प्रकार हाथी का उपद्रव, युद्ध एवं विद्युच्चर का देशदर्शन गौडी रीति में रचा गया है। कवि ने अपनी इस कृति में सुभाषित और लोकोक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग किया है।

कुछ उदाहरण देखिये-चन्द्रमा की किरण कौन छू सकता है। (5.4.12); सूर्य के घोड़े की गति को कौन रोक सकता है। (5.5.1); यमराज के भैंसे के सींग को कौन उखाड़ सकता है। (3.5.2) यही नहीं, कवि ने कहावतों का भी सुन्दर प्रयोग किया है। मूर्ख किसान (9.4), विद्याधर (9.6), सर्प (9. 10) आदि प्रसंगों में उस की यह कला द्रष्टव्य है। कवि की 'जंबुसामि चरिउ' नामक इस कृति में महाकाव्य के सभी लक्षण-इतिवृत्ति, वस्तु व्यापार वर्णन, संवाद एवं भाव व्यंजना ये चारों अवयव सन्तुलित रूप में घटित हुये है। कवि ने जीवन की समग्रता का चित्रण कई जन्मों की कहानी का आलम्बन लेकर किया है। कृति की भाषा व्याकरण सम्मत अपभ्रंश है। इस में संस्कृत और प्राकृत के शब्द ही नहीं मिलते, बल्कि पहली संधि के अन्त में संस्कृत के कुछ श्लोक तथा पाँचवी संधि के 11वें कडवक में एक आर्या मिलती है। प्राकृत की तो अनेक गाथाएँ ही प्रत्येक संधि के प्रारम्भ में मिल जाती हैं। संक्षेप में इसमें श्रुति मधुर शब्द, अर्थ गाम्भीर्य (1.2.1, 8.18) अर्थगत स्पष्टता और अर्थ सौन्दर्य (7.14) आदि कई विशेषतायें देखने को मिलती है।

अपनी इस कृति में कवि ने तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का भी वर्णन किया है। धर्म के नाम पर यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी। लोगों की तंत्र-मंत्र में आस्था थी। समाज में विभिन्न वर्णो के द्वारा संपादित किये जाने वाले कार्यो की चर्चा करते हुये कवि ने ब्राह्मणों को वैदिक साहित्य का अध्ययन करने वाला कहा है, क्षत्रियों का मुख्य कार्य युद्ध में लड़ना था, वैश्यों का मुख्य व्यवसाय-व्यापार या वाणिज्य था। उस समय जल और थल दोनों ही मार्गों से व्यापार होता था। (8.3.9) 'जंबुसामि चरिउ' में 'शूद्र' का उल्लेख न होकर एक अन्तर कथा (10.12.27) में मेहतर के लिये कर्म कार/कर्मकर, शब्द आया है (10.15-27)। शिक्षा गुरुगृह में रहकर ही प्राप्त

की जाती थी। विवाह व्यवस्था थी (2.9.10) भवदेव को नागवसु से विवाह, जंबूस्वामी का चार कन्याओं से विवाह। कवि ने उस युग के ग्राम जीवन व नगरीय जीवन की भी चर्चा की है। नगरों में ऊँचे गवाक्ष युक्त प्रासाद, ऊँचे देवालय, दानशालायें (3.3.1) द्यूत गृह (8.3.13) वेश्या गृह (3.2.5-6) आदि थे। ग्राम्य जीवन की झलक मगध के 'वर्धमान' गाँव के प्रसंग में मिलता है। यहां की रमणियां बहुत सुन्दर थी। ब्राह्मण समूह मिलकर वेद पाठ करते थे। नवदीक्षित पुरोहित पशुहोम करते थे और प्रतिदिन खूब सोम पान करते। यहां बड़े-बड़े सरोवर थे। महुए के वृक्ष बहुतायत से पाए जाते थे। धान की खेती होती थी। नागरिक श्रद्धालु और सम्पन्न थे। साधारण दरिद्रों के जीवन का भी चित्रण कवि की इस कृति में मिलता है। कवि के द्वारा दी गई समकालीन ऐतिहासिक घटनाएँ भी तत्कालीन इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालती है। कुल मिलाकर यह एक श्रेष्ठ कृति है।

सन्दर्भ सूची

(1) कामता प्रसाद जैन, 'हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास',

(2) 'जबुसामि चरिउ' प्रशस्ति, पद्य सं. 2 पृष्ठ स 232, (3) वही, पद्य सं. 5, पृष्ठ स 232,

(4) 'जंबुसामि चरिउ', प्रस्तावना, पृष्ठ स. 16-17, (5) वही, प्रस्तावना, पृष्ठ सं. 35,

(6) 'जबुसामि चरिउ' प्रशस्ति पद्य सं 6-8, पृ स. 232, (7) वही, 2.3.3, (8) वही, वही,

(9) वही, 1.3 4;, 3.12 1-2;, 5.8.33-34, (10) वही, 5.8.31-32, (11) वही, 3 1.3-4,

(12) वही, प्रस्तावना पृ. सं. 92, (13) वही, 4.17-18, (14) वही, 8.7, 9.14 (15) वही 2.66,

(16) वही, 2.1, (17) वही, 6.7 5-7, 6; 10.4; 1 4; 7.1.9-22, (18) वही, 10.26.1-4,

(19) वही, 2.6 2.7, 3.24-9, (20) वही 4 16.11-12

सदस्य
निदेशक मण्डल,
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर
'तृप्ति निवास' - 107, गली नं. 3,
तिलक नगर, इन्दौर-452018
दूरभाष - 0731-490619

ऋषभ नगर (मरसलगंज) का जैन मन्दिर

-सुरेशचन्द्र जैन बारोलिया

अनेकों वैभवपूर्ण, चमत्कारी गाथाओं से घिरी हुई उत्तर प्रदेश की प्रमुख सुहागनगरी फिरोजाबाद से 21 किलोमीटर दूर श्री दि0 जैन अतिशय क्षेत्र ऋषभ नगर, मरसलगंज जहां हजारों की संख्या में दुखी मानव जीवन की मनोकामनाओं की पूर्ति और परिणामों में शान्ति प्राप्ति के लिए आते रहे हैं। दुख: के इस वातावरण में जब कि प्रत्येक बन्धु किसी न किसी रूप से दुखी है उसी दुखी वातावरण में शान्ति प्रदान करने के लिये ये मन्दिर दुखी मानव की शरणस्थली है। इस महामनोहर प्राचीन क्षेत्र का ऐसा अतिशय है कि यहां के भव्य जिनालय में प्रवेश करते ही प्रत्येक यात्री को शान्ति एवं निराकुलता का अनुभव होता है तथा अनेकों शुभ संकल्प पूर्ण होते हैं।

ऋषभनगर के इस महान् अतिशय चमत्कारी जैन मन्दिर में दिगम्बरत्व के महान सन्तों के पावन चरण पड़े बिना नही रह सके जिनमें सन् 1957 में चरित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्ति सागर जी (दक्षिण) प्रमुख है। उनकी स्मृति में यहां शिखर युक्त स्मारक सुन्दर तालाब-बगीचे आदि का निर्माण हुआ। 18 भाषा-भाषी आचार्य महावीर कीर्ति जी, सन्मार्ग दिवाकर आचार्य विमलसागर जी, अर्यिकारत्न विशुद्धमति माताजी, बालाचार्य नेमीसागर जी, बालयोगी मुनि अमित सागर जी आदि अनेकों सन्तो ने इसे भूमि से चरण को स्पर्श कर अपने को धन्य किया है। इन सन्तों ने इस तीर्थ को महान् चमत्कारी एवं त्यागियों के ध्यान करने योग्य बताया है।

मन्दिर के निर्माण एवं प्रतिष्ठा की अनेकों चमत्कारी घटनाएँ है। ईसा की पन्द्रहवीं सदी में दक्षिण दिशा वासी गौड विप्रवर्ण दिगम्बर जैन धर्मालम्बी तथा अनेकों मंत्र-तन्त्र के ज्ञाता पूज्य बाबा 105 श्री ऋषभदास जी का यकायक विहार करते हुये इस पुण्यभूमि पर शुभागमन हुआ बाबा केवल एक चद्दर व

लंगोटी के परिग्रह के धारक थे। उस समय मरसलगंज धनधान्य से परिपूर्ण एक व्यापारिक केन्द्र था। बाबा ऋषभ दास ने इस पुण्यभूमि पर मन्दिर बनवाने का संकल्प किया। नगर के धर्म प्रेमियों से मन्दिर का निर्माण कार्य आरम्भ हुआ। उसी समय किसी अधर्मी ने राजा से शिकायत कि कोई जैन बाबा मरसलगंज की जमीन को अपने आधीन कर जैन मन्दिर का निर्माण करवा रहा है। राजा के आदेश से निर्माण कार्य बन्द करवा दिया गया। कहते हैं कि किसी धार्मिक कार्य में बाधा उत्पन्न करने पर परिणाम नजर आने लगते हैं। उसी रात्रि राजा अपने शयन कक्ष में विराजमान थे उन्होंने अनुभव किया कि मेरा किला घूम रहा है और मुझे कोई पीट रहा है। मगर दिखाई नही दे रहा है। राजा ने मंत्रियों से मंत्रणा की। किसी ने कहा- आपने बाबा को मन्दिर न बनवाने का आदेश दिया है, यह उसी का परिणाम है। राजा तुरन्त नंगे पैर जाकर बाबा के चरणों में गिर गया तथा क्षमा मांगी एवं आदेश दिया कि जितना धन मन्दिर निर्माण में लगेगा वह सब राज कोष से दिया जायेगा कोई चंदा एकत्रित नही होगा। जितने रुपये की जरूरत होती थी बाबा चटाई के नीचे से निकाल कर जेवर आभूषण रुपया आदि दिया करते थे। इस प्रकार एक विशाल शिखर युक्त कलात्मक जिनालय का निर्माण किया गया। यह चमत्कारी घटना मन्दिर निर्माण की गाथा स्वत: कह रही है।

मन्दिर में जिन बिम्ब स्थापना का आयोजन स्वयं बाबा ने अपने नेतृत्व में किया तथा दूर दूर से लाकर अतिशय युक्त प्राचीन मनमोहन वीतराग शांत मुद्रा की 1008 देवाधिदेव भगवान ऋषभदेव की श्वेतवर्ण पद्मासन जिनबिम्ब को मन्दिर जी की मुख्य वेदी में मूलनायक के रूप में विराजमान किया गया। यह मूर्ति एक हजार वर्ष पूर्व प्रतिष्ठित है। जिनबिम्ब प्रतिष्ठा के पावन अवसर पर अनेकों चमत्कारी आश्चर्य जनक घटनाओं से समाज एवं अधिकारियों को भी चकित कर दिया था। कहा जाता है कि प्रतिष्ठा के अवसर पर श्रद्धालुओं की अपार भीड़ थी। कुएँ के पानी समाप्त हो गये, पानी के लिए हा-हाकार यात्री कर रहे थे तभी बाबा ने मंत्र पढ़कर कुऐ में कुछ कंकड डाल दिये तो कुऐ में पानी इतना हो गया कि आज तक समाप्त नहीं हुआ है। मेले में अपार भीड़ के कारण भोजन कम पड़ने लगा। भोजन बनाते समय आटा, घी समाप्त हो

गया। बाबा ने कहा कि बोरियाँ मत झाडो और एक चादर ऊपर डाल दो जितने आटे की जरूरत हो ले लो तथा घी खत्म हो गया तो कुऐ के पानी से ही घी का काम चलाओ। इस अपार समुदाय के लिए भोजन पानी की सारी व्यवस्थायें बाबा की चमत्कारी घटनायें हैं बाबा का तपोबल-चरित्रबल विद्याबल इतना तीव्र था कि जैन-जैनेतर समाज विशेष प्रभावित हुआ। परिणाम स्वरूप भगवान् ऋृषभदेव ओर बाबा ऋृषभदास के हजारों अनन्य भक्त बन गये तथा दूर-दूर से यात्री आते हैं और उनकी शुद्ध ह्दय से की गई कामनाओं की पूर्ति इस चमत्कारी जिनालय में आकर होती है। तभी से यह क्षेत्र दि0 जैन अतिशय क्षेत्र मरसलगंज के नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

वि. सं. 2001 में विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई जिसमें नई वेदियाँ 1008 भगवान शान्ति नाथ, भगवान नेमिनाथ की पद्मासन प्रतिमायें विराजमान की गयी हैं। मेला भूमि की सीमा पर 5 विशाल द्वार बनवाये गये हैं जिन्हें श्री ऋृषभदेव द्वार, श्री दौलतराम द्वार, श्री मानिक द्वार, श्री अभयद्वार एवं श्री विजय द्वार के नाम से जाना जाता है। मेला भूमि के बीच में अँहिसा स्तम्भ कलात्मक एवं सुदीर्घ बना हुआ है। भीतर वाले मन्दिर के भूभाग में बाबा ऋृषभदास की ध्यान गुफा है, जिसमें बाबा की चरण पादुका है। जहां मानव शान्ति का अनुभव करता है, भक्तों का मानना है कि आज भी भगवान आदिनाथ के समक्ष की गई कामनाओं की पूर्ति होती है तथा बाबा की चरणरज लगाने से प्रेत-बाधायें दूर होती है। यहां प्रतिवर्ष भगवान ऋृषभदेव की पावन जन्म जयन्ती एक विशाल मेले के रूप में मनाई जाती है।

बी-677 कमलानगर, आगरा
दूरभाष - 381645

समवसरण : एक विमर्श

-समणी मंगलप्रज्ञा

जैन आगम साहित्य एवं बौद्ध साहित्य में विभिन्न मतवादों का उल्लेख प्राप्त है।[1] उपनिषदों में भी यत्र-तत्र विभिन्न मतवादों का उल्लेख है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद आदि की चर्चा है।[2] मैत्रायणी उपनिषद् में कालवाद की स्पष्ट मान्यता प्रचलित है।[3]

भगवान् महावीर के युग में मतवादों की बहुलता थी। दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग में 363 दृष्टियों का निरूपण और निग्रह किया जाता है, ऐसा धवला में उल्लेख है-

एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।[4]

दृष्टिवाद के सम्बन्ध में "समवायांग एवं नंदी में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है, फिर भी दृष्टिवाद नाम से ही प्रमाणित होता है कि उसमें समस्त दृष्टियों-दर्शनों का निरूपण है। दृष्टिवाद द्रव्यानुयोग है। तत्त्वमीमांसा उसका मुख्य विषय है। इसलिए उसमें दृष्टियों का निरूपण होना स्वाभाविक है।"[5]

भगवान् महावीर के युग में 363 मतवाद थे-यह समवायगत सूत्रकृतांग के विवरण[6] तथा सूत्रकृतांगनिर्युक्ति[7] से ज्ञात होता है, किन्तु उन मतवादों तथा उनके आचार्यों के नाम वहां उल्लिखित नहीं है। जैन परम्परा के आदि साहित्य में ये भेद तत्कालीन मतवादों के रूप में संकलित कर दिये गये थे, किन्तु उत्तरवर्ती साहित्य में उनकी परम्परागत संख्या प्राप्त रही, उनका प्रत्यक्ष परिचय नहीं रहा। उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने इन मतवादों को गणित की प्रक्रिया से समझाया है[8] किन्तु वह प्रक्रिया मूलस्पर्शी नहीं लगती। ऐसा प्रतीत होता है कि 363 मतों की मौलिक अर्थ-परम्परा विच्छिन्न होने के पश्चात् उन्हें गणित की प्रक्रिया के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया गया है। उस वर्गीकरण से दार्शनिक अवधारणा का सम्यक् बोध नहीं हो पाता है।

दार्शनिक विचारधारा के संदर्भ में समवसरण की अवधारणा

जैन आगम साहित्य में चार समवसरणों का उल्लेख है।[9] उनमें इन 363 मतवादों का समाहार हो जाता है। सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के बारहवें अध्ययन का नाम ही समवसरण है तथा उसका प्रारम्भ इन चार समवसरणों के उल्लेख से ही होता है-

चत्तारि समोसरणाणिमाणि पावादुया जाइं पुढो वयंति।
किरियं अकिरियं विणयं ति तइयं अण्णामाहंसु चउत्थमेव॥[10]

समवसरण का अर्थ है-वाद-संगम। जहां अनेक दर्शनों या दृष्टियों का मिलन होता है, उसे समवसरण कहते हैं-

समवसरंति जेसु दरिसणाणि दिट्ठीओ वा ताणि समोसरणाणि।[11]

क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद एवं विनयवाद ये चार समवसरण हैं। निर्युक्ति में अस्ति के आधार पर क्रियावाद, नास्ति के आधार पर अक्रियावाद, अज्ञान के आधार पर अज्ञानवाद और विनय के आधार पर विनयवाद का प्रतिपादन किया है।[12]

क्रियावाद

चार समवसरणों में एक है- क्रियावाद। क्रियावाद और अक्रियावाद का चिंतन आत्मा को केन्द्र में रखकर किया गया है। क्रियावाद आत्मा का अस्तिव मानते हैं। आत्मा है, वह पुनर्भवगामी है। वह कर्म का कर्ता है, कर्म-फल का भोक्ता है और उसका निर्वाण होता है- यह क्रियावाद का पूर्ण लक्षण है।

क्रियावाद की विस्तृत व्याख्या दशाश्रुतस्कन्ध में मिलती है। उसके अनुसार जो आस्तिक होता है, सम्यग्वादी होता है, इहलोक-परलोक में विश्वास करता है, कर्म एवं कर्मफल में विश्वास करता है। वह क्रियावादी है।[13] दशाश्रुतस्कन्ध के विवेचन से क्रियावाद के चार अर्थ फलित होते हैं- आस्तिकवाद, सम्यग्वाद, पुनर्जन्म और कर्मवाद। सूत्रकृतांग में क्रियावाद के आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। वे सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

(1) आत्मा है (2) लोक है (3) आगति और अनागति है (4) शाश्वत

और अशाश्वत है (5) जन्म और मरण है (6) उपपात और च्यवन है (7) अधोगमन है (8) आस्रव और संवर है (9) दु:ख और निर्जरा है।[14]

क्रियावाद में उन सभी धर्म-वादों को सम्मिलित किया गया है जो आत्मा आदि पदार्थों के अस्तित्व में विश्वास करते थे और जो आत्म-कर्तृत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। आचारांग में आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद का उल्लेख है।[15] आचारांग में आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद का पृथक्-पृथक् निरूपण है। यहां क्रियावाद का अर्थ केवल आत्म-कर्तृत्ववाद ही होगा, किंतु समवसरण के प्रसंग में आगत क्रियावाद का तात्पर्य आत्मवाद, कर्मवाद आदि सभी सिद्धान्तों की समन्विति से है।

क्रियावादी जीव का अस्तित्व मानते हैं। उसका अस्तित्व मानने पर भी वे जीव के स्वरूप के विषय में एकमत नहीं हैं। कुछ जीव को सर्वव्यापी मानते हैं, कुछ उसे अ-सर्वव्यापी मानते हैं। कुछ मूर्त्त मानते हैं, कुछ अमूर्त्त मानते हैं, कुछ अंगुष्ठ जितना मानते हैं और कुछ श्यामाक तंदुल जितना। कुछ उसे हृदय में अधिष्ठित प्रदीप की शिखा जैसा मानते हैं। क्रियावादी कर्मफल को मानते हैं।[16] क्रियावादी को आस्तिक भी कहा जा सकता है। क्योंकि ये अस्ति के आधार पर तत्त्वों का निरूपण करते हैं।[17]

तत्त्वार्थवार्तिक, षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थों में क्रियावादी, अक्रियावादी आदि के कुछ आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है।[18]

जो क्रिया को प्रधान मानते हैं। ज्ञान के महत्त्व को अस्वीकार करते हैं। उनको भी कुछ विचारक क्रियावादी कहते हैं।[19]

श्री हर्मन जेकोबी ने वैशेषिकों को क्रियावादी कहा है।[20] यद्यपि उन्होंने इस स्वीकृति का कोई हेतु नहीं दिया है तथा श्रीमान् जे. सी. सिकन्दर ने श्रमण निर्ग्रन्थों एवं न्याय-वैशेषिकों को क्रियावाद के अन्तर्गत सम्मिलित किया है। इस समाहार का हेतु उन्होंने आत्म-अस्तित्व एवं आत्म-कर्तृत्व की स्वीकृति को माना है।[21] किंतु ये दोनों मत विमर्शनीय हैं क्योंकि श्रमण निर्ग्रन्थों का प्रस्तुत क्रियावाद में समाहार नहीं हो सकता तथा वैशेषिक की अवधारणा भी सर्वथा क्रियावाद के अनुकूल नहीं है। सूत्रकृतांग चूर्णि में तो उसे स्पष्ट

रूप से अक्रियावादी कहा है[22] तथा स्थानांग में अक्रियावाद के आठ प्रकार में एक अनेकवादी है। उसके उदाहरण के रूप में आचार्य महाप्रज्ञजी ने वैशेषिक दर्शन का उल्लेख किया है।[23]

अक्रियावाद

जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उसे अक्रियावादी कहा जाता है। केवल चित्त शुद्धि को आवश्यक एवं क्रिया को अनावश्यक मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। वे बौद्ध दार्शनिक हैं।[24] सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन में बौद्धों को क्रियावादी कहा गया है[25] तथा समवसरण अध्ययन की चूर्णि में बौद्धों को अक्रियावादी कहा गया है।[26] मुनि जम्बूविजयजी ने अपेक्षाभेद के आधार पर समन्वय करने का संकेत किया है तथा अंगुत्तर निकाय में बुद्ध को अक्रियावादी कहा है, ऐसा भी उन्होंने उल्लेख किया है।[27] अक्रियावादी क्रिया अर्थात् अस्तित्व का सर्वथा उच्छेद मानते हैं। उनका अभिमत है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं। किसी भी क्षणिक पदार्थ की दूसरे क्षण तक सत्ता नहीं रहती अतः उसमें क्रिया की सम्भावना ही नहीं है। इसीलिए आत्मा आदि नित्य पदार्थों का अस्तित्व नहीं है। कोक्रुल, द्विरोमक, काण्ठेवि, सुगत आदि प्रमुख अक्रियावादी हैं।[28]

निर्युक्तिकार ने 'नास्ति' के आधार पर अक्रियावाद की व्याख्या की है।[29] नास्ति के चार फलित होते हैं-

1. आत्मा का अस्वीकार
2. आत्मा के कर्तृत्व का अस्वीकार
3. कर्म का अस्वीकार और
4. पुनर्जन्म का अस्वीकार।[30]

अक्रियावादी को नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ एवं नास्तिकदृष्टि कहा गया है।[31] स्थानांगवृत्ति में अक्रियावादी को नास्तिक भी कहा गया है।[32]

स्थानांग सूत्र में अक्रियावादी के आठ प्रकार बतलाए गए हैं[33]-

1. एकवादी-एक ही तत्त्व को स्वीकार करने वाले।

2. अनेकवादी-धर्म और धर्मी को सर्वथा भिन्न मानने वाले अथवा सकल पदार्थों को विलक्षण मानने वाले, एकत्व को सर्वथा अस्वीकार करने वाले।
3. मितवादी-जीवों को परिमित मानने वाले।
4. निर्मितवादी-ईश्वरकर्तृत्ववादी।
5. सातवादी-सुख से ही सुख की प्राप्ति मानने वाले, सुखवादी।
6. समुच्छेदवादी-क्षणिकवादी।
7. नित्यवादी-लोक को एकान्त मानने वाले।
8. असत् परलोकवादी-परलोक में विश्वास न करने वाले।

स्थानांग में अक्रियावाद का प्रयोग अनात्मवाद एवं एकान्तवाद दोनों अर्थों में हुआ है। इन आठ वादों में छह वाद एकान्तदृष्टि वाले हैं। समुच्छेदवाद तथा असत्परलोकवाद-ये दो अनात्मवाद हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने धर्म्यंश की दृष्टि से जैसे चार्वाक को नास्तिक कहा है, वैसे ही धर्मांश की दृष्टि से सभी एकान्तवादियों को नास्तिक कहा है-

> धर्म्यंशे नास्तिको ह्येको, बार्हस्पत्यः प्रकीर्तितः।
> धर्मांशे नास्तिका ज्ञेयाः सर्वेऽपि परतीर्थिकाः।।[34]

स्थानांग में प्रस्तुत वादों का संकलन करते समय कौन-सी दार्शनिक धाराएं सामने रही होगी, कहना कठिन है, किंतु वर्तमान में उन धाराओं के संवाहक दार्शनिक निम्न है-

1. एकवादी- (1) ब्रह्माद्वैतवादी-वेदान्त।
   (2) विज्ञानाद्वैतवादी-बौद्ध।
   (3) शब्दाद्वैतवादी-वैयाकरण।

ब्रह्माद्वैतवादी के अनुसार ब्रह्म, विज्ञानाद्वैतवादी के अनुसार विज्ञान और शब्दाद्वैतवादी के अनुसार शब्द पारमार्थिक तत्त्व है, शेष तत्त्व अपारमार्थिक है, इसीलिए ये सारे एकवादी हैं।

2. अनेकवादी-वैशेषिक अनेकवादी दर्शन है। उसके अनुसार धर्म-धर्मी, अवयव-अवयवी भिन्न-भिन्न है।[35]

3. मितवादी- (1) जीवों की परिमित संख्या मानने वाले। इसका विमर्श स्याद्वादमंजरी में किया गया है।[36]

(2) आत्मा को अंगुष्ठपर्व जितना अथवा श्यामाक तंदुल जितना मानने वाले। यह औपनिषदिक अभिमत है।

(3) लोक को केवल सात द्वीप-समुद्र का मानने वाले। यह पौराणिक अभिमत है।

4. निर्मितवादी-नैयायिक, वैशेषिक आदि लोक को ईश्वरकृत मानते हैं।

5. सातवादी बौद्ध

6. समुच्छेदवादी-प्रत्येक पदार्थ क्षणिक होता है। दूसरे क्षण में उसका उच्छेद हो जाता है।

7. नित्यवादी-सांख्याभिमत सत्कार्यवाद के अनुसार पदार्थ कूटस्थ नित्य है। कारणरूप में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व विद्यमान है। कोई भी नया पदार्थ उत्पन्न नहीं होता और कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता। केवल उनका आविर्भाव तिरोभाव होता है।[37]

8. असत् परलोकवादी-चार्वाक दर्शन मोक्ष या परलोक को स्वीकार नहीं करता।[38]

चूर्णिकार ने सांख्य दर्शन और ईश्वर को जगत्कर्ता मानने वाले वैशेषिक दर्शन को अक्रियावादी दर्शन माना है[39] तथा पंचभूतवादी, चतुर्भूतवादी, स्कन्ध मात्रिक, शून्यवादी और लोकायतिक-इन दर्शनों को भी अक्रियावाद के अन्तर्गत परिगणित किया है।[40]

वैशेषिक एवं सांख्य दर्शन आत्मवादी है फिर उन्हें अक्रियावादी क्यों कहा गया है? चूर्णि में इसका समाधान नहीं है। सांख्य दर्शन में आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है और वैशेषिक दर्शन में आत्मा कर्मफल भोगने में स्वतंत्र नहीं है। इसी अपेक्षा से चूर्णिकार ने दोनों दर्शनों को अक्रियावाद की कोटि में परिगणित किया है, ऐसी सम्भावना की जा सकती है। यह आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का अभिमत है।

अक्रियावादी के 84 भेद माने गये हैं। क्रियावाद की तरह ही इसके भेद भी गणितीय पद्धति के आधार पर ही किये गये हैं।

अज्ञानवाद

अज्ञानवाद का आधार अज्ञान है। अज्ञानवाद में दो प्रकार की विचारधाराएं संकलित हैं। कुछ अज्ञानवादी आत्मा के होने में संदेह करते हैं और उनका मत है कि आत्मा है तो भी उसे जानने से क्या लाभ? दूसरी विचारधारा के अनुसार ज्ञान सब समस्याओं का मूल है, इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

अज्ञानवादी कहते हैं- अनेक दर्शन हैं और अनेक दार्शनिक हैं। वे सब सत्य को जानने का दावा करते हैं, किंतु उन सबका जानना परस्पर विरोधी है। सत्य परस्पर विरोधी नहीं होता। यदि उन दार्शनिकों का ज्ञान सत्य का ज्ञान होता तो वह परस्पर विरोधी नहीं होता। वह परस्पर विरोधी है, इसलिए सत्य नहीं है। इसलिए अज्ञान ही श्रेय है।[41] ज्ञान से लाभ ही क्या है? शील में उद्यम करना चाहिये। ज्ञान का सार है-शील, संवर। शील और तप से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

प्राचीनकाल में अज्ञानवाद की विभिन्न शाखाएं थीं। उनमें संजयवेलट्ठिपुत्त के अज्ञानवाद या संशयवाद का भी समावेश होता है। सूत्रकृतांग के चूर्णिकार ने अज्ञानवाद की प्रतिपादन पद्धति के सात और प्रकारान्तर से चार विकल्पों का उल्लेख किया है।[42]

सूत्रकृतांग चूर्णिकार ने मृगचारिका की चर्या करने वाली, अटवी में रहकर पुष्प और फल खाने वाले त्यागशून्य संन्यासियों को अज्ञानवादी कहा है।[43]

साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण आदि अज्ञानवाद के आचार्य थे।[44]

विनयवाद

विनयवाद का मूल आधार विनय है। इनका अभिमत है कि विनय से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। सूत्रकृतांग चूर्णि के अनुसार विनयवादियों का अभिमत है कि किसी भी सम्प्रदाय या गृहस्थ की निंदा नहीं करनी

चाहिए। सबके प्रति विनम्र होना चाहिए।[45] विनयवादियों के बत्तीस प्रकार निर्दिष्ट हैं। देवता, राजा, यति, याति, स्थविर, कृपण, माता एवं पिता-इन आठों का मन, वचन, काय एवं दान से विनय करना चाहिये।[46] इन आठों को चार से गुणा करने पर इनके बत्तीस भेद हो जाते हैं।

सूत्रकृतांग चूर्णिकार ने 'दाणामा' 'पाणामा' आदि प्रव्रज्याओं को विनयवादी की बतलाया है।[47]

आणमा और पाणमा प्रव्रज्या

भगवती सूत्र में आणामा और पाणामा प्रव्रज्या का स्वरूप निर्दिष्ट है। तामलिप्ति नगरी में तामली गाथापति रहता था। उसने 'पाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार की। पाणामा का स्वरूप वहां वर्णित है। 'पाणामा' प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् वह तामली जहां कहीं इन्द्र-स्कन्ध, रुद्र, शिव, वैश्रमण, दुर्गा, चामुण्डा आदि देवियों तथा राजा, ईश्वर, तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, ईभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, कौआ, कुत्ता या चाण्डाल को देखता तो उन्हें प्रणाम करता। उन्हें ऊंचा देखता तो ऊंचे प्रणाम करता और नीचे देखता तो नीचे प्रणाम करता।[48]

पूरण गाथापति ने 'दाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार की। उसका स्वरूप इस प्रकार है-प्रव्रज्या के पश्चात् वह चार पुट वाली लकड़ी का पात्र लेकर 'बेभेल' सन्निवेश में भिक्षा के लिए गया। जो भोजन पात्र के पहले पुट में गिरता उसे पथिकों को दे देता। जो भोजन दूसरे पुट में गिरता उसे कौए, कुत्तों को दे देता। जो भोजन तीसरे पुट में गिरता उसे मच्छ-कच्छों को दे देता। जो चौथे पुट में गिरता वह स्वयं खा लेता। यह 'दाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार करने वालों का आचार है।[49]

विनय का अर्थ

वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने भी विनय का अर्थ विनम्रता ही किया है।[50] किंतु आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में विनय का अर्थ आचार होना चाहिये। उन्होंने अपने अभिमत की पुष्टि में जैन आगमों के संदर्भ उद्धृत किये हैं। ज्ञाताधर्मकथा में जैन धर्म को विनयमूलक धर्म बतलाया गया है। थावच्चापुत्र

ने शुकदेव से कहा-मेरे धर्म का मूल विनय है।[51] यहां विनय शब्द महाव्रत और अणुव्रत अर्थ में व्यवहृत है। बौद्धों के विनयपिटक ग्रन्थ में आचार की व्यवस्था है। विनय शब्द आचार अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। विनय शब्द के आधार पर विनम्रता और आचार-ये दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। आचार पर अधिक बल देने वाली दृष्टि का प्रतिपादन बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। जो लोग आचार के नियमों का पालन करने मात्र से शील-शुद्धि होती है- ऐसा मानते थे, उन्हें 'शीलब्बतपरामास' कहा गया है।[52] केवल ज्ञानवादी और केवल आचारवादी-ये दोनों धाराएं उस समय प्रचलित थीं। ज्ञानवादी जैसे ज्ञान के द्वारा ही सिद्धि मानते थे, वैसे ही आचारवादी केवल आचार पर ही बल देते थे। ज्ञानवाद और आचारवाद दोनों एकांगी होने के कारण मिथ्यादृष्टि की कोटि में आते हैं। विनयवाद के द्वारा ऐकान्तिक आचारवाद की दृष्टि का निरूपण किया गया है। विनम्रतावाद आचारवाद का ही एक अंग है, इसलिए उसका भी इसमें समावेश हो जाता है, किंतु विनय का केवल विनम्रता अर्थ करने से आचारवाद का उसमें समावेश नहीं हो सकता।[53]

वशिष्ठ पाराशर आदि इस दर्शन के विशिष्ट आचार्य थे।[54]

जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया था कि चार वादों के 363 भेद मात्र गणितीय पद्धति के आधार पर किये हैं। जिसका विस्तार से उल्लेख गोम्मटसार में भी हुआ है।[55]

क्रियावादी वस्तु को 'अस्ति' रूप ही मानते हैं। वे वस्तु को स्वरूप एवं पररूप दोनों ही प्रकार से अस्ति रूप मानते हैं। नित्य-अनित्य के विकल्प से भी वस्तु को नित्य मानते हैं। काल, ईश्वर, आत्मा, नियति एवं स्वभाव से जीव, अजीव आदि नौ पदार्थों को स्वतः, परतः, नित्य एवं अनित्य के विकल्प से 'अस्ति' रूप मानते हैं। इनको परस्पर गुणित करने से क्रियावादी के 180 भेद हो जाते हैं।[56]

अक्रियावादी वस्तु को स्वरूप एवं पररूप दोनों ही अपेक्षा से 'नास्ति' कहते हैं। अक्रियावाद में पुण्य, पाप एवं नित्य-अनित्य के विकल्प की योजना नहीं है। जीव आदि सात पदार्थों की काल, ईश्वर आदि के स्वतः परतः से

गुणित करने पर उनके सत्तर भेद होते हैं तथा नियति एवं काल की अपेक्षा जीव आदि सात पदार्थ नहीं है, इस गुणन से उनके 14 भेद हो जाते हैं। 70 एवं 14 मिलकर 84 हो जाते हैं। गोम्मटसार के उल्लेख से ज्ञात होता है अक्रियावादियों में भी दो प्रकार की अवधारणा थीं। एक तो काल आदि पांचों से ही जीव आदि का निषेध करते हैं तथा दूसरे मात्र नियति एवं काल की अपेक्षा से जीव आदि पदार्थों का निषेध करते हैं दोनों का एकत्र समाहार कर लेने से अक्रियावादी के 84 भेद हो जाते हैं।[57]

प्रस्तुत विमर्श से यह भी परिलक्षित हो रहा है कि कालवादी आदि दार्शनिक क्रियावादी एवं अक्रियावादी दोनों ही प्रकार के थे। जो काल आदि के आधार पर जीव आदि पदार्थो का अस्तित्व सिद्ध करते थे वे क्रियावादी हो गये जो इनका इन्हीं हेतुओं से नास्तिक सिद्ध करते थे वे अक्रियावादी हो गये। अक्रियावादियों ने पुण्य, पाप, नित्यता-अनित्यता आदि विकल्पों को क्यों नहीं स्वीकार किया, यह अन्वेषणीय है।

नव तत्त्व का आधार

क्रियावादी, अक्रियावादी के भेद नवतत्त्व को आधार बनाकर किये गये हैं। नव तत्त्वों के संदर्भ में इस प्रकार का मात्र वैचारिक प्रस्थान ही रहा होगा, हो सकता है श्रमण निर्ग्रन्थों में इस प्रकार का पारस्परिक विचार होता रहा हो उसका ही उल्लेख इन मतवादों में हो गया हो। इनके वास्तविक प्रस्थानों का अस्तित्व हो, ऐसा संभव नहीं लगता।

जीव आदि नव पदार्थो को अस्ति, नास्ति सात भंगों से साथ गुणित करने पर तिरेसठ भेद हो जाते हैं। जीव है, ऐसा कौन जानता, जीव नहीं है ऐसा कौन जानता है, इस प्रकार सभी भंगों के साथ संयोजना की जाती है।[58]

देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बालक, माता-पिता का मन, वचन, काया एवं दान-सम्मान से विनय करना चाहिये। आठ को चार गुणित करने पर बत्तीस भेद हो जाते हैं।[59]

सूत्रकृतांग सूत्र में क्रियावाद आदि चार वादों का उल्लेख है। 'महावीरत्थुई' अध्ययन में इन वादों के उल्लेख के साथ यह सूचना दी गयी कि महावीर ने

इन वादों के पक्ष का निर्णय किया तथा सारे वादों को जानकार वे यावज्जीवन संयम में उपस्थित रहे।[60] प्रस्तुत वक्तव्य से यह ज्ञात नहीं होता कि महावीर का स्वयं का पक्ष कौन-सा है किंतु सूत्रकृतांग के बारहवें अध्ययन में चार समवसरण का उल्लेख करने के पश्चात् क्रमशः वे अज्ञानवाद, विनयवाद एवं अक्रियावाद की अवधारणा को निराकृत करते हैं तथा अन्त में क्रियावाद की अवधारणा का औचित्य प्रतिपादित करते हैं [61] इससे ज्ञात होता है कि महावीर क्रियावाद की अवधारणा के पक्षधर हैं। आवश्यक सूत्र में साधक कहता है- मैं अक्रिया का छोड़ता हूं तथा क्रिया को स्वीकार करता हूं।[62] इससे अभिव्यंजित होता है कि जैनधर्म क्रियावादी है, किंतु क्रिया का यदि केवल आचार अर्थ ही किया जाये तो इसमें पूर्ण जैन दृष्टि समाहित नहीं होती क्योंकि जैनधर्म में ज्ञान और आचार को समान महत्त्व दिया गया है कदाचित् ज्ञान को आचार से अधिक महत्त्व ही दिया गया है। दशवैकालिक का 'पढमं नाणं तओ दया'[63] का वक्तव्य इस तथ्य का साक्षी है। उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने भी ज्ञान एवं चारित्र दोनों को ही मोक्षमार्ग के घटक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया है।[64]

भगवती में वर्णित समवसरण

भगवती सूत्र के तीसवें शतक का नाम ही समवसरण है। वहां पर भी क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी एवं विनयवादी के भेद से चार प्रकार के समवसरणों का उल्लेख है।[65] वहां पर क्रियावादी आदि प्रत्येक को समवसरण कहा है। भगवती वृत्ति में समवसरण की परिभाषित करते हुये कहा गया-नाना परिणाम वाले जीव कथंचित् समानता के कारण जिन मतों में समाविष्ट हो जाते हैं वे समवसरण कहलाते हैं अथवा परस्पर भिन्न क्रियावाद आदि मतों में थोड़ी समानता के कारण कहीं पर कुछ वादियों का समावेश हो जाता है वे समवसरण हैं।[66] भगवती के प्रसंग में एक बात ध्यातव्य है कि अन्यत्र प्रायः सभी जैन शास्त्रों में इन चारों को मिथ्यादृष्टि कहा किंतु भगवती के प्रस्तुत प्रसंग में क्रियावादियों को सम्यग्दृष्टि माना गया है।[67] भगवती सूत्र में कहा गया-अलेश्यी अर्थात् अयोगी केवली क्रियावादी ही होते हैं।[68] जो क्रियावादी होते हैं वे भवसिद्धिक ही होते हैं, अक्रियावादी, अज्ञानवादी एवं विनयवादी भवसिद्धिक एवं अभवसिद्धिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं।[69] सम्यक्मिथ्यादृष्टि

जीव क्रियावादी एवं अक्रियावादी दोनों ही नहीं होते अपितु अज्ञानवादी अथवा विनयवादी होते हैं।[70] भगवती के उपर्युक्त वचन से यह फलित होता है कि जैन क्रियावादी है।

सम्यक् दृष्टि एवं क्रियावाद

सूत्रकृतांग में भी क्रियावाद के प्रतिपादक की अर्हता में उसके ज्ञानपक्ष को ही महत्त्व दिया है।[71] ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आगम युग में सम्पूर्ण विचारधाराओं को चार भागों में स्थूल रूप से विभक्त कर दिया और जैन दर्शन का भी समावेश उन्हीं में (क्रियावाद) कर दिया यद्यपि यह सत्य है कि सारे क्रियावादियों की अवधारणा पूर्ण रूप से एक जैसी नहीं थी, किंतु कुछ अवधारणाएं उनकी परस्पर समान थी जैसा कि दशाश्रुतस्कन्ध के उल्लेख से स्पष्ट है। उन्हीं कुछ समान अवधारणाओं के आधार पर वे एक कोटि में परिगणित होने लगे। जैसे वैदिक और श्रमण दो परम्पराएं हैं। जैन, बौद्ध श्रमण परम्परा के अंग हैं, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि श्रमण परम्परा के होने के कारण उनकी सारी अवधारणाएं एक जैसी हो, हां, इतना तो स्पष्ट है कि उनमें कुछ अवधारणाएं समान हैं, जिससे वे वैदिक धारा के पृथक् होकर श्रमण परम्परा में समाहित होते हैं ठीक इसी प्रकार क्रियावाद के संदर्भ में समझना चाहिये। सारे क्रियावादी जैन नहीं हैं। यह स्पष्ट है। अत: सारे क्रियावादी सम्यग्दृष्टि भी नहीं हो सकते, किंतु जो सम्यग्दृष्टि है वह क्रियावादी है इस व्याप्ति को स्वीकार करने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती।

निर्युक्ति में कहा भी है- 'सम्मदिट्ठी किरियावादी।[72] अर्थात् जो सम्यक्दृष्टि हैं वे क्रियावादी हैं किन्तु इस वक्तव्य को उलटकर नहीं कहा जा सकता कि सारे क्रियावादी सम्यक्दृष्टि होते हैं। चूर्णिकार ने यह भी कहा है कि निर्ग्रन्थों को छोड़कर 363 में अवशिष्ट सारे मिथ्यादृष्टि है।[73] इससे स्पष्ट है कि चूर्णिकाल तक निर्ग्रन्थ धर्म प्रस्तुत क्रियावाद का ही भेद रहा है।

आगम उत्तरकालीन साहित्य में इन सारे ही वादों को मिथ्यादृष्टि समझा जाने लगा जैसा कि भगवतीवृत्ति से स्पष्ट है।[74] यद्यपि टीकाकर भी यह मानने को तो विवश हैं ही कि भगवती में आगत क्रियावाद में सम्यग्दृष्टि का भी

ग्रहण है। दार्शनिक परम्परा के ग्रन्थों में तो इनका विवेचन एकान्तवाद के रूप में किया गया है।[75] गोम्मटसार ने इन 363 मतों को स्वच्छंद दृष्टि वालों के द्वारा परिकल्पित माना है।[76] इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरवर्ती दार्शनिक जैन दर्शन का समाहार प्रस्तुत क्रियावाद में करने के पक्ष में नहीं है।

सन्दर्भ

(1) (क) सूयगडो, 1/1 अध्ययन, 12वां, सूयगडो 2/1, (ख) सामञ्ञफलसुत्त (दीघनिकाय)
(2). श्वेताश्वतर उपनिषत्, 1/2, 6/1, (3) मैत्रायणी उपनिषत्, 6/14, 1.5, (4) षट्खंडागम, प्रथम खंड, धवला पृ. 108, (5) सूयगडो 1, भूमिका पृ. 22, (6) समवाओ, पइण्णग समवाओ, सूत्र 90,
(7) सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गा. 1190, असितिसयं किरियाणं अक्किरियाण च होति चुलसीति अण्णाणिय सतट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा।। (8) गोम्मटसार 2, (कर्मकाण्ड) गा. 877-888, पृ. 1238-1243, (9) अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 30/1, (10) सूयगडो, 1/12/1, (11) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. 256, (12) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गा. 118, अत्थि त्ति किरियवादी वंदति, नत्थि त्ति अकिरियवादी य। अण्णाणी अण्णाणं, विणइत्ता वेणइयवादी।।, (13) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा 6 सूत्र 7, (14) सूयगडो, 1/12/20, 21, (15) आयारो, 1/5, से आयावाई लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई।, (16) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. 256, किरियावादीणं अत्थि जीवो, अत्थित्तें सति केसिंचि श्यामाकतन्दुलमात्रः केसिंचि असव्वगतो हिययाधिट्ठाणो....।, (17) स्थानांगवृत्ति, पृ. 179, क्रिया जीवाजीवादिरर्थोऽस्तीत्येवें रूपां वदन्तीति क्रियावादिनः आस्तिका इत्यर्थः।, (18) (क) तत्त्वार्थवार्तिक, 8/1 (ख) षड्दर्शनसमुच्चय, पृ. 13,
(19) भगवतीवृत्ति, पत्र 944, अन्ये त्वाहु-क्रियावादिनो ये ब्रुवते क्रियाप्रधानं किं ज्ञानेन।,
(20) Jacobi, Herman, Jaina Sutras, Part II, 1980 Introduction P XXV . vaiseshika, proper, which is a Kriyavada system ,
(21) Sikdr, J.C , Studies in Bhagawati sutra (मुज्जफरपुर, 1964) P P 449-450 The Kriyavadins may be identified with the followers of the Nyaya and vaisesika systems along with the Sramana Nirgrantha
(22) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. 254, सांख्यवैशेषिका ईश्वरकारणादि अकिरियवादी।
(23) ठाणं, 8/22 का टिप्पण, (24) भगवती वृत्ति, पत्र 944, अन्ये त्वाहु:-अक्रियावादिनो ये ब्रुवते किं क्रियया चित्तशुद्धिरेव कार्या, ते च बौद्धा इति।, (25) सूयगडो, 1/1/51, (26) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. 256, ...सुण्णवादिणो............अकिरियावादिणो।, (27) सूयगडंगसुत्तं, (मुनि जम्बूविजय, बम्बई 1978) प्रस्तावना, पृ. 10 (टिप्पण संख्या 3), (28) षड्दर्शन समुच्चय, पृ. 21, (29) सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गा. 118, ... नत्थि त्ति अकिरियवादी य।, (30) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा 6, सूत्र 6, (31) वही, सूत्र 6, (32) स्थानांगवृत्ति, पृ. 179, अक्रियावादिनो नास्तिका इत्यर्थः।, (33) ठाणं, 8/22, (34) न्योपदेश, श्लोक 126,
(35) अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक 4, (36) वही, शलोक 29, (37) सांख्यकारिका 9, (38) सूयगडो (प्रथम) टिप्पण, पृ. 831-33, (39) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. 254, सांख्या वैशेषिका ईश्वरकारणादि अकिरियावादी।
(40) वही, पृ. 256, पंच महाभूतिया चतुब्भूतिया खंधमेत्तिया सुण्णवादिणो लोगाइतिगा य वादि अकिरियावादिणो।
(41) सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र 35, (42) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. 255-256, (43) वही, पृ. 256, तेसु मिगचारियादयो अडवीए पुप्फ-फलभक्खिणो इच्चादि अण्णाणिया।, (44) तत्त्वार्थवार्तिक, 8/1, (45) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. 206, वेणइयवादिणो भणंति-ण कस्स वि पासंडिणोऽस्स गिहत्थस्स वा णिंदा कायव्वा सव्वस्सेव विणीयविणयेण होयव्वं। (46) वही, पृ. 255, वैनयिकमतं-विनयश्चेतो-वाक्-काय-दानतः कार्यः।

सुर-नृपति-यति-ज्ञाति-नृ स्थविरा ध-मातृ-पितृषु सदा।। (47 वही, पृ. 254, वेणइयवादीण छत्तीसा दाणामपाणामादिप्रव्रज्या।, (48) अगसुत्ताणि 2 (भगवई) 3/34, (49) वही, 3/102, तए ण तस्स पूरणस्स गाहावइस्स अण्णया कयाइ सयमेव चउप्पुडयं दारुमय पडिग्गहग गहाय मुडे भवित्ता दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए।, (50) सूत्रकृतागवृत्ति, पृ 213, इदानी विनयो विधेयः।, (51) ज्ञाताधर्मकथा, 1/5/59, तए ण थावच्चापुत्ते. ... सुदंसणं एव वयासी-सुदंसणा। विणयमूलए धम्मे पण्णत्ते।, (52) अभिधम्मपिटके धम्मसगणि (मपा भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, 1960) पृ 277, तत्थ कतमो सीलब्बतपरामासो?

(53) सूयगडो, 1/12 के टिप्पण, पृ 499,

(54) षड्दर्शनसमुच्चय, पृ 29, वशिष्ठपाराशरवाल्मीकिवयासेलापुत्रसत्यदतप्रभृतयः।

(55) वही, (कर्मकाण्ड) गाथा 877 से 888, (56) वही, गाथा 877, अत्थि सदो परदो वि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था।, कालीसरप्पणियदिमहावेहि य तेहि भगा हु।।

(57) वही, गाथा 878, (58) गोम्मटसार 2, गाथा 876, (59) वही, गाथा 888, (60) सूयगडो, 1/6/27

(61) सूयगडो, 1/12/1-22, (62) श्रमण प्रतिक्रमण, पृ 32, अकिरिय परियाणाभि किरिय उवसंपज्जामि।

(63) दसवेआलिय, 4/10, (64) तत्त्वार्थसूत्र, 1/1, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः"

(65) अगसुत्ताणि 2 (भगवई) 30/1, (66) भगवती वृत्ति, पृ 944, समवसरन्ति नानापरिणामा जीवाः कथंचितुल्यतया येषु मतेषु तानि समवसरणानि।

समवसृतयो वाऽन्योन्यभिन्नेषु क्रियावादादि मतेषु कथंचितुल्यत्वेन कचिद् केषांचित् वादिनामवताराः समवसरणानि।

(67) भगवतीवृत्ती, पृ 944, एत च सर्वेऽप्यन्यत्र यद्यपि मिथ्यादृष्टयोऽभिहितास्तथाऽपीहाद्याः सम्यग्दृष्टयो ग्राह्या, सम्यगस्तित्ववादिनामेव तेषा समाश्रयणात्।, (68) अगसुत्ताणि 2 (भगवई) 30/4, (69) वही, 30/30

(70) वही, 30रु6, (71) सूयगडो, 1/12/20-22, (72) सूत्रकृताग निर्युक्ति, गाथा 121

(73) सूत्रकृताग चूर्णि, 253, तिण्णि तिसट्ठा पावादियसयाणि णिग्गथ मोत्तूण मिच्छादिट्ठिणो त्ति

(74) भगवती, वृत्ति पत्र 944, (75) तत्त्वार्थ वार्तिक, 8/1

(76) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गाथा 889, मिच्छइदिट्ठिहिं वियप्पियाणि तेसट्ठिजुत्ताणि सयाणि तिण्णि।

पासडिणं वाउलकारणाणि अण्णाणि चित्ताणि हरति ताणि।।

निदेशक-महादेवलाल सरावगी अनेकान्तशोधपीठ
जैन विश्वभारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं (राज.)

55/3

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

1 जिनवर-स्तवनम् 1

2 भरतक्षेत्र के "सीमंधर" दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द
पद्मचन्द्र शास्त्री 2

3 कुन्दकुन्द के विषय में जनश्रुति विषयक अवधारणा
- सम्पादक 6

4 अहिंसा सिद्धान्त और व्यवहार
- डॉ. अशोक कुमार जैन 7

5 श्रावक और अणुव्रत
डॉ. जयकुमार जैन 19

6 सप्त व्यसन का समाज पर दुष्प्रभाव
डॉ. ज्योति जैन 31

7 पुण्य और पाप का सम्बन्ध
नंदलाल जैन 41

8 अनेकान्त शोध पत्रिका में प्रकाशित जैन इतिहास विषयक प्रमुख लेख
डॉ. सुरेश चन्द जैन 45

वर्ष-55, किरण-3
जुलाई-सितम्बर 2002

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/-
वार्षिक शुल्क
30/-
इस अंक का मूल्य
10/-
सदस्यों व मंदिर के
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स 110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हों। इसमें प्रायः विज्ञापन एवं समाचार नहीं लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 3250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

जिनवर-स्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णट्ठं चिय मण्णियं महापावं।
रविउग्गमे णिसाए ठाइ तमो कित्तियं कालं॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सिज्झइ सो को वि पुण्णपब्भारो।
होइ जिणो जेण पहू इह-परलोयत्थसिद्धीणं॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मण्णे तं अप्पणो सुकयलाहं।
होही सो जेणासरिससुहणिही अक्खओ मोक्खो॥

-मुनि श्री पद्मनन्दि

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर मैं महापाप को नष्ट हुआ ही मानता हूँ। ठीक है- सूर्य का उदय हो जाने पर रात्रि का अन्धकार भला कितने समय ठहर सकता है? अर्थात् नहीं ठहरता, वह सूर्य के उदित होते ही नष्ट हो जाता है॥

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर वह कोई अपूर्व पुण्य का समूह सिद्ध होता है कि जिससे प्राणी इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अभीष्ट सिद्धियों का स्वामी हो जाता है।

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर मैं अपने उस पुण्यलाभ को मानता हूँ, जिससे कि मुझे अनुपम सुख के भण्डार स्वरूप वह अविनश्वर मोक्ष प्राप्त होगा।

विचारणीय

भरतक्षेत्र के "सीमंधर" दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द?

-पद्मचन्द्र शास्त्री

"बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का।
जो चीरा तो कतरए खूं भी न निकला॥"

जैन 'जिन' का धर्म हैं और 'जिन' वीतराग होते हैं-तिल तुष मात्र परिग्रह से अछूते। अपर शब्दों में हम इन्हें दिगम्बर कह सकते है। हम सब आज अपने को दिगम्बर धर्मी कहने में गौरव का अनुभव करते हैं, पर कम लोग ही ऐसे होंगे जो दिगम्बरत्व - संरक्षण के इतिहास से परिचित हों। हमारी मान्यता रही है कि एक बार बारह वर्ष का अकाल पड़ा, उससे पहले जैन धर्म भागों में विभक्त नहीं था। व्यक्तिगत रूपों में कई बातों में मतभेद होते हुए भी वे परम्परित जैन ही कहलाते रहे। पर बारह वर्षीय अकाल के बाद अनेक शिथिलाचारों के कारण उनमें दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे दो भेद हो गए और कालान्तर में तो अब अनेकों भेद सुने जाते हैं। अस्तु....

दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में पर्याप्तकाल तक मतभेद और विवाद चलते रहे और धर्मनियमों की मर्यादाएँ बिखरने लगीं, तब धर्म की मूल-मर्यादा की रक्षा का श्रेय आचार्य पद्मनन्दी (कुन्द-कुन्द) को प्राप्त हुआ। उन्होंने वीतराग धर्म के मूल 'दिगम्बरत्व' की रक्षा की और हमारे 'मूलाचार्य' कहलाए और दिगम्बरों को 'कुन्द-कुन्दाम्नायी' कहलाने का सौभाग्य मिला।

जब वीतराग धर्म अर्थात् दिगम्बरत्व की यम-नियम सम्बन्धी सीमाएँ ध्वंस हो रहीं थीं तब कुन्द-कुन्दाचार्य ने उन्हें दृढ़ता से स्थापित किया। फलतः सीमाओं को धारण करने के कारण वे स्वयं **सीमंधर** थे परन्तु ऐसे में लोगों ने कल्पना कर डाली कि वे विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के पास

गए और इसकी पुष्टि में उन्होंने मनमानी, भिन्न-भिन्न कथाऐं रच डालीं, जो आगम सम्मत नहीं हैं, उन्हें गढ़कर उनका प्रचार कर दिया-आदि। ऐसा सब इसीलिए हुआ कि लोगों की दृष्टि में विदेह के एक मात्र तीर्थंकर सीमंधर स्वामी ही थे जो उन्हें (कुन्द-कुन्द को) बोध दे सकते थे। कथाओं के माध्यम से किन्हीं ने कहा कि उन्हें विदेह देव ले गए तो किन्हीं ने कहा कि चारण मुनि ले गए। एक महान् विद्वान् ने तो यहाँ तक लिख दिया कि बिहार प्रान्त की ओर विदेह है वहीं कुन्द-कुन्द गए आदि।

जबकि इस प्रकार की कथाएँ आगमिक न होकर कल्पना मात्र हैं और इनमें मुनिचर्या विरोधी आदि अनेकों प्रसंग उपस्थित होते हैं। जैसे प्रश्न उठते हैं कि क्या कुन्द-कुन्द स्वामी ने देवों से विमान में बिठाकर विदेह ले जाने को कहा? या फिर देवों ने बलात् उन्हें विमान में बिठा लिया? यदि ऐसा था तो आगम में इसका कहीं तो उल्लेख होना चाहिए था। ऐसी अवस्था में आचार्य को प्रायश्चित भी करना चाहिए था जिसका आगम में कहीं उल्लेख नहीं है। न चारण ऋद्धि या आहारक-शरीर आदि का उल्लेख ही है। यदि आगम में कहीं भी किसी एक का भी उल्लेख हो तो प्रमाण सहित खोजा जाए।

इसके सिवाय न कहीं कुन्द-कुन्द ने ही अपने विदेहगमन की बात की है और न कहीं सीमंधर तीर्थंकर का उपकार ही स्मरण किया है। जबकि वे बार-बार श्रतुकेवली (भद्रबाहु स्वामी) का स्मरण करते रहे हैं। कुन्द-कुन्द स्वामी के विदेह गमन और सीमंधर स्वामी के पास जाने की मान्यता वालों के लिए क्या यह बिडम्बना नहीं होगी कि कुन्द-कुन्द स्वामी तीर्थंकर सीमंधर का स्मरण छोड़ बार-बार श्रुतकेवली का उपकार मानते रहे जबकि श्रुतकेवली उनसे लघु होते हैं।

प्राकृत के महान् शब्दकोष 'अभिधानराजेन्द्र' में 'सीमंधर' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार ही है- **''सीमां-मर्यादां पूर्वपुरुषकृतां धारयति। न आत्मना विलोपयति यः सः तथा। कृतमर्यादा पालके।''**

इसका अर्थ इस प्रकार है सीमा-मर्यादा, जो पूर्वपुरुषों तीर्थंकरों, गणधरादि श्रुतकेवलियों तथा निर्दोष चारित्रपालक आगमज्ञ परंपरित आचार्यों द्वारा स्थापित की गई है उसको धारण करते-कराते हैं-स्वयं उसका लोप नहीं करते हैं और मर्यादा का पालन करने वाले हैं वे **'सीमंधर'** कहलाते हैं।

परमपूज्य स्वामी पद्मनन्दी (कुन्द-कुन्द) आचार्य ऐसे ही थे। कुन्द-कुन्दाचार्य ने दिगम्बर की सीमा का विशद रूप में निर्धारण किया इसीलिए इन्हें **'मूलाचार्य'** कहा गया और कालांतर में देवसेन जैसे मान्य आचार्य ने इन्हें गाथा में **'सीमंधर'** विशेषण से विभूषित किया। देवसेन जैसे महान् आचार्य जो सिद्धांत के ज्ञाता थे वे पद्मनन्दी आचार्य के विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के समीप जाने की कल्पना कर सिद्धांत का विरोध क्यों करते? आचार्य देवसेन ने विदेह गमन की बात भी कहीं नहीं कही। वे जानते थे कि कथाऐं वे ही मान्य होतीं है-जो सिद्धांत से अविरूद्ध और सिद्धान्त की पोषक हों।

विदेह गमन की कथाओं में एकरूपता न होने और सिद्धांत विरोधी होने से वे मान्य कैसे हो सकतीं हैं? कुन्द-कुन्द ने बारम्बार श्रुतकेवली के उपकार का स्मरण कर और कहीं एक बार भी सीमंधर का स्मरण न कर स्वयं यह स्पष्ट कर दिया है कि वे विदेह नहीं गए-उनके गुरू श्रुतकेवली ही थे जिनसे उन्हें बोध प्राप्त हुआ। वे स्वयं भरत क्षेत्र के **'सीमंधर'** थे अत: उनके विदेह जाने की कल्पना निराधार एवं आगम विरुद्ध है।

हम निवेदन कर दें कि दिगम्बरत्व की सीमा (मर्यादा) का निर्धारण करने वाले **सीमंधर** कुन्द-कुन्द हमारे मूलाचार्य हैं। उनमें हमारी दृढ़ आस्था है। हमें खेद है कि इस युग में अर्थ की प्रधानता ने लोगों पर ऐसा जादू डाला है कि कतिपय दिगम्बर जैन प्रमुख-प्रखर-वक्ता तक कुन्द-कुन्द की जय बोलकर कुन्द-कुन्द द्वारा घोषित नियमों की अवहेलना करने तक में प्रमुख बन रहे हैं, साधारण विद्वानों एवं अन्य श्रावकों की तो बिसात ही क्या? वे भी किन्हीं न किन्हीं भावों को संजोए उनके आगे पीछे चक्कर लगाने में व्यस्त दिखाई देते हैं।

कुछ ऐसी हवा चल गई है कि लोग आत्मदर्शन के साधनभूत व्रत संयमादि

की उपेक्षाकर परिग्रह में लीन रहकर आत्मदर्शन का प्रचार करने में लगे हुए हैं और लाखों दिगम्बर जैन चारित्र की उपेक्षाकर मात्र साम्बरत्व में आत्मदर्शन का यत्न करने में लगे हैं, जबकि कुन्द-कुन्द की स्पष्ट घोषणा है कि-

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि॥

अर्थात् जिसके रागादि (राग, द्वेष, मोह) परमाणु मात्र भी विद्यमान है वह समस्त आगमों का धारी होने पर भी आत्मा को नहीं जानता है।

यदि मूलाचार्य कुन्द-कुन्द की इस घोषणा की उपेक्षा चलती रही तो कुछ काल बाद साम्बरत्व में आत्मादर्शन व मुक्ति होने तक की परिपाटी चल जाएगी जो दिगम्बरत्व के सिद्धांत के लिए घातक होगी।

क्या दिगम्बरों को यह इष्ट है-परिग्रही को मुक्ति?

आचार्य देवसेन ने जो गाथा कही है हमने वह उद्धृत देखी है प्रयत्न करने पर भी अभी हमें मूल ग्रंथ प्राप्त नहीं हो पाया है, प्राप्त होने पर ही हमें मूलगाथा देखकर पता चलेगा कि वास्तविकता क्या है। उद्धृत प्राप्त गाथा से तो 'अभिधान राजेन्द्र कोष' सम्मत अर्थ की ही पुष्टि होती है।

-वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज
नई दिल्ली-110002

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं॥

-समयसार का मंगलाचरण

अर्थ- स्थिर, शाश्वत और अनुपम गति को प्राप्त करने वाले सब सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करके मैं श्रुतकेवलियों के द्वारा कहे गये समयप्राभृत (नामक ग्रन्थ) को कहूँगा।

कुन्दकुन्द के विषय में जनश्रुति विषयक अवधारणा

आ. कुन्दकुन्द सर्वमान्य श्रुतधर आचार्य हैं। उनके अवदानों से प्रभावित होकर श्रद्धातिरेक में उनके बहुमान में जनश्रुति प्रचलित हुई कि वे विदेह गमन करके सीमंधर स्वामी से बोध को प्राप्त हुए थे, परन्तु इस विषय में शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। डा. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने लिखा है-

"जहाँ तक विदेह यात्रा की बात है, उसके साधक यद्यपि अभिलेखीय या अन्य ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए, किन्तु आचार्य देवसेन, आ. जयसेन और श्रुतसागर सूरि के उल्लेख बतलाते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गए थे..... सीमंधर स्वामी से प्राप्त दिव्यज्ञान का श्रमणों को उपदेश दिया था।"

-(तीर्थंकर महावीर और आचार्य परम्परा भाग-2, प्र.-105)

उपर्युक्त उल्लेख से भी यह स्पष्ट है कि उनका (कुन्दकुन्द) विदेहगमन शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर सिद्ध नहीं होता।

अस्तु, इस विषय में शास्त्रीय प्रमाणों के उल्लेख अन्वेषणीय हैं। इस सन्दर्भ में ज्ञानवृद्ध पं. पद्मचन्द्र जी शास्त्री जी ने आ. देवसेन (नवमी शती) की गाथा के व्युत्पत्तिलभ्य शब्दार्थ के आधार से उनके निराधार जनश्रुति पर ऊहापोह किया है। जो गम्भीरता के साथ मननीय है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि वे अपने गुरु भद्रबाहु को गमक गुरु के रूप में स्वीकार करते हैं। (बोधपाहुड, गाथा-61-62)

'गमक शब्द का अर्थ शब्द कल्पद्रुम में, 'गमयति, प्रापयति, बोधयति वा गमक' **गम + णिच् + ण्वल्** बोधक मात्र या सुझाव देने वाला अथवा तत्त्व प्राप्ति के लिए प्रेरणा करने वाला बताया गया है। अत: जिस प्रकार गमक शब्द परम्परा प्राप्त श्रुतकेवली के लिए व्यवहृत माना जाता है उसी प्रकार सीमंधर का अर्थ मर्यादा का पालन करने वाला ग्रहण करने से एक ओर शास्त्रीय सिद्धान्त की बाधा दूर हो जाती है तो दूसरी ओर आचार्य कुन्दकुन्द के बहुमान में भी अभिवृद्धि होती है। अत: आ. देवसेन के गाथागत अर्थ के विषय में प्रचलित अवधारणा **कुन्दकुन्द विदेह गए थे** के विषय में खुलासा होता है क्योंकि गाथा में मात्र सीमंधर स्वामी को द्योतित करने वाला पद है, विदेहगमन सूचक नहीं।

-सम्पादक

अहिंसा सिद्धान्त और व्यवहार

-डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति है। अध्यात्म की आत्मा अहिंसा है। यद्यपि भारत के सभी धर्म और दर्शनों में किसी न किसी रूप में अहिंसा को महत्त्व दिया गया परन्तु जैन दर्शन में अहिंसा का जो व्यापक एवं सूक्ष्म वर्णन है वह अन्यत्र दुर्लभ है। जैन शास्त्रों में अहिंसा को भगवती और परम ब्रह्म कहा गया है। अहिंसा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए अचार्य शिवार्य लिखते हैं-

जह पव्वदेसु मेरू उव्वाओ होइ सव्वलोयम्मि।
तह जाणासु उव्वायं सीलेसु वदेसु य अहिंसा।। 785।।

विश्व के अशेष पर्वतों में सुमेरू पर्वत तथा मनुष्यों में चक्रवर्ती बड़ा है उसी प्रकार समस्त व्रतों और शीलों में यह अहिंसा व्रत महान है।

सीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति।। 789

शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निष्परिग्रहता और विषय सुख का त्याग ये सर्व आचार जीव हिंसा करने वाले के निष्फल हो जाते हैं।

सव्वेसिमासमाण हिदुयं गब्भो व सव्वसत्थाणं।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु।। 790

यह अहिंसा सकल आश्रमों का हृदय है, सम्पूर्ण शास्त्रों का मर्म है और सब व्रतों का पिण्डरूप सार है।

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया।
विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि।। 794

अन्य जीवों का नाश करना अपना ही नाश करने के समान है। उन पर दया करना अपने ऊपर दया करने के समान है। अतः विषलिप्त कण्टक से जिस प्रकार लोग दूर रहते हैं उसी प्रकार संसार दुःख भीरुओं को हिंसा से बचना चाहिए।

सूत्रकृतांग में लिखा है-

एयं खु णाणिणो सारं, ज ण हिंसइ कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एयावतं वियाणिया।। प्रथम श्रुतस्कन्ध 1/85

ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। समता अहिंसा है, इतना ही उसे जानना है।

आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने लिखा है-

अहिंसा वर्त्म सत्यस्य त्यागस्तस्याः परिस्थितिः।
सत्यानुयायिना तस्मात्संग्राह्यस्त्याग एव हि।। वीरोदय काव्य। 13/36

सत्य तत्त्व का मार्ग तो अहिंसा ही है और त्याग उसकी परिस्थिति है अर्थात् परिपालक है। अतएव सत्य मार्ग पर चलने वाले के लिए त्याग भाव ही संग्राह्य है अर्थात् आश्रय करने योग्य है।

संरक्षितुं प्राणभृतां महीं सा व्रजत्यतोऽम्बा जगतामहिंसा।
हिंसा मिथो भक्षितुमाह तस्मात्सर्वस्य शत्रुत्वमुपैत्यकस्मात्।।
वीरोदय काव्य 16/11

अहिंसा सर्व प्राणियों की संसार में रक्षा करती है, इसलिए वह माता कहलाती है। हिंसा परस्पर में खाने को कहती है और अकस्मात् (अकारण) ही सबसे शत्रुता उत्पन्न करती है, इसलिए वह राक्षसी है अतएव अहिंसा उपादेय है।

अहिंसा परिपालन का तात्विक आधार- जैन परम्परा में चारित्रिक उन्नयन पर विशेष बल दिया है चारित्र का नैश्चयिक दृष्टि से अर्थ है स्वयं का स्वयं में स्थिर होना अर्थात् समत्व भाव की प्राप्ति। समभाव आत्मौपम्य भाव पर

आधारित है। समयसार में लिखा है-

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥ 109॥

वास्तव में आत्मा अपना शुभ या अशुभ जैसा भी भाव करता है तो वह अपने भाव का करने वाला होता है और वह भाव ही उसका कर्म होता है तथा अपने भावरूप कर्म का ही भोक्ता होता है।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णाणिस्स दु णाणमओं अण्णाणमओ अणाणिस्स॥ समयसार-134

यह आत्मा जिस समय जैसा भाव करता है उस समय उसी भाव का कर्ता होता है, अत: ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी (संसार) के अज्ञानमय भाव होता है।

भगवती आराधना में लिखा है-

अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसेति णिच्छओ समये।
जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो॥ 803॥

यथार्थ रूप से निश्चय नय से आत्मा ही स्वत: हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है। प्रमाद युक्त आत्मा-विकार भावयुक्त हिंसा रूप है और विकार रहित आत्मा अहिंसा है।

षट्खण्डागम पुस्तक 14 पृ.-90 में लिखा है-

स्वयं अहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिहद्वयं भवेत्।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसक: प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसक:॥

अहिंसा भी स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं होती है। दोनो ही पराधीन नहीं है। जो प्रमादहीन है वह अहिंसक है और जो प्रमाद से युक्त है वह सदैव हिंसक है।

आत्मा और शरीर के कथंचित् भिन्नाभिन्नत्व की स्वीकृति में ही अहिंसा की परिपालना संभव है क्योंकि सर्वथा अपरिणामी नित्य जीव की तो हिंसा

नहीं की जा सकती और क्षणिक जीव का स्वयं ही नाश हो जाता है तब हिंसा कैसे संभव हो सकती है।

अहिंसा का मनोवैज्ञानिक आधार- आचारांग में लिखा है 'सव्वेसिं जीवियं पियं (अध्याय 2/64) अर्थात् सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है। सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है। भगवती आराधना में लिखा है-

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा॥ 777 ॥

हे क्षपक, जिस प्रकार तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही अन्य जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है, ऐसा ज्ञात कर सर्व जीवों को आत्मा के समान समझकर दुःख से निवृत हो।

अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। वस्तुतः अहिंसा जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभाव एवं अद्वैत भाव है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैत भाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से अहिंसा का विकास होता है।

अहिंसा के दो रूप- अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ है- हिंसा न करना। अ + हिंसा इन दो शब्दों से अहिंसा शब्द बना है। इसके पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक एवं विध्यात्मक दोनों हैं। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना। प्राण-वध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है। सत् प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय, अध्यात्म सेवा, उपदेश, ज्ञान-चर्चा आदि आत्मा की हितकारी क्रिया करना विध्यात्मक अहिंसा है। संयमी के द्वारा अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाता है, वह भी निषेधात्मक अहिंसा है यानि हिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है। विध्यात्मक अहिंसा में सत् क्रियात्मक सक्रियता होती है। यह स्थूल दृष्टि का निर्णय है। गहराई में पहुंचने पर बात कुछ और है। निषेध में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निषेध होता ही है। निषेधात्मक अहिंसा में सत्-प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होता हैं हिंसा न करने वाला यदि आन्तरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे

तो वह अहिंसा न होगी। इसलिए निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है, वह बाह्य हो चाहे आन्तरिक, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। सत् प्रवृत्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होना आवश्यक है। इसके बिना कोई प्रवृत्ति सत् या अहिंसा नहीं हो सकती, यह निश्चय दृष्टि की बात है। व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा ओर विध्यात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

हिंसा क्या है? - तत्त्वार्थ सूत्र में हिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा है- '*प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा* अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों के विघात करने को हिंसा कहते है।

हिंसा की व्याख्या दों अंशों के द्वारा पूरी की गई है। पहला अंश है प्रमत्तयोग अर्थात् रागद्वेष युक्त अथवा असावधान प्रवृत्ति और दूसरा है प्राणवध। प्रथम अंश कारण रूप है और दूसरा कार्यरूप। इसका फलितार्थ यह है कि जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो वह हिंसा है।

वस्तुत: हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध पर जीवों के जीवन-मरण, सुख-दु:ख से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष, मोह परिणामों से है। पर जीवों के मरने-मारने का नाम जीव हिंसा नहीं वरन मारने के भाव का नाम हिंसा है। आचार्य अमृतचंद ने लिखा है-

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्यकरणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥

पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय श्लोक 43

जब मन में कषाय उद्बुद्ध होती है तो सर्वप्रथम शुद्धोपयोग रूप भाव प्राणों का घात होता है। यह प्रथम हिंसा है उसके पश्चात् कषाय की तीव्रता से दीर्घ श्वासोच्छ्वास हस्त-पाद आदि से अपने अंगोपांगों को कष्ट पहुंचाता है, यह द्वितीय हिंसा है। इसके बाद मर्मभेदी कुवचनों से लक्ष्यपुरुष के अन्तरंग मानस को पीड़ा पहुंचाई जाती है, यह तीसरी हिंसा है फिर तीव्र कषाय व प्रमाद से उस व्यक्ति के द्रव्य प्राणों को नष्ट करता है, यह चतुर्थ हिंसा है। इस तरह द्रव्य और भाव रूप प्राणों का घात करना हिंसा है।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार यशपाल जैन नें लिखा है-

भाव हिंसा का विश्लेषण जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। उसकी पर्याप्त गवेषणा करते हुए हिंसा के उद्योगी, विरोधी, आरम्भी और संकल्पी ये चार भेद बताकर, यह घोष किया है कि केवल संकल्पी हिंसा का त्याग कर देने पर मनुष्य 'अहिंसक' कहलाने का अधिकारी हो जाता है। यह एक ऐसी दृष्टि है जो 'कायरता' और 'पलायनवाद' जैसे लांछनों से मुक्त करके अहिंसा को समस्त मानवीय मूल्यों का आधार मानते हुए मानवता की धुरी के रूप में स्थापित करती है।

भाव अहिंसा का अर्थ है कि बहिरंग क्रिया तो दूर मन में भी हिंसा के भाव ही उत्पन्न नहीं हों। हत्या के साधन को जैसे शस्त्र कहा जाता है वैसे हिंसा के साधन को भी शस्त्र कहा गया है। हत्या हिंसा होती है, किन्तु हिंसा हत्या के बिना भी होती है। अविरति या असंयम जो वर्तमान में हत्या नहीं किन्तु हत्या की निवृत्ति नहीं है, इसलिए वह हिंसा है। हत्या के उपकरणों का नाम है द्रव्य शस्त्र और हिंसा के साधन का नाम है भाव शस्त्र। यह व्यक्ति का वैभाविक गुण है या दोष है इसलिए यह मृत्यु का कारण नहीं, पाप बन्ध का कारण है। द्रव्य-शस्त्र व्यक्ति से पृथक् वस्तु है। शस्त्र तीन प्रकार के होते है। 1. स्वकाय-शस्त्र, 2. परकाय शस्त्र, 3. उभयशस्त्र (स्वकाय और परकाय दोनों का संयोग) जीव के छः निकाय है। 1.पृथ्वी 2.पानी 3.अग्नि 4.वायु 5. वनस्पति और 6.त्रस।

पृथ्वी द्वारा पृथ्वी का उपघात-यह स्वकाय शस्त्र है।

पृथ्वी से इतर वस्तु द्वारा पृथ्वी का प्रतिघात-यह परकाय शस्त्र है।

पृथ्वी और उससे भिन्न वस्तु दोनों द्वारा पृथ्वी का उपघात यह उभय शस्त्र है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय - सम्पूर्ण अहिंसा- प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में अहिंसा समाहित है। जो केवल निवृत्ति को प्रधान मानकर चिन्तन करती है, वह अहिंसा की आत्मा को परख नहीं सकता। प्रवृत्ति रहित निवृत्ति निष्क्रिय है। वह जीवन का अभिशाप है। जैन श्रमण के उत्तर गुणों में समिति और गुप्ति का विधान है। समिति प्रवृत्ति परक है तो गुप्ति निवृत्ति परक हैं।

असद् आचरण से निवृत्त होकर सदाचरण में प्रवृत्ति करना ही अहिंसा का वास्तविक रूप है।

प्रज्ञामूर्ति पं. सुखलालजी ने लिखा है "अशोक के राज्यकाल का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनके व्यवहार में निवर्तक कार्यों के साथ प्रवर्तक कार्यों पर बल दिया गया था। हिंसा निवृत्ति के साथ-साथ धर्मशालायें बनवाना, पानी पिलाना, पेड़ लगाना आदि परोपकार के कार्य भी हुए है। अशोक ने प्रचार किया कि हिंसा न करना तो ठीक है, पर दया-धर्म भी करना उचित है...। व्यक्ति स्वयं दूसरों को कष्ट न दें, किन्तु रास्ते में कोई घायल या भिखारी पड़ा है तो उससे बचकर निकल जाने से अहिंसा की पूर्ति नहीं होगी। किन्तु उसे क्या पीड़ा है? क्यों है? उसे क्या मदद दी जाय? इसकी जानकारी और उपाय किये बिना अहिंसा अधूरी है। अहिंसा केवल निवृत्ति में ही चरितार्थ नहीं होती। इसका विचार निवृत्ति में से हुआ है किन्तु उसकी कृतार्थता प्रवृत्ति में ही हो सकती है।

अनुकम्पा-

पंडित प्रवर आशाधर जी ने लिखा है-

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत्।। धर्मामृत (अनगार) 4/6

जिसकी प्राणियों पर दया नहीं है उसके समीचीन चारित्र कैसे हो सकता है? क्योंकि जीवों को मारने वाले की देवपूजा, दान, स्वाध्याय आदि कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं होती।

विश्वसन्ति रिपवोऽपि दयालोः विजसन्ति सुहृदोऽप्यदयाच्च।
प्राणसंशयपदं हि विहाय स्वार्थमीप्सति ननु स्तनपोऽपि।।
धर्मामृत (अनगार 4/10)

दयालु का शत्रु भी विश्वास करते हैं और दयाहीन से मित्र भी डरते हैं। ठीक ही है दूध पीता शिशु भी, जहाँ प्राण जाने का सन्देह होता है ऐसे स्थान से बचकर ही इष्ट वस्तु को प्राप्त करना चाहता है।

समस्त जीवों में दयाभाव रखना अनुकम्पा गुण है। व्यवहार में धर्म का लक्षण जीवरक्षा है। जीवरक्षा से सभी प्रकार के पापों का निरोध होता है। दया के समान कोई भी धर्म नहीं है। अतः पहले आत्मा स्वरूप को अवगत करना और तत्पश्चात् जीव-दया में प्रवृत्त होना धर्म है। जिस प्रकार हमें अपनी आत्मा प्रिय है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी प्रिय है। जो व्यवहार हमें अरुचिकर प्रतीत होता है, वह दूसरे प्राणियों को भी अरुचिकर प्रतीत होता है अतः समस्त परिस्थितियों में अपने को देखने से पापों का निरोध तो होता ही है, साथ ही अनुकम्पा की भी प्रवृत्ति जागृत होती है। अनुकम्पा या दया के आठ भेद हैं-

1. द्रव्य दया- अपने समान अन्य प्राणियों का भी पूरा ध्यान रखना और उनके साथ अहिंसक व्यवहार करना।
2. भाव दया- अन्य प्राणियों को अशुभ कार्य करते हुए देखकर अनुकम्पा बुद्धि से उपदेश देना।
3. स्वदया- आत्मालोचन करना एवं सम्यग्दर्शन धारण करने के लिए प्रयासशील रहना और अपने भीतर रागादिक विकार उत्पन्न न होने देना।
4. परदया- षट्काय के जीवों की रक्षा करना।
5. स्वरूपदया- सूक्ष्म विवेक द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना, आत्मा के ऊपर कर्मों का जो आवरण है उसे दूर करना
6. अनुबन्धदया- मित्रों, शिष्यों या अन्य प्राणियों को हित की प्रेरणा से उपदेश देना तथा कुमार्ग से सुमार्ग पर लाना।
7. व्यवहार दया- उपयोग पूर्वक और विधि पूर्वक अन्य प्राणियों की सुख-सुविधाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखना।
8. निश्चय दया- शुद्धोपयोग में एकता भाव और अभेद उपयोग का होना। समस्त पर पदार्थों से उपयोग हटाकर आत्म परिणति में लीन होना निश्चय दया है।

जैन मतानुसार जीव छह प्रकार के होते हैं जिन्हें षट्काय कहते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय जीवधारी होते हैं, इस बात को सामान्य तौर से सभी मत वाले मानते है, लेकिन पृथ्वी, अप्-अग्नि तथा वायु भी स्वत: प्राणवान् हैं ऐसा सिर्फ जैनधर्म ही मानता है। यह इसकी अपनी विशेषता है। इन षट्कायों की हिंसा विभिन्न कारणों से होती है जैसे पृथ्वीकाय की हिंसा पृथ्वी जोतने, तालाब, बावड़ी खुदवाने, महल बनवाने आदि से होती है। अप्काय की हिंसा स्नान करने, पानी पीने, कपड़े धोने आदि से होती है। भोजन पकाना, लकड़ी जलाना आदि से अग्निकाय की हिंसा होती है। सूप से अन्नादि साफ करना, ताल के पंख या मोरपंख से हवा करना आदि वायुकाय की हिंसा के कारण है। घर बनाना, बाड़ बनाना, विविध प्रकार के भवन बनाना, नौका, हल, शकट आदि बनाना वनस्पतिकाय की हिंसा के कारण है। इसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम के कारण विभिन्न त्रस प्राणियों की हिंसा होती है। प्रवचनसार में लिखा है कि

यदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो ति मदो
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवतेवो॥

जिसके यत्नपूर्वक आचार क्रिया नहीं ऐसा जो मुनि वह छहों पृथ्वी आदि कार्यों में बन्ध का करने वाला है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। यदि यति सदा यत्नपूर्वक आचरण करता है तो वह मुनि जल में कमल की तरह कर्मबन्ध रूप लेप से रहित है।

अहिंसा रक्षण के उपाय- अहिंसा रक्षण के उपायों की चर्चा करते हुए भगवती आराधना में लिखा है कि

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदयकयं सुहं णत्थ।
तम्हि सुहे णिस्सगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा॥ 816

जीव-हिंसा के अभाव में इन्द्रिय सुख की उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं हो सकती है। स्त्री संभोग, वस्त्र धारण, पुष्पमालादि ग्रहण-धारणादि कार्य हिंसात्मक वृत्ति से ही होते हैं। इन पदार्थों की प्राप्ति करने में भी महान् आरम्भ करना

पड़ता है। इसलिए इन्द्रिय विषयों से कभी भी अहिंसा का रक्षण नहीं हो सकता है। हे क्षपक! तू इन विषय-जन्य सुखों में इच्छा मत कर। जो पंचेन्द्रिय विषयों से सर्वथा विरक्त होता है वही जीव क्षपक अहिंसा व्रत का निर्दोष पालन करने में समर्थ होता है।

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ।
सो-जीववहं परिहरदु सया जो णिज्जियकसाओ।।

भगवती आराधना 817

कषायाविष्ट जीव मनुष्य जीवों का घात करता है किन्तु जो कषायों पर विजय पाता है वही अहिंसा का निर्दोष पालन करता है। अत: अहिंसाव्रत के अभिलाषियों को इन कषाय शत्रुओं का दूर से ही त्याग करना चाहिए।

काएसु णिरारंभे फासुगभोजिम्मि णाणहिदयम्मि।
मणवयणकायगुत्तिम्मि होइ सयला अहिंसा हु।।

भगवती आराधना 819

जो यतिराज आरम्भ का सर्वथा त्याग करते हैं, सतत ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहते हैं, स्वाध्याय में स्थिर चित्त रहते हैं, गुप्तियों को धारण करते हैं उन्हीं के यह अहिंसा व्रत पूर्णता को प्राप्त होता हैं

आरंभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो।
आरंभादीसु मणो णाणरदीए विणा चरेइ।। भगवती आराधना।। 820

जमीन खोदना, पानी गिराना, वृक्ष तोड़ना आदि क्रिया में आरम्भ है। इस आरम्भ से पृथिव्यादि कायिक जीवों का घात होता है। उद्गमादि दोषों से दूषित आहार लेने से, जीव बधादि को अनुमति दी है ऐसा सिद्ध होता है। ज्ञानाभ्यास में यदि प्रेम नहीं है तो आत्मा कषाय और आरम्भ में प्रवृत्त होता है।"

पण्डितप्रवर आशाधरजी ने लिखा है-

कषायोद्रेकतो योगे: कृतकारितसम्मतान्।
स्यात् संरम्भ-समारम्भारम्भानुञ्झन्न हिंसक:।। (धर्मामृत-अनगार 4/27)

क्रोध आदि कषायों के उदय से मन, वचन, काय से कृत कारित

अनुमोदना से युक्त संरम्भ समारम्भ और आरम्भ को छोड़ने वाला अहिंसक होता है।

प्राणों के घात आदि में प्रमादयुक्त होकर जो प्रयत्न किया जाता है उसे संरम्भ कहते है। साध्यय हिंसा आदि क्रिया के साधनों का अभ्यास करना समारम्भ है। एकत्र किये गये हिंसा आदि साधनों का प्रथम प्रयोग आरम्भ है। क्रोध के आवेश से काय से करना, कराना और अनुमोदना करना इस तरह संरम्भ के तीन भेद हैं। इसी तरह मान माया व लोभ के आवेश से तीन तीन भेद होते है। वचन और काय के भी 36,36 भेद होने से 108 भेद होते है।

अहिंसाव्रती के लिए जीवन निर्माण की दृष्टि से निम्न कर्तव्य हैं-

1. जीवन को सादा बनाना और आवश्यकताओं को कम करना।
2. मानवीय वृत्ति में अज्ञान की चाहे जितनी गुंजाइश हो लेकिन पुरुषार्थ के अनुसार ज्ञान का भी स्थान है ही, इसलिए प्रतिक्षण सावधान रहना और कहीं भूल न हो जाय इसका ध्यान रखना और यदि भूल हो जाय तो वह ध्यान से ओझल न हो सके, ऐसी दृष्टि रखना।
3. आवश्यकताओं को कम करने और सावधान रहने का लक्ष्य रहने पर भी चित्त के मूल दोष जैसे स्थूल जीवन की तृष्णा और उसके कारण पैदा होने वाले दूसरे रागद्वेषादि दोषों को कम करने का सतत प्रयत्न करना।
4. सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव रखना।
5. आजीविका के निमित्त ऐसे व्यवसाय कार्य न करें जिसमें हिंसा होती है।
6. संकल्प पूर्वक किसी प्राणी को पीड़ा देने या वध न करने का नियम लेना।

उत्तराध्ययन में लिखा है-

एवं ससंकप्पविकप्पणासुं, संजायई समयमुवट्ठियस्स।
अतये य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसुतण्हा।।

(उत्तराध्ययन 32/107)

अपने राग-द्वेषात्मक संकल्प ही सब दोषों के मूल हैं''

जो इस प्रकार चिन्तन में उद्यत होता है तथा 'इन्द्रिय विषय दोषों के मूल नहीं हैं' इस प्रकार का संकल्प करता है उसके मन में समता उत्पन्न होती है। उससे उसकी काय गुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

7. अनावश्यक हिंसा की प्रवृत्ति पर संयम रखें।
8. अहिंसा का आराधक इन्द्रिय विषयों के प्रति विरक्त रहे। उनका वेदन-आस्वादन न करें।
9. अहिंसा का आराधक लोकैषणा न करे क्योंकि लोकैषणा से हिंसा में प्रवृत्ति होती है।
10. जीवन की सार्थकता के लिए अणुव्रत का परिपालन करें।
11. अहिंसा का आराधक व्यसन सेवन से बचे।
12. जीवन में प्रमाद-भाव का परित्याग करे।

आज के समाज की व्यथा की यदि किसी एक शब्द से व्याख्या हो सकती है तो वह है हिंसा। आणविक अस्त्रों का संत्रास, परिवेश के मिल जाने का भय, शक्तिशाली राष्ट्र एवं समाज द्वारा शोषण की पीड़ा, दरिद्रता, मानसिक-शारीरिक निर्बलता ये सब हिंसा को व्यक्त करती है और विश्व भयाक्रान्त है कि कहीं मनुष्य का अस्तित्व ही निकट भविष्य में न समाप्त हो जाये। इस विभीषिका का एक ही समाधान है और वह है- अहिंसा का सिद्धान्त। आचार धर्म का मूल अहिंसा है। समग्र आचार धर्म उसी सिद्धान्त के पल्लवन हैं।

-विभागाध्यक्ष
जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान,
(मान्य विश्व विद्यालय)
लाडनूं (राजस्थान)-341306

श्रावक और अणुव्रत

-डॉ. जयकुमार जैन

श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति एवं निर्वचन :- 'शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावक:' अर्थात् जो गुरु आदि से धर्म को सुनता है, वह श्रावक है।[1] श्रावक शब्द का यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, जो यह सूचित करता है कि श्रावक में धर्म के प्रति श्रद्धा का होना आवश्यक है। अभिधान राजेन्द्र कोष में 'शृणोति जिनवचनमिति श्रावक:' कहकर जिनेन्द्र भगवान् की वाणी को श्रद्धापूर्वक श्रवण करने वाले को श्रावक कहा गया है।[2] श्वेताम्बर ग्रन्थ गच्छाचारपयन्ना टीका में साधु के समीप में साधु की सामाचारी को सुनने वाले की श्रावक संज्ञा की गई है- 'शृणोति साधुसमीपे साधुसामाचारीमिति श्रावक:।[3] अन्यत्र श्रावक का लक्षण करते हुए कहा गया है-

'अवाप्तदृष्ट्यादि विशुद्धसम्पत् परं समाचारमनुप्रभातम्।
श्रृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः॥

अर्थात् सम्यक् श्रद्धान रूपी सम्पत्ति को प्राप्त कर लेने वाला जो व्यक्ति प्रमाद रहित होकर साधुजनों से समाचार विधि को सुनता है, उसे जिनेन्द्र भगवन्तों ने श्रावक कहा है। श्रावक शब्द का निर्वचन करते हुए श्र को श्रद्धा का, व को गुणवपन का तथा क को कर्मरज के विक्षेप का प्रतीक कहा गया है- 'श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्वानं निष्ठां नयन्तीति श्राः, तथा वपन्ति गुणवतसप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः, तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः, ततः कर्मधारये श्रावका इति भवति।'[4] अर्थात् श्रा शब्द तो तत्त्वार्थ-श्रद्धान की सूचना करता है, व शब्द सप्त धर्मक्षेत्रों में धन रूप बीज बोने की प्रेरणा करता है तथा क शब्द क्लिष्ट कर्म या महान् पापों को दूर करने का संकेत करता है। इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर श्रावक पद निष्पन्न हो जाता है।

अन्य नाम :- श्रद्धावान् गृहस्थ को भिन्न भिन्न स्थानों पर श्रावक, उपासक, आगारी, देशव्रती, देशसंयमी आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। यद्यपि यौगिक दृष्टि से इन नामों के अर्थों में अन्तर है, तथापि सागान्यत: ये एकार्थक या पर्यायवाची माने जाते हैं। देशव्रती या देशसंयमी पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावक की ही संज्ञा हो सकती है, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती की नहीं।

श्रावक के भेद :- श्रावक तीन प्रकार के होते हैं- पाक्षिक, नैष्ठिक एवं साधक। अपने धर्म का पक्ष मात्र करने वाला श्रावक पाक्षिक तथा व्रतधारी श्रावक नैष्ठिक कहलाता है। नैष्ठिक श्रावक वैराग्य की प्रकर्षता से शाक्ति को न छिपाता हुआ उत्तरोत्तर 11 प्रतिमाओं में ऊपर-ऊपर उठता जाता है। अन्तिम प्रतिमा में इसका रूप साधु से कुछ न्यून रहता है। ग्यारहवीं प्रमिाधारी उत्कृष्ट श्रावक के भी दो भेद हैं- एक वस्त्र रखने वाला क्षुल्लक और कौपीन मात्र परिग्रह धारी ऐलक।[5] जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवन के अन्त में अर्थात् मरण के समय भोजन एवं योगव्यापार के त्याग से पवित्र ध्यान के द्वारा आत्मशुद्धि की साधना करता है, वह साधक श्रावक कहा जाता है।[6] कुछ आचार्यों ने सल्लेखना या समाधिमरण को श्रावक के 12 व्रतों में परिगणित किया है तो कुछ आचार्यों ने उसका पृथक् उल्लेख करके सभी श्रावकों को उनकी आवश्कता प्रतिपादित की है। समाधिमरण करने वाले श्रावक को ही आत्मसाधना के कारण साधक संज्ञा प्राप्त हुई है।

पाक्षिक श्रावक यद्यपि अणुव्रती (देशव्रती या देशसंयमी) नही होता है तथापि उसे सर्वथा अव्रती मानना ठीक नही है। क्योंकि जिनवचन पर श्रद्धावान् होने के कारण वह कुल परम्परा से चलीं आई क्रियाओं का पालन तो करता ही है, व्रत धारण करने का पक्ष भी रखता है।

श्रावक के मूलगुण :- श्रावक के धर्माचिरण के आधारभूत मुख्य गुणों को मूलगुण कहा जाता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी कार्तिकेय तथा आचार्य उमास्वामी ने अपने ग्रन्थों में श्रावक के मूलगुणों की कोई चर्चा नही की है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में व्रतों के अतिचारों एवं भावनाओं का तो पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है किन्तु मूलगुणों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का जिक्र

तक नहीं किया है- यह एक विचारणीय विषय है। सर्वप्रथम श्रावक के मूलगुणों का उल्लेख श्री समन्तभद्राचार्यकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार में हुआ है। वहाँ मद्य, मांस एवं मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों के पालन को आठ मूलगुण कहा गया है।[7] चारित्रसार में उद्धृत एक श्लोक में आचार्य जिनसेन की दृष्टि में मद्य, मांस एवं जुआ के त्यागपूर्वक पाँच अणुव्रतों के पालन को आठ मूलगुण कहा गया है।[8] पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र ने पाँच अणुव्रतों के स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों का उल्लेख किया है।[9] सागार-धर्मामृत में कुछ लोगों के मत में पाँच उदुम्बर फल त्याग को एक मूल गुण मानकर रात्रिभोजन त्याग, देववन्दना, जीवदया तथा जलगालन को मूलगुणों में समाविष्ट किया गया है।[10] आचार्य सोमदेव, पद्मनन्दि, पं. आशाधर, भट्टारक सकलकीर्ति आदि मूलगुणों के विषय में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के प्रणेता अमृतचन्द्राचार्य के अनुगामी हैं।

श्रावक के मूलगुणों के विवेचन में आचार्यों की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं। श्री जुगल किशोर मुख्तार ने लिखा है कि "सकलव्रती मुनियों के मूल गुणों में जिस प्रकार पञ्च महाव्रतों का होना जरूरी है, उसी प्रकार देशव्रती श्रावकों के मूलगुणों में पञ्चाणुव्रतों का होना जरूरी मालूम होता है। देशव्रती श्रावकों को लक्ष्य करके आचार्य महोदय ने इन मूलगुणों की सृष्टि की है। पञ्च उदुम्बर वाले मूलगुण प्राय: बालकों, अव्रतियों अथवा. अनभ्यस्त देशसंयमियों को लक्ष्य करके लिखे गये हैं"।[11] आदरणीय मुख्तार जी का यह कथन ध्यातव्य है।

श्रावक के व्रत :- जीवनपर्यन्त हिंसा आदि पाँच पापों से एकदेश या सर्वदेश निवृत्ति को व्रत कहते हैं। यह व्रत दो प्रकार का है- एकदेश व्रत या अणुव्रत तथा सर्वदेश व्रत या महाव्रत। अणुव्रत श्रावकों के लिए तथा महाव्रत साधुओं के लिए हैं। सवार्थ सिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है। यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है- इस प्रकार नियम करना व्रत है।[12] व्रत शब्द विरति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है तथा प्रवृत्ति (वृतु वर्तने धातु से निष्पन्न होने के कारण) के अर्थ में

भी। इसीलिए पण्डितप्रवर आशाधर जी ने व्रत का स्वरूप कहते हुए लिखा है कि किन्हीं पदार्थों के सेवन का अथवा हिंसादि अशुभ कर्मों का नियत या अनियत काल के लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा पात्रदान आदि शुभ कर्मों में उसी प्रकार संकल्पपूर्वक प्रवृत्ति करना व्रत है।[13] इस कथन में व्रत में पाप से निवृत्ति तथा शुभ में प्रवृत्ति दोनों स्वीकार की गई है।

श्रावक के व्रत बारह प्रकार के कहे गये हैं- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। श्वेताम्बर परम्परा में पाँच अणुव्रतों को मूल व्रत तथा शेष सात को उत्तर व्रत कहा गया है।[14]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रावक के मूल गुणों में तथा व्रतों में पाँच अणुव्रतों का महत्त्व सर्वातिशायी है। यह श्रावक की एक आदर्श आचार संहिता है।

अणुव्रत :- पञ्च पापों के एकदेश त्याग रूप पाँच व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। स्थूल हिंसा त्याग, मृषात्याग, अदत्तग्रहण त्याग, परस्त्री त्याग तथा बहुत आरंभ परिग्रह का परिमाण ये पाँच अणुव्रत हैं। अणुव्रत में अणु शब्द अल्पवाची है। जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प हैं, वह अणुव्रत वाला अगारी कहलाता है। अगारी के पूर्ण हिंसादि पापों का त्याग संभव नही है, इसलिए उसके व्रत अल्प कहे जाते हैं। वह केवल त्रस हिंसा का त्यागी होता है, वह गृहविनाश आदि के कारणभूत असत्य वचन का त्यागी होता है, वह बिना दी गई वस्तु को ग्रहण नही करता है, परस्त्री के प्रति उसकी रति हट जाती है तथा वह धन-धान्यादि का स्वेच्छा से परिमाण करता है।[15] पाँचों पापों का उसका अल्प त्याग होता है, अतः वह अणुव्रती कहलाता है।

अणुव्रतों की लघुता महाव्रतों की अपेक्षा कही गई है। अथवा सर्वविरत की अपेक्षा कम गुण वालों के व्रतों को अणुव्रत कहा गया है।[16]

अणुव्रत के भेद :- पाँच पापों से एकदेश विरक्ति रूप होने के कारण अणुव्रत के पाँच भेद हैं- अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अस्तेय या अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

इन पाँच अणुव्रतों के अतिरिक्त चारित्रसार में रात्रिभोजन त्याग को छठा अणुव्रत कहा गया है।[17] पाक्षिक प्रतिक्रमण पाठ में भी कहा गया है कि मैं छठे अणुव्रत में रात्रि भोजन का त्याग करता हूँ। श्री ब्रह्म नेमिदत्त ने भी अपने धर्मोपदेश पीयूष वर्ष श्रावकाचार में रात्रिभोजन त्याग को छठा अणुव्रत स्वीकार किया है।[18] इनकी यह मान्यता चारित्रसार के प्रणेता चामुण्डराय के ही समान है।

1. अहिंसाणुव्रत :- प्रमाद के योग अर्थात् राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति के कारण अपने अथवा दूसरों के प्राणों के व्यपरोपण अर्थात् पीडन और विनाशन को हिंसा कहते हैं। स्थूल हिंसा से विरक्त होना अहिंसाणुव्रत है। वसुनन्दि श्रावकाचार में त्रस जीवों की हिंसा के सर्वथा त्याग तथा निष्प्रयोजन स्थावर जीवों की हिंसा के त्याग को अहिंसाणुव्रत कहा है।[19] आरंभी, उद्योगी, विरोधी एवं संकल्पी हिंसा में से गृहस्थ संकल्पी हिंसा का तो त्यागी होता है। शेष मे यथासंभव यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है। यदि यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति न करे तो अन्य हिंसा भी संकल्पी ही मानी जावेगी। श्री जयसेनरचित धर्मरत्नाकर में तथा पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के एक श्लोक कहा गया है कि अहिंसामय धर्म के स्वरूप को सुनते हुए भी जो जीव स्थावर हिंसा को छोड़ने में असमर्थ हों, उन्हें त्रसहिंसा का त्याग तो करना ही चाहिए।[20]

अहिंसाणुव्रत के अतिचार :- धारण किये गये व्रत में दोष लगने का नाम अतिचार है। आचार्य उमास्वामी ने प्राणीबंधन, प्राणीताडन, अंगच्छेद, अतिभारारोपण तथा अन्नपान निरोध ये अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार माने हैं।[21] श्रावक को इनसे बचने का सतत प्रयास करना चाहिए, क्योंकि इनसे व्रत में मलिनता आती है।

अहिंसाणुव्रत की भावनायें :- वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति तथा आलोकितपान भोजन यें पाँच अहिंसा व्रत की भावनायें हैं।[22] इनके आने से व्रत का पालन ठीक प्रकार से होता है। श्रावक को निरन्तर यह विचार करना चाहिए कि हिंसादि पापों से इस लोक और परलोक में आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। ये पाप दु:ख रूप ही है। अत: इनका त्याग कर देना ही योग्य है। सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन में कहा कि अणुव्रती

को अहिंसाव्रत की रक्षार्थ रात्रि भोजन त्याग और अभक्ष्य भक्षण का त्याग आवश्यक है।[23]

2. सत्याणुव्रत :- प्रमाद के कारण जीवों को पीडादायक गर्हित वचन बोलना असत्य पाप है। सत्याणुव्रती ऐसे असत्य का त्यागी होता है। धर्मरत्नाकर में कहा गया है कि जिस कथन से अविश्वास उत्पन्न होता है, दण्ड भोगना पड़ता है और निरपराधी मनुष्य को सन्ताप उत्पन्न होता है ऐसे अप्रशस्त वचन रूप असत्य का निर्मल बुद्धि वाले मनुष्य को दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए।[24] समन्तभद्राचार्य ने सत्याणुव्रत का लक्षण बताते हुए कहा है कि स्थूल झूठ जो न तो स्वयं बोलता है, न दूसरों से बुलवाता है तथा जिस वचन से विपत्ति आती हो ऐसा वचन न आप बोले न दूसरों से बुलवावे उसे सज्जन सत्याणुव्रत कहते हैं।[25]

सत्याणुव्रत के अतिचार :- मिथ्योपदेश (झूठा एवं अहितकारी उपदेश), रहोभ्याख्यान (एकान्त की स्त्री-पुरुष की क्रिया का प्रकट करना), कूटलेख क्रिया (दबाववश झूठी लिखापढ़ी), न्यासापहार (धरोहर भूल जाने पर न देना या कम मागने पर कम देना) तथा साकार मन्त्र भेद (आकृति से पराभिप्राय जानकर प्रकट कर देना) ये पाँच सत्य व्रत के अतिचार हैं।[26]

सत्याणुव्रत की भावनायें :- सत्याणुव्रत की रक्षा के लिए श्रावक को क्रोध, लोभ, भय एवं हास्य का त्याग तथा शास्त्रानुकूल निर्दोष वचन बोलने की भावना भाना चाहिए।[27]

3. अचौर्याणुव्रत :- बिना दी हुई वस्तु का लेना चोरी है। इसका अभिप्राय यह है कि बाह्यवस्तु के ग्रहण करने के संक्लेश परिणामों का नाम चोरी है, भले ही वस्तु ग्रहण हो या न हो।[28] स्थूल चोरी का त्याग अचौर्याणुव्रत है। समन्तभद्राचार्य का कहना है कि रखे हुए, गिरे हुए अथवा भूले हुए या धरोहर रखे गये पर द्रव्य को हरण न करना, न दूसरों को देना अचौर्याणुव्रत है।[29] स्वामी कार्तिकेय के अनुसार वह अचौर्याणुव्रती है जो बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में नहीं लेता हे, दूसरों की छूटी हुई वस्तु को नहीं उठाता है, थोड़े

से लाभ से ही संतुष्ट रहता है, क्रोध, मान, लोभ तथा कपट से पर द्रव्य का हरण नहीं करता है।[30]

अचौर्याणुव्रत के अतिचार :- चोरी करने के उपाय बताना, चोरी का माल खरीदना, राजा के नियमों के विरुद्ध कार्य करना, माप-तौल कमती-बढ़ती रखना तथा मिलावट करना ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।[31] पण्डितप्रवर आशाधर ने विरुद्धराज्यातिक्रम के स्थान पर 'युद्ध के समय पदार्थों का संग्रह करना' अतिचार में परिगणित किया है।

अचौर्याणुव्रत की भावनायें :- निर्जन स्थान पर रहना, दूसरों द्वारा परित्यक्त स्थान पर रहना, जहाँ ठहरे हों वहाँ दूसरों को आने से न रोकना, शास्त्रानुसार भिक्षा में शुद्धि रखना तथा साधर्मियों से विसंवाद न करना ये पाँच अचौर्याणुव्रत की भावनायें हैं।[32] ये भावनायें आचार्य उमास्वामी ने मुख्यत: महाव्रतियों को कहीं जान पड़ती हैं। परन्तु सधर्माविसंवाद भावना श्रावकों में भी घटित हो सकती है। पूजन के बर्तन, धोती-दुपट्टा, बैठने के स्थान आदि के विषय में झगड़ने का भाव न रखना सधर्माविसंवाद भावना है। आचार्य पूज्यपाद का कहना है कि पर द्रव्य का अपहरण करने वाले चोर का सभी तिरस्कार करते हैं। इस लोक में वह ताडन, मारण, बन्धन, छेदन, भेदन और सर्वस्व हरण आदि दु:खों को भोगता है तथा परलोक में अशुभ गति को प्राप्त करता है। अत: चोरी का त्याग करना ही कल्याणकारी है। श्रावक को ऐसी भावना का चिन्तन करना चाहिए।[33]

4. ब्रह्मचर्याणुव्रत :- चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में सजातीय या विजातीय मिथुन की स्पर्शनादि क्रियायें अब्रह्म हैं और इनका त्याग ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्याणुव्रत का वर्णन करते हुए रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में कहा गया है कि जो पाप के भय से न तो परस्त्री के प्रति गमन करे और न दूसरों को गमन करावे वह परस्त्री त्याग एवं स्वस्त्री संतोष नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत है।[34] आचार्य वसुनन्दि का कहना है कि अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में स्त्री सेवन तथा सदैव अनङ्ग.क्रीडा का त्याग करने वाले को भगवान् ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है।[35] स्वामी कार्तिकेय के अनुसार जो स्त्री के शरीर को अशुचिमय और

दुर्गन्धित जानकर उसके रूप-लावण्य को भी मन में मोह पैदा करने वाला मानता है तथा मन-वचन-काय से पराई स्त्री को माता, बहिन और पुत्री के समान समझता है, वह श्रावक स्थूल ब्रह्मचर्य का धारी है।[36] अमृतचन्द्राचार्य का कहना है कि जो जीव मोह के कारण अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़ने में असमर्थ हैं, उन्हें भी शेष सर्व स्त्री के सेवन को त्याग देना चाहिए।[37]

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार :- दूसरों के पुत्र-पुत्रियों का विवाह कराना, पतिरहित स्त्री (अनाथ, कुमारी या वेश्या) के यहाँ जाना, विवाहिता व्यभिचारिणी स्त्री के यहाँ जाना, काम सेवन के अंगों से भिन्न अंगों से काम सेवन करना तथा काम सेवन की तीव्र लालसा रखना ये पाँच उमास्वामी के अनुसार ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।[38] ब्रह्मचर्याणुव्रत के इन अतिचारों में इत्वरिकापरिग्रहीता गमन एवं इत्वरिका अपरिग्रहीतागमन रूप दूसरे एवं तीसरे अतिचार में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है। क्योंकि स्वदार सन्तोषी के लिए तो दोनों ही परस्त्री हैं। इसी कारण समन्तभद्राचार्य ने इन दोनों के स्थान पर एक इत्वरिकागमन को रखकर विटत्व नामक एक अन्य अतिचार को रखा है।[39] यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का अतिचार होने के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत की भावनायें :- स्त्रियों के अंग देखने से विरक्त रहना, पूर्वानुभूत भोगों के स्मरण से विरक्त रहना, स्त्रियाँ जहाँ रहती हों वहाँ रहने से विरक्त रहना, शृंगारिक कथाओं से विरक्त रहना तथा कामोत्तेजक पदार्थों के सेवन का त्याग करना ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत की भावनायें भगवती आराधना में कहीं गई हैं।[40] आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में संसक्तवास के स्थान पर स्व शरीर संस्कार त्याग नामक भावना है।[41] शेष चार भावनायें समान हैं। ब्रह्मचर्याणुव्रत की इन पाँच भावनाओं में पाँचों इन्द्रियों एवं मन के विषयों की प्रवृत्ति को त्यागने का भाव गर्भित है। इससे यह भी स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य केवल स्पर्शन इन्द्रिय मात्र का विषय नही है, अपितु सभी इन्द्रियों का विषय है।

5. परिग्रहपरिमाणाणुव्रत :- यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकार का ममत्व परिणाम परिग्रह है।[42] श्री शुभचन्द्राचार्य के अनुसार परिग्रह ही दुःख का मूल कारण है। क्योंकि परिग्रह से काम उत्पन्न होता है, काम से

क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरक गति होती है। उस नरक गति में अकथनीय अत्यन्त दुःख होता है।[43] यह विशेष खेद की बात है कि लोग हिंसादि चार को तो पाप मानते हैं, पर परिग्रह को पाप समझते ही नहीं है, जबकि वह सभी पापों की जड़ है। समन्तभद्राचार्य के अनुसार धन-धान्य आदि परिग्रह को परिमित करके कि 'इतना रखेंगे' फिर उससे अधिक की इच्छा न रखना सो परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। इसे इच्छा परिमाण व्रत भी कहा गया है।[44] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि जो लोभ कषाय को कम करके सन्तोष रूपी रसायन से संतुष्ट होता हुआ सबको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णा का नाश करता है और आवश्यकता को जानकर धन-धान्य, सुवर्ण, क्षेत्र आदि का परिमाण करता है, उसके यह पाँचवां अणुव्रत होता है।[45] परिग्रहत्याग अणुव्रत में तो धन-धान्यादि का आवश्यकतावश परिमाण किया जाता है, जबकि परिग्रह त्याग प्रतिमा में इनका त्याग किया जाता है।[46]

परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार :- तत्त्वार्थसूत्रकार ने क्षेत्र एवं वास्तु के प्रमाण के अतिक्रमण, सोना-चाँदी के प्रमाण के अतिक्रमण, धन-धान्य के प्रमाण के अतिक्रमण दासी-दास के प्रमाण के अतिक्रमण और कुप्य अर्थात् वस्त्र एवं भाण्ड के प्रमाण के अतिक्रमण को परिग्रह परिमाणाणुव्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।[47] समन्तभद्राचार्य के अनुसार प्रयोजन से अधिक सवारी रखना, आवश्यक वस्तुओं का अधिक संग्रह करना, दूसरों का वैभव देखकर आश्चर्य करना, बहुत लोभ करना तथा बहुत भार लादना ये पाँच परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के अतिचार हैं।[48] यहाँ ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र प्रतिपादित पाँचों अतिचार तो एक अतिक्रमण नाम में ही ग्रहीत हो सकते थे। अतः उनकी पञ्चरूपता की सार्थकता के लिए ही समन्तभद्राचार्य मे स्वतन्त्र रूप से पाँच अन्य अतिचारों का प्रतिपादन किया है।

परिग्रहपरिमाणाणु व्रत की भावनायें :- पाँचों इन्द्रियों के इष्ट विषयों में राग एवं अनिष्ट विषयों में द्वेष नहीं करना अपरिग्रह व्रत की भावनायें हैं।[49] इन्हें यथायोग्य महाव्रत एवं अणुव्रत में संगत करना चाहिए।

व्रतों की भावनाओं एवं अतिचारों का वर्णन सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में प्राप्त

होता है। कुन्दकुन्दाचार्य एवं स्वामी कार्तिकेय ने उनका कोई वर्णन नही किया है। परवर्ती आचार्यों का वर्णन प्राय: तत्त्वार्थसूत्र एवं रत्नकरण्ड-श्रावकाचार के वर्णन से प्रभावित है।

अणुव्रतों की आज के सन्दर्भ में उपयोगिता :- आज मानव की हिंसा चरम सीमा पर है। विश्व भर में आतंकवाद तेजी से फैलता जा रहा है। अण्डा, मांस, मछली अब व्यापारिक वस्तु बन गई है तथा बूचड़खाने कमाई के साधन बन रहे हैं। ऐसी स्थिति में अहिंसाणुव्रत का परिपालन ही हमारी रक्षा कर सकता है। अन्यथा प्रत्येक देश को वैसी त्रासदी झेलना पड़ सकती है जैसी अभी 11 सितम्बर 2001 को अमेरिका ने झेली है। चोरी कराके, चोरी का माल खरीदकर, आयकर एवं बिक्रीकर आदि में घपला करके, कमती-बढ़ती माप-तौल रखके तथा महंगी वस्तु में सस्ती वस्तु की मिलावट करके लोग रातों-रात करोड़पति बनने के सपने संजो रहे हैं तथा रेत की दीवारों के महल बना रहे हैं। जनसंख्या के अनुपात में जैनों का प्रतिशत अब कम नही है। उन्हें अचौर्याणुव्रत की भावनायें भाकर अतिचारों से बचने की प्रयास पूर्वक आवश्यकता है। 'शीलं परं भूषणम्' का भाव अब समाज में कहीं-कहीं ही दिखाई दिया करता है। उत्साहपूर्वक रावण का पुतला जलाने वाले लोग ही रावण का आचरण करते लजाते नही हैं। स्वपत्नी संतोष न रहने के कारण ही अमर्यादित मैथुन के कारण विश्व एड्स जैसी खतरनाक बीमारियों की गिरफ्त में आ गया है। बलात्कार और उसके बाद हत्या अब प्रत्येक नगर का प्रमुख समाचार बन गया है। व्यक्ति भोगविलास को ही अपना लक्ष्य समझ रहा है। ऐसी दशा में स्वपत्नीसन्तोष/स्वपतिसन्तोष व्रत ही एक मात्र इन समस्याओं का सार्थक समाधान प्रस्तुत कर सकता है। आचार्यों ने परिग्रह को सभी पापों का बाप कहा है, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि परिग्रह में लिप्त मनुष्य का अब परिग्रह को पाप मानने तक में विश्वास नही रहा है। जरूरत से अधिक वस्तुओं के संग्रह ने अन्य व्यक्तियों को अभाव में जीने के लिए मजबूर कर दिया है। पर्याप्त अन्न भण्डार होने पर भी उड़ीसा में लोग भूख के कारण मर रहे हैं। यदि हम वास्तव में ही 'जिओ और जीने दो' की भावना रखते हैं तो हमें अपनी इच्छाओं को सीमित करके परिग्रहपरिमाण अणुव्रत अपनाना ही होगा।

पाँचो अणुव्रत मानव, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के नैतिक उत्थान के लिए परम आवश्यक हैं। आज के सन्दर्भ में अणुव्रतों के सामयिक प्रयोग की महती आवश्कता है। यही व्यक्तित्व निर्माण की आधारभूमि है।

सन्दर्भ :-

1. सागारधर्मामृत 1/15 की स्वोपज्ञ टीका, 2. अभिधानराजेन्द्र कोष, भाग 7 पृष्ठ 779,
3. गच्छाचारपयन्ना टीका, द्वितीय अधिकार, 4. स्थानाङ्ग.सूत्र, ठागा 4 उद्देश 4,
5. सागरधर्मामृत, 7/38-39, 6. आदिपुराण, 39/149,
7. मद्यमांसमधुत्यागै: सहाणुव्रतपञ्चकम्। अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तम:।। -रत्नकरण्डश्रावकाचार, 66,
8. हिंसासत्यास्तेयादब्रह्नपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
   द्यूतान्मांसान्मधाद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणा:।।
   (चारित्रसार में उद्धृत)
9. मद्यं मांसं क्षौदं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
   हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।। पुरुषार्थसिद्धि, 61
10. मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती।
    जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणा:।।
    -सागारधर्मामृत, अध्याय 2
11. समीचीन धर्मशास्त्र, प्रस्तावना पृ. 59,
12. 'व्रतमभिसन्धिकृतो नियम:, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा' -सर्वार्थसिद्धि, 7/1
13. संकल्पपूर्वक: सेव्ये नियमोऽशुभकर्मण:।
    निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्ति: शुभकर्मणि।।
    -सागारधर्मामृत, 2/80
14. 'एभिश्च दिग्व्रतादिभिरुत्तरव्रतै: सम्पन्नोऽगारी व्रती भवति।'
    -'अणुव्रतोऽगारी' सूत्र का तत्त्वार्थाधिगम भाष्य
15. सर्वार्थसिद्धि, 7/20
16. अणूनि लघूनि व्रतानि अणुव्रतानि। लघुत्वं च महाव्रतोपक्षया अल्पविषयत्वादिनेति प्रतीतमेवेति। उक्तं च
    सव्वगयं सम्मत्तं सुए चरित्तेन फ्जया सव्वे।
    देसविरइं पमुच्च दोण्ह वि पार्डसेवणं कुज्जा।।
    अथवा सर्वविरतापेक्षयाऽणोर्लघोर्गुणिनो व्रतानि अणुव्रतानि।
    -अभिधानराजेन्द्र कोष, भाग 1 पृष्ठ 416
17. चारित्रसार, 13/3, 18. श्रावकाचारसंग्रह, भाग 4 भूमिका पृष्ठ 37, 19. वसुनन्दि श्रावकाचार, 209
20. धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
    स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसांतेऽपि मुञ्चन्तु।। -धर्मरत्नाकर, 924
    (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, 76)
21. बन्धवधच्छेदातिरोपणान्नपाननिरोधा:। -तत्त्वार्थसूत्र 7/25
22. वाङ्.मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि च पञ्च । -वही 7/4
23. द्रष्टव्य-उपासकाध्ययन, द्वितीय आश्वास

24. येनाप्रत्ययदण्डो सन्तापो भवति निरपराधस्य।
असदभिधानं त्वनृतं तत्त्याज्यं दूरतः सुधिया।। धर्मरत्नाकर, 1022
25. स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तदवदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्।। रत्नकरण्ड -श्रावकाचार, 55
26. मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकार- मन्त्रभेदाः। -तत्त्वार्थसूत्र 7/26
27. क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च। -वही 7/5
28. सर्वार्थसिद्धि, 7/15
29. निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न दत्ते तदकृशचौर्यादुपरमणम्।। रत्नकरण्ड., 57
30. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 315-316
31. 'स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान प्रतिरूपकव्यवहाराः।' -तत्त्वार्थसूत्र, 7/27
32. शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च।' -वही 7/7
33. सर्वार्थसिद्धि, 7/9
34. न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि।। रत्नकरण्ड., 59
35. वसुनन्दिश्रावकाचार, 212, 36. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 337-338, 37. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 110
38. 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिग्रहीतापरिग्रहीतागमनानङ्ग.-क्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः।' -तत्त्वार्थसूत्र 7/28
39. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 60, 40. भगवती आराधना, 1210, 41. तत्त्वार्थसूत्र, 7/7, 42. राजवार्तिक, 6/15
43. ज्ञानार्णव, 16/12/178, 44. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 61, 45. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 339-340
46. लाटीसंहिता, 7/40-42
47. 'क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति-क्रमाः।' -तत्त्वार्थसूत्र, 7/29
48. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 62
49. 'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च।' -तत्त्वार्थसूत्र, 7/8

-उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एस. डी. (पी. जी.) कॉलेज
मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)

जेण विणा चारित्तं, सुअं तवं दाणसीलं अवि सव्वं।
कासकुसुमं व विहलं, इअ मुणिअं कुणसु सुहभवं ।।
-श्री सोमदेवसूरिकृत आराधना प्रकरण, 58

अर्थ- जिसके बिना चारित्र, श्रुत, तप, दान और शील सब कास के फूल की तरह विफल (फलहीन) हो जाते हैं, ऐसा जानकर शुभ भाव करो।

सप्त व्यसन का समाज पर दुष्प्रभाव

-डॉ. ज्योति जैन

भौतिकवाद की चकाचौंध और आधुनिकता के परिवेश में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समस्या से ग्रस्त अपने आप को तनाव, निराशा और अशांति से घिरा पाता है। जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें (स्टेप वाई स्टेप) व्यक्तियों की समस्याओं का निराकरण कर, उसे आत्म कल्याण की ओर अग्रसर होने एवं सुख शांति का अनुभव प्राप्त करने के लिये एक सुदृढ़ और सुव्यवस्थित आचार संहिता हमारे आचार्यों ने दी है। इसीश्रृंखला में धर्म हमें सबसे पहले पापों से परिचय कराता है क्योंकि जब तक व्यसनरूपी पाप नहीं हटेंगे धर्म नहीं होगा। इसीलिये जैन दर्शन कर्मो की निर्जरा पर जोर देता है। आचार्य पद्मनंदी ने पंचविंशातिका में उन सप्त व्यसनों का परिचय कराया है जो जीवन में सबसे अधिक हानि पहुंचाते हैं, यह पाप हैं, विष रूप है।

21वीं सदी आते आते मानव अपने मानवीय आदर्श एवं संस्कार खोता जा रहा है और अशांति, हिंसा, लूटपाट, बलात्कार, आतंकवाद जैसी कुप्रवृतियां बढ़ती जा रही हैं। आपाधापी की यह अंधी दौड़ हमें कहां ले जायेगी पता नहीं। भौतिक सुख सुविधा ने मनुष्य को विलासी बना दिया है। पैसे को इतनी प्रतिष्ठा मिल गयी है कि सब पैसे को भगवान समझने लगे हैं इसी पैसे और विलासिता ने मनुष्य के विवेक पर परदा डालकर उसे व्यसनी बना दिया है। अत: आवश्यकता है कि हम विवेक को जागृत करें, आखें खोलें, संस्कार, शिक्षा और गुरु वाणी के माध्यम से धर्म के मार्ग को अपनायें। आज छोटे छोटे बच्चे संस्कार हीनता के कारण व्यसनयुक्त होते जा रहे हैं अत: परिवार का दायित्व विशेष रूप से मां का दायित्व अधिक बनता है कि उन्हें संस्कारित करे।

आज बच्चों में जुआ रूपी विभिन्न प्रतियोगितायों की लत, अभक्ष्य पदार्थो का सेवन, झूठ, बेइमानी जैसी बुरी आदतें, नशीली चीजों का सेवन, उन्मुक्त

यौन व्यवहार, क्रूरता, करुणा का अभाव, और रिश्तों की बदलती मर्यादायें जैसी सामाजिक बुराईयां बचपन से ही पनपने लगीं हैं बड़े होने तक ये बुरी आदतों में परिणत हो जाती है। अतः उचित शिक्षा, संस्कार एवं गुरु-वाणी से उन्हें विवेकवान बनाना आवश्यक है। तभी अच्छे-बुरे की पहचान होगी ये सब किसी ट्युशन या कोचिंग क्लास में नहीं मिलेगा यह सब हमें धार्मिक/नैतिक संस्कारों की शिक्षा के द्वारा मिलेगा। सच ही कहा है कि धर्म जीवन का आधार है। धार्मिक/नैतिक संस्कारों से मानवीय गुणों, संवदेनाओं एवं विचारों को बल मिलता है।

इस संसार में अच्छाई भी है बुराई भी है, नेकी भी है और वदी भी है, पाप भी है पुण्य भी है, व्यसन भी है सदाचार भी है यह हमारे विवेक पर निर्भर है कि हम क्या चुनें।

गुरुवर कहते है कि संसार की बगिया में से फूल-चुनो, शूलों को भूल जाओ जो फूल चुनता है उसका जीवन फूल सा सौरभ बिखेरता है

वैसे तो आचार्यो ने व्यसनों खोटी आदतों को सात भागों में बांटा है, पर ये सात व्यसन 7000 व्यसन से कम नहीं। जितने भी अनैतिक-पापयुक्त कार्य है सभी व्यसनों में आते है जो मानव को पतन की ओर ले जाते हैं। आचार्यों ने सात व्यसन बताये है।

ये सात व्यसन है- द्यूत-मांस-सुरा-वेश्या खेट चौर्य पराङ्गना, **महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः॥** जुआ, मांस, शराब, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, परस्त्रीसेवन ये सात व्यसन हैं जिनका त्याग होना चाहिये।

जुआ :- व्यसनों में जुआ को पाप का बीज बताया है। अर्थात् यदि अपने जीवन को पापमय बनाना है तो जुआ रूपी व्यसन के बीज की अपने जीवन में बोनी कर दो (बो-लो)। इतिहास गवाह है कि जुआ खेलने के कारण किस तरह वंश के वंश नष्ट हो गये और महाभारत जैसा युद्ध हुआ। युधिष्ठर जैसा धर्मज्ञ, अर्जुन जैसा धर्नुधारी, भीम जैसा योद्धा, नकुल व सहदेव जैसे वात्सल्य प्रेमी को दुनिया की कोई ताकत पराजित नहीं कर सकती थी, उन्हें जुआ ने पराजित कर दिया।

हार जीत की शर्त लगाकर कोई भी खेल खेलना सभी जुआ के अन्तर्गत आते है। मनुष्य ने मनोरंजन के लिये अनेक जुआ रूपी खेलों का अविष्कार कर लिया है। आधुनिक होटल संस्कृति, क्लबों, किटीपार्टियों आदि में इनकी उपस्पिति आवश्यक हो गयी है। नये-नये तर्ज पर बड़े-बड़े कैसीनो (जुआघर) खुल गये हैं जहां परिवार समेत जुआ खेला जाने लगा है। (हर वर्ग के लिये अलग-अलग व्यवस्था)। बदलते परिवेश में जुआ के इतने रूप सामने आ रहे हैं उनसे कहां तक कौन बच पाता है कहना मुश्किल है।

जुआ का ही एक रूप लाटरी ने मानव जीवन की जो बर्बादी की है उस पर जितना कहा जाये जितना लिखा जाये कम है। अनेकों घर, बच्चे, परिवार, लाटरी की भेंट चढ़ गये। आज टी.वी. इंटरनेट के माध्यम से विभिन्न प्रतियोगितायें जो सामने आ रही है उनसे न केवल व्यक्ति की कार्यक्षमता प्रभावित हुई है बल्कि अनेक परिवारों की शांति भंग हो गयी है इन्हीं में उलझा व्यक्ति अपने जीवन को भी उलझा रहा है। कौन बनेगा करोड़पति ने ऐसा लालच, नशा पैदा किया कि लोग काम करना, खाना पीना भूल गये बस इस तक पहुँचने की कल्पनाओं में अपना बहुमूल्य समय नष्ट करने में लगे हुए हैं।

जुआ रूपी नशा न केवल हमारी बुद्धि का नाश करता है वरन् धन और अमूल्य समय को भी नष्ट करता है। यूं तो जुआ कानूनन जुर्म भी है पर अपने नये रूपों में कानून को भी मात दे देता है।

इस संदर्भ में हम महिलाओं का विशेष दायित्व है। द्रौपदी के कथानक को कैसे भुलाया जा सकता है। नारी जाति के अपमान के मूल में जुआ ही था। द्रौपदी का तो तीव्र पुण्य कर्म का उदय था कि अतिशय प्रगट हुआ और उसका चीर हरण न हो सका पर आज हम किस अतिशय की प्रतीक्षा करेगे! आज हमें स्वयं इस पाप से अपने परिवार को बचाना है ध्यान रखो परिवार के किसी एक व्यक्ति की गलत आदत पूरे परिवार की सुख-शांति भंग कर देती है। हमारे संस्कार, हमारी शिक्षा और हमारे गुरुओं की वाणी ही सही गलत की पहचान कराती है। अत: जुआ रूपी पाप को पास में न फटकने दे।

मांस खाना :- कल्पना भी नहीं की गयी थी कि 21वीं सदी आते आते मानव इतना हिंसक हो जायेगा जितना कि वह अपनी असभ्य अवस्था में भी नहीं था। महावीर और गांधी के अहिंसावादी देश में आज चारों ओर हिंसा ही हिंसा दिखाई दे रही है।

भोजन प्रत्येक प्राणी की अविवार्य आवश्यकता है। प्रकृति ने मनुष्य को शाकाहारी बनाया पर रसना इन्द्रिय की लोलुपता और आधुनिकता के व्यामोह में हम शाकाहारी भी जाने-अनजाने अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने लगे हैं। प्राणीमात्र के प्रति दया भाव रखने वाला जैन धर्म भक्ष्य-अभक्ष्य के संबंध में सदैव सचेत करता रहा है। वैज्ञानिक परीक्षणों से भी सिद्ध हो गया है कि मांसाहार स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है एवं विभिन्न बीमारियों को जन्म देता है।

'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' कहावत वर्षों से हमारे आहार चर्या रूपी धरोहर के रूप में चली आ रही है। हम जैसा खायेंगे हमारे मन की परिणति वैसी ही होगी। यदि हम मांसाहारी अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करेंगे तो हमारे परिणाम हिंसात्मक ही होंगे। संसार में जितने भी हिंसात्मक कार्य हो रहे है उन सबके पीछे मांसाहार भी एक कारण है।

अनेक वैज्ञानिक एवं सामाजिक सर्वेक्षण एवं शोधों से स्पष्ट हो गया है कि शाकाहार ही उत्तम आहार है। शाकाहार शांतिकारक, हानिरहित, सुखी जीवन शैली की पहचान है। हमारे शास्त्रों में इस सबंध में अनेक कथानक हैं जैसे-राजा बक जिसने बच्चों तक का मांस खाया उसकी क्या दुर्दशा हुई। एक मांसाहारी भील की कथा जिसने मुनिराज के कहने पर कौए का मांस छोड़ दिया।

आज देश में अंधाधुंध पशुओं का कत्ल हो रहा है, मांस का निर्यात हो रहा है जो हमारी अहिंसावादी संस्कृति के विपरीत है। भाषण बाजी, रैलियां जुलूसों से काम नहीं चलने वाला, शाकाहारियों का एक बहुत बड़ा समुदाय है जनचेतना जागृत कर सरकार पर दबाब डाल सकते है। शाकाहारी जन प्रतिनिधियों का इस सबंध में विशेष उत्तरदायित्व है। तभी सरकार की नीतियों में हम परिवर्तन ला सकते हैं।

आज हम सब पढ़े लिखे हैं फिर भी खाने-पीने की वस्तुओं में विवेक नहीं रख रहे हैं। आज होटल संस्कृति को बढ़ावा मिल रहा है। राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय भोज्य पदार्थो की शृंखला, डिब्बाबंद भोज्य पदार्थ, फास्टफूड, चाइनीज डिसेस , चाकलेट, आइसक्रीम, सलाद जिसमें न जाने क्या क्या उपयोग होता है, ने हमारे आहार में घुसपैठ कर ली है। हमारी जैन संस्कृति में आचार्यों ने आहार सबंधी एक सुव्यवस्थित/मर्यादित/संयमित एवं स्वास्थ्य वर्धक आचार संहिता दी है जिसका सहजता से पालन किया जा सकता है। हम महिलाओं का विशेष दायित्व है कि आधुनिकता के व्यामोह में अपनी आहार चर्या को न भूलें। पेट को एक संतुलित, नियमित, मर्यादित आहार दें ताकि व्यक्ति स्वस्थ सुखी जीवन बिता सके। आचार्यो ने इस व्यसन को विस्तृत करते हुये बिना छना पानी, रात्रिभोजन, होटल भोजन, रेडीमेड भोजन, दवाईयों आदि के सबंध में विवेक रखने को कहा है।

हमारे जैन आचार्यों, साधुओं, मुनियों, आर्यिकाओं, विद्वानों एवं बुद्धिजीवियों ने इस संबंध में सार्थक प्रयास किये हैं सार्वजनिक मंच से प्रवचन, भाषण, छोटी छोटी किताबें निकालीं हैं। इस संबध में वर्तमान में हमारे आचार्यो मुनियों का समाज पर बहुत बड़ा उपकार है। अपने मार्मिक प्रवचनों के माध्यम से अनेक लोगो का न केवल हृदय परिवर्तन किया वरन् क्या खाये क्या न खाये इस संबध में भी विवेक जागृत किया है।

शराब-नशा :- आचार्यो ने कहा है शराब नशा समस्त पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है नशा करने वाला व्यक्ति चारों पुरुषार्थों (अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष) में से किसी को भी प्राप्त नहीं कर सकता है, द्वीपायन मुनि द्वारा द्वारका भस्म हो गयी, यह कथानक किसे याद न होगा।

बड़े बड़े समृद्ध परिवार, नशे की वजह से उजड़ते देखे गये हैं परिवार के परिवार नशे की लत में नष्ट हो गये। आज ट्रेफिक की जितनी भी दुर्घटनायें होती हैं अधिकांश नशे में होती है। शराबी व्यक्ति अच्छा-बुरा भक्ष्य-अभक्ष्य दिन-रात का ज्ञान नहीं कर सकता अपना विवेक खो देता है। आए दिन हम शराबियों, नशेड़ियों की विवेक हीनता देखते रहते हैं। शराब के नशे में बेटी

तक से बलात्कार, नाली–गंदगी में पडे रहना, हिंसा कर देना और परिवार की शांति भंग कर देना आदि निंदनीय क्रियायें करते रहते हैं। शराब के नशे में व्यक्ति क्रूर क्रोधी अंसयमी बन जाता है उसके लिये सामान्य जीवन का कोई महत्व ही नहीं रहता है।

देश की सरकार की नीति भी कुछ इस तरह की है कि मद्यपान और नशीलीं चीजों को बढ़ावा ही मिल रहा है। गली–गली में खुली दुकानें नशा ही नशा बेच रहीं हैं। शराब, अफीम, गांजा, स्मैक, कोकीन, सिगरेट, तम्बाकू, भांग, हरोईन, पान मसाला, गुटका और तरह तरह के इन्जेक्शन जैसी नशीली वस्तुओं का प्रयोग कर स्वयं अपनी मौत को बुला रहे हैं। स्लोपाइजन के रूप में ये नशीले पदार्थ शरीर में असहाय बीमारियों का घर बना रहे हैं। आजकल नशे के नाम पर विभिन्न जहरीले जीवों के अवयव जैसे छिपकली आदि आयुर्वेद के विभिन्न आसव, पीड़ा हारी आयोडेक्स तक नशेडी ब्रेड में लगाकर खा जाते हैं। आधुनिकता की बहार में बहता कोल्डडिंक्र का मायाजाल भी क्या पिला दे कुछ पता नहीं। कोका–कोला के फार्मूले का आज तक पता नहीं फिर भी लोग बोतल दर बोतल पीते चले जाते हैं। क्या हमारा विवेक नहीं कहता कि देखो क्या मिला है किससे बना है। यहां तक कि अपने अहं में लोग इसे पानी से शुद्ध बताने लगे है। पान मसाला, सिगरेट, तम्बाकू आदि सभी पदार्थों का हानिकारक प्रभाव हम रोज ही देख रहे हैं।

मद्यपान और नशीले पदार्थ के सेवन से व्यक्ति की वृत्ति और प्रवृत्ति दोनों बिगड़ रही है। एक शोध के अनुसार जितने अपराध होते है उनमें 92% शराब–नशीलीं चीजों के कारण होते हैं।

नयी–पीढ़ी नशीले पदार्थों को तनाव मुक्ति एवं उत्तेजना की तीव्र अनूभूति और मस्ती के लिये आवश्यक मानने लगी है पर यह एक भ्रम है पतन का रास्ता है।

हम उचित नैतिक/धार्मिक शिक्षा/ संस्कार एवं धर्मगुरुओं की वाणी से ऐसा वातावरण निर्मित करें ताकि बच्चे उस ओर आर्कषित ही न हों। हमारा दायित्व है कि उन्हें व्यसन मुक्त बनायें। सच है यदि परिवार एवं समाज को नशे से

बचाना है तो हमारे दायित्व बढ़ते दिखाई देते हैं पहल हमें ही करनी है।

वेश्यागमन :- 'न नरकं वेश्यां विहायापरम्' अर्थात वेश्या के समान कोई दूसरा नरक नहीं है। जहां अन्य व्यसन नरक का द्वार है वहां वेश्यागमन साक्षात् नरक है। वेश्यागमन से शरीर एवं आत्मा दोनों का पतन होता है। बाजारू स्त्री अर्थात् वेश्या धन और वासना की पूर्ति हेतु कुछ भी कर सकती है। पुरुषों को प्रेम जाल में फंसाकर व्यक्ति की बुद्धि हरण कर नीच से नीच कर्म करने की ओर प्रेरित कर देती है। चंपापुरी के चारुदत्त के वेश्यागमन की कहानी से कौन परिचित नहीं है। चारुदत्त महान स्वाध्यायी, साधुसंगति, धार्मिक चर्चायें, तत्त्व चिंतन-मनन करने वाला था उसके परिवार वालों ने उसकी शादी कर दी। पर तत्त्व चिंतन करने वाले को पत्नी भी मोह में न बांध सकी तब उसके मामा चारुदत्त को वंसत सेना नामक वेश्या से मिलवाते है उस वेश्या का ऐसा जादू चलता है कि सारा ज्ञान धरा का धरा रह जाता है और वह वेश्या के प्रति समर्पित हो जाता है और अपना सब कुछ लुटा देता है। इसी तरह एक सुंदरी के प्रेम में फंसकर युवक अपनी मां का कलेजा लाकर दे देता है।

वेश्यागमन व्यसनी व्यक्ति परिवार का नाश तो करता ही है अपने आप का भी नाश करता है। विभिन्न बीमारियों का शिकार हो जाता है। एड्स जैसी बीमारी मानो प्रवृत्ति की तरफ से अनैतिक आचरण करने वालों को दंड स्वरूप है। आज एड्स जैसे भंयकर बीमारी से विश्व लड़ रहा है युवाओं में इस बीमारी के बढ़ते हमारी नैतिकता पर प्रश्नचिन्ह लग रहा है कि इंसान कितना विषय भोगी हो गया है।

आज इस व्यसन के अनेक पहलू समाज के सामने अनेक नामों और कामों से सामने आ रहे हैं आधुनिकता के परिवेश में इन्हें सेक्स वर्कर नाम दे दिया गया है। होटल, क्लब, गेस्ट हाऊस के माध्यम से इस व्यसन की एक नयी संस्कृति पनप रही है जो युवा पीढ़ी को आर्कषित कर रही है। आधुनिक उन्मुक्त वातावरण में अन्य व्यवसाय की तरह इसे भी व्यवसाय माना जाने लगा है। इस सबका प्रभाव यह होगा कि हमारे आदर्श हमारी नैतिकता धरी की धरी रह जायेगी।

एक दुखद पहलू यह भी है कि न चाहते हुये भी गरीबी बेरोजगारी एवं अन्य कारणों से अनेक महिलाओं, युवतियों यहां तक कि छोटी बच्चियों को इस नरक में ढकेला जा रहा है। जहां से वे जीवन भर मुक्त नहीं हो पाती और नारकीय जीवन बिताने को मजबूर हो जाती है। मनुष्य की बढ़ती हुई विकृति का ही नमूना है कि छोटी बच्चियों से सेक्स संबंध बताने वाले ये आंकड़े इतनी भंयकर तस्वीर दिखाते है कि मानवता मानो खत्म हो गयी हो। असंयम और अशिक्षा ने जो विकृतियां पैदा की है उन्हें हम सब मिलकर दूर करने का प्रयास करें और संयम ही जीवन है इस सिद्धांत को अपनायें।

शिकार :- शिकार का अर्थ हैं किसी प्राणी को अपने शौकपूर्ति या मनोरंजन के लिये मारना। मनुष्य इतना क्रूर और हिंसक होता जा रहा है कि उसे हिंसक कार्यो में आनंद की अनूभूति होने लगी है। आज छोटे जीवों से लेकर विशाल प्राणी तक का अस्तित्त्व खतरे में है। अनेक शौकीन लोग मनोरंजन के लिये शिकार करते हैं और उसका सिर खाल आदि ड्राइंग रूम में लगाकर अपनी बहादुरी का प्रदर्शन करना नहीं भूलते। दवाईयों एवं सौंदर्य प्रसाधनों एवं विभिन्न प्रयोगों की प्रयोगशालाओं के माध्यम से प्राणियों का नितप्रतिदिन घात हो रहा है। विदेशों में प्रचलित खेलों में सांड आदि को लड़वा कर हिंसा में आनंद लेते हैं। अरब देशों में छोटे बच्चों को ऊंट की पीठ से बांधकर दौड़ लगवाते हैं और बच्चे को तड़पता देख आनंदित होते हैं। इसी तरह के हिंसक मनोरंजन कबूतरों, मुर्गो आदि को लड़वा कर भी करते हैं।

आज शिकार आदि पर प्रतिबंध तो है पर मानता कौन है? घरेलू हिंसा भी खूब हो रही है, घरों में कीटनाशकों के माध्यम से खूब कीड़े-मकोड़ों को मौत के घाट उतार दिया जाता है, गर्भपात करवाना भी शिकार रूपी व्यसन है। एक जीव को गर्भ में ही खत्म करवाना मानवीय हिंसा की पराकाष्ठा है। इतना हिंसामय वातावरण हो गया है कि पृथ्वी भी कांप उठती है और प्रकृति का संतुलन भी बिगड़ता जा रहा है। याद रखो दीन हीन प्राणियों को मारोगे तो भव भव भटकना पड़ेगा, सेनापति के शिकार की अनुमोदना का फल मुनि पर्याय में 500 मुनिराजों को भोगना ही पड़ा था। अत: शिकार व्यसन का त्याग करो और "अहिंसा परमो धर्म:" सिद्धांत को जीवन में उतारो।

चोरी-करना :- 'अदत्तादानम् स्तेयम्' अर्थात बिना दी हुई वस्तु को कोई ग्रहण करता है तो वह चोरी है। किसी वस्तु को छल कपट से छीनने पर दूसरों को दुख हो उसे भी चोरी कहेंगे।

चोरी करने वाला धन की तीव्र लालसा में हिंसा तक कर देता है। चोरी से उपार्जित धन का पाप चोरी करने वाले को लगता है, सारे परिवार को नहीं। डाकू बाल्मीकि की कहानी यहां स्मरण आ रही है जब एक संत ने पूछा कि तुम डाका डालते हो तो इसका पाप क्या परिवार के लोग उठायेंगे परीक्षा ली गयी। डाकू ने मरने का नाटक किया साधु आया उसने कहा कि ठीक कर दूंगा ये कटोरी का पानी पी लो पर पीने वाला मर जायेगा कोई पानी पीने को तैयार नहीं हुआ मां बाप भाई बहिन यहां तक कि पत्नी ने भी मना कर दिया। तब डाकू की आंख खुलती है और वह साधु बन जाता है एक व्यक्ति सुबह से शाम तक कितनी मिथ्या बातें करता है कितने झूठ बोलता है कितनी अनैतिकता से पैसे कमाता है ध्यान रखना इस पाप का भागीदार वह स्वयं है।

बदलते परिवेश में चोरी करने के अनेक तरीके विकसित हो गये हैं कर्मचारी आफीसर रिश्वत लेकर, शिक्षक स्कूल में न पढ़ाकर ट्युशन आदि से, खाद्य व्यापारी खाद्य में मिलावट, कम तौलना, न. 2 की कमाई करना, पुलिस आदि का भी रिश्वत लेना सरकारी कर्मचारियों के तो सारे काम कागज पर ही हो जाते हैं कहां तक गिनाये जायें चोरी और चोरी करने वालों की कोई कमी नहीं है। सर्वत्र भ्रष्टाचार, बेईमानी, रिश्वत का बोलबाला हो गया है कानून अंधा होता जा रहा है। फिर भी संस्कारवान शिक्षा और मुनियों द्वारा उपदेशों को सुनने से एक बात तो सामने आती है कि जो तुम गलत कर रहे हो तुम्हारी आत्मा-मन तो जान ही रहा है अतः ईमानदारी से धन कमाओ और जीवन को सार्थक बनाओ सच भी है-

अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति।
जायतेकादशे वर्षे समूलं विनश्यति॥

परस्त्री सेवन :- यह एक ऐसा व्यसन है जिसमें व्यक्ति अपनी नैतिकता का ह्रास कर लेता है विषय वासना में फंसा व्यक्ति चाहे स्त्री हो या पुरूष वह

शरीर, मन, या आखों में से किसी की माध्यम से सेवन करे व्यसनी तो हो ही गया। इतिहास इस व्यसन के कथानकों से भरा पड़ा है। रावण सीता की कहानी, सूर्पनखा की कहानी, राजा द्वारा अपनी रानी को अमरबेल देने की कहानी, कैसे रानी से वेश्या तक वह बेल पहुंच जाता है। राजा यशोधर की कहानी जिसमें रानी कुबड़े के प्रेम में फंसी होती है। आज भी ढेरो कथानक हैं, जो इस व्यसन की विभीषिका को दर्शाते हैं।

आधुनिकता से परिपूर्ण जीवन में हम आए दिन रिश्तों के समीकरण बनते बिगड़ते देखते हैं कपड़ों की तरह संबंधो को बदला जा रहा है। काम की पीड़ा स्त्री-पुरूष के विवेक को हर लेती है वासना की आंधी किसे कहाँ गिरा दे कुछ पता नहीं। घर के घर उजड़ जाते हैं आज घर रूपी नीव कमजोर पड़ रही है। परिवार जैसी संस्था खतरे में है सबंधों में विश्वास की कमी आती जा रही है किसका मन कहां आ जाये पता नहीं। उन्मुक्त खुली संस्कृति ने इस व्यसन को बढ़ावा ही दिया है। आज युवा पीढ़ी शादी को बंधन समझने लगी, बिना शादी किये ही साथ रहना महानगरों की संस्कृति में पनप रहा है रही सही कसर टी. वी. इंटरनेट ने पूरी कर दी। यौन संबधो के खुलापन से हम युवा पीढ़ी को कितना बचा पायेंगे यह सवाल हमारे सामने है। आज जिस तरह का वातावरण बन रहा है उसमें हमारी धार्मिक/नैतिक शिक्षायें और हमारे गुरुओं के उपदेश ही हमें इस सामाजिक प्रदूषण से बचा सकते हैं।

इस तरह ये सातों व्यसन पापों का पिटारा है नरक का कारण है और अशांति, तनाव के जनक हैं। अतः आवश्यकता है स्वयं संस्कारवान बनें बच्चों में भी नैतिक/धार्मिक संस्कार विकसित करें और गुरुओं की वाणी सुन जीवन को सुधारने का प्रयास करें तभी व्यसन मुक्त हो जीवन कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

-शिक्षक निवास

श्री के. के. जैन कॉलेज, खतौली

पुण्य और पाप का सम्बन्ध

-नंदलाल जैन

पुण्य का अर्थ 'पवित्रता उत्पन्न करने वाला साधन या साध्य है। यह व्यक्ति को पवित्र कर सकता है, व्यक्ति समूह को भी पवित्र कर सकता है। इस शब्द में कुछ 'परा-प्राकृतिकता' का भी समाहरण होता है क्योंकि पुनर्जन्मवादियों के लिये यह परलोक सुधारक भी होता है। वस्तुतः पुण्य पाप का विलोम है।

$$\text{पुण्य} \propto (1/\text{पाप}) \propto (1/\text{हिंसा})$$

हिंसा और उससे सम्बन्धित विविध रूपों से पापबंध होता है। फलतः यदि हिंसा = 0, तो पुण्य = (1/0) = अनन्त। इसलिये हिंसा के अल्पीकरण या शून्यकरण से पुण्य होता है। यदि हिंसा अल्पीकृत या शून्य होती है, तो पुण्य का अर्जन क्रमशः वर्धमान होकर अनन्त भी हो सकता है, जो सिद्ध दशा का प्रतीक है। जैनों के पांच पाप हिंसा के ही विविध रूप ही तो हैं, अर्थात्

$$\text{हिंसा} \propto \text{पाप}$$

हम पुण्य और पाप के संबंध को एक अन्य रूप में भी व्यक्त कर सकते हैं। वस्तुतः पुण्य पाप का नकारात्मक रूप है, अर्थात्

$$\text{पुण्य} = -\ \text{पाप}$$

या $\text{पुण्य} + \text{पाप} = 0$

सिद्ध अवस्था में, पाप = 0, फलतः पुण्य = 0

सर्वोच्च विकास की अवस्था में पाप कर्म तो शून्य हो ही जाते हैं, पुण्य कर्म भी सम्पूर्ण कर्मक्षय के कारण शून्य हो जाते हैं। फलतः यदि पाप = 0, तो पुण्य भी शून्य हो जायेगा। यह सिद्धों की सर्वोच्च स्थिति है। इसीलिये

निश्चयवादी यह कहते हैं कि उच्चतर आध्यात्मिक स्थिति में पुण्य भी हेय है (क्योंकि पुण्य भी तो कर्म है)। इस आधार पर पुण्य की इकाइयों का मान पाप की इकाइयों के समकक्ष पर ऋणात्मक होगा।

यद्यपि शास्त्रों में 'सावद्यलेशो, बहुपुण्यराशिः' कहा गया है, पर वहां न तो 'लेश' शब्द की परिमाणात्मकता बताई गई है और न ही 'बहु' शब्द का लेश-मात्रा से सम्बन्ध बताया गया है। पर इस सम्बन्ध को परोक्षतः भी अनुमानित किया जा सके, तो हमारे विवरण में किंचित् वैज्ञानिकता आ सकती है। तथापि, पुण्य की मात्रा का परिकलन हिंसा की मात्रा के परिकलन के समान सरल नहीं है क्योंकि पुण्यार्जन में मानसिक विचार एवं संकल्प एक अनिवार्य अंग है। यहां हम कर्म-सिद्धांत का उपयोग कर कुछ परिमाणात्मकता ला सकते हैं।

इसके अनुसार, पुण्य-प्रकृतियां 42 हैं और पाप प्रकृतियां 82 हैं। सामान्य गणित में यह कहा जा सकता है कि एक पुण्य प्रकृति दो पाप प्रकृतियों को उदासीन करने में समक्ष है।

कर्म सिद्धांत की एक अन्य धारणा के अनुसार, पुण्य हल्का होता है और पाप या हिंसा भारी होती है। साथ ही, कर्म, पाप और पुण्य सभी सूक्ष्म कणिकामय हैं अर्थात् भौतिक हैं। इन्हें आधुनिक भौतिक कणों के लघुतम और अल्पतम दीर्घ रूपों में व्यक्त करना तो कठिन ही है, फिर भी जैनों के अनुसार, चरम परमाणु का विस्तार और घनत्व अल्पतम होता है। इसे हम एक (जैसे हाइड्रोजन) मान लें, तो भारी कण का भार या विस्तार ऐसा होना चाहिये जिसमें नीचे की ओर पतित होने की न्यूनतम क्षमता हो। यदि वाल्टर मूर के अनुसार, चरम परमाणु का विस्तार, 10^{-13} सेमी. और द्रव्यमान 10^{-24} ग्रा. भी मानें, तब भी उसके घनत्व के मान को इकाई ही लेना होगा। इसका कारण यह है कि शास्त्रानुसार हिंसक नीचे नरक में जाता है और अहिंसक ऊपर स्वर्ग या मोक्ष तक जाता है। इस दृष्टि से हम लघुतम ठोस परमाणु लीथियम के समकक्ष मान लें जिसका भार हाइड्रोजन की तुलना में सात (या सातगुना भारी) होता है। इस आधार पर पुण्य और पाप का अनुपात

1:7 भी संभावित है अर्थात् एक पुण्य प्रकृति सात पाप प्रकृतियों को उदासीन करने में सक्षम है। यह संकेत उपरोक्त कर्म प्रकृति पर आधारित निष्कर्ष के विपर्यास में जाता है। फलत: पुण्य और पाप का सम्बन्ध निम्न दो रूपों में व्यक्त किया जा सकता है :

1 पुण्य ≡ 2 पाप (कर्म सिद्धांत)
1 पुण्य ≡ 7 पाप (घनत्व के आधार पर)

इन सम्बन्धों की यथार्थता का मूल्यांकन करना कठिन है, फिर भी, हम औसतन यह मान ले कि

1 पुण्य कर्म ≡ (7+2)/2 पाप कर्म ≡ 5 पाप कर्म

फलत: यह माना जा सकता है कि एक पुण्यमय कार्य प्राय: पांच पापमय कार्यों को उदासीन कर सकता है। निश्चित रूप से, पांच की संख्या 'एक' की संख्या की तुलना में 'बहु' तो मानी ही जा सकती है। यदि इस सम्बन्ध में अन्य कोई शास्त्रीय आधार पर धारणा उपलब्ध हो, तो ज्ञानीजन लेखक को सूचित करें।

पर प्रश्न यह है कि पुण्य की परिमाणात्मकता का केवल यह अनुपात ही आधार है या अन्य भी कुछ हो सकता है? साथ ही, विभिन्न पुण्य कार्यों की कोटि कैसे-निर्धारित की जावे? यह हिंसा की परिमाणात्मकता के समान सरल नहीं है। हमने हिंसा की मात्रा के परिकलन में विभिन्न जीवों की चैतन्य कोटि का आधार भी लिया है। सभी जीवों की आत्मा में समान-क्षमता होते हुये भी उनकी चैतन्य कोटि में अंतर होना ही चाहिये। यदि एक जीव में एक आत्मा की धारणा ही सही मानी जावे तो दो इन्द्रिय या पंचेन्द्रिय जीव के हिंसन में बराबर हिंसा माननी होगी जो सही नहीं लगता। इसलिये हिंसा का मान भी जीवों की चैतन्य कोटि पर आधारित मानना चाहिये।

यदि हम वर्तमान विज्ञान के अनुसार जीव की कोशिकीय संरचना माने, तो इन्द्रियों की वृद्धि के साथ सामान्यत: स्थूलता भी बढ़ती जाती है और उनमें

कोशिकाओं की संख्या भी बढ़ती जाती है। कोशिकाओं का आकार, विस्तार एवं संख्या का मापन अनुमित किया जा सकता है। इस दृष्टि से मनुष्यों के जीव में सौ खरब (10^{13}) कोशिकायें पाई जाती हैं और बैक्टीरिया एक कोशिकीय होता है। फलतः एक बैक्टीरिया की तुलना में सामान्य पंचेन्द्रिय मनुष्य के हिंसन में 10^{13} गुनी हिंसा संभावित है। इस आधार पर उनका चैतन्य भी इनकी तुलना में एक खरब गुना होना चाहिये। इतने अधिक हिंसक की संभावना के कारण ही पंचेन्द्रियों के हिंसन को उच्चतर नैतिक और धार्मिक अपराध माना गया है। पर यहां यह प्रश्न भी उठता है कि एक इन्द्रिय कोशिका के समूह की पंचेन्द्रियता कैसे स्थापित की जाय जिससे उसकी चैतन्य कोटि निर्धारित की जा सके। इस विषय में विचारणा चल रही है।

पुण्य के परिकलन में चैतन्य की कोटि तो पंचेन्द्रियों (पशु, मनुष्य, देव, नारक) के अनुरूप ही होगी क्योंकि विकलेन्द्रियों में शास्त्रानुसार मन नहीं पाया जाता। फलत: उनके प्रकरण में यह परिकलन यथार्थता से नहीं हो पायेगा। अतएव हमें और भी सूक्ष्मतम विश्लेषण एवं विचारणा की आवश्यकता पड़ेगी। फलत: हमारा पुण्य परिकलन पंचेन्द्रियों तक ही सीमित होगा। इस समय चैतन्य कोटि का निर्धारण चल रहा है।

-जैन सेंटर, रीवा, म.प्र.

ग्राह्योऽस्ति धर्मः सहितो दयाभिर्देवोऽपि चाष्टादशदोषमुक्तः।
रत्नैस्त्रिभिः सौख्यमयैश्च युक्तो वन्द्यो गुरुः स्वात्मरसेन तृप्तः॥

-बोधामृतसार, 5

अर्थ- जो धर्म दया से सहित है, वही ग्रहण करने योग्य है, जो देव अठारह दोषों से रहित वही देव ग्रहण (पूजन) करने योग्य है। जो गुरु सुखमय रत्नयय से युक्त है तथा आत्मारस से संतुष्ट है, वही गुरु वन्दना के योग्य है।

अनेकान्त शोध पत्रिका में प्रकाशित जैन इतिहास विषयक प्रमुख लेख

-डॉ. सुरेश चन्द जैन

20वीं शताब्दी श्रमण परम्परा के लिए महत्त्वपूर्ण शताब्दी रही है। स्वनाम धन्य पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी, ब्र. शीतलप्रसाद जी, आ.जुगलकिशोर मुख्तार, बाबू छोटेलाल, पं. गोपालदास जी बरैया, एवं परम्परा पोषक पण्डित वर्ग के अभ्युदय का जैन सांस्कृतिक परम्परा के विकास में इस शताब्दी कालखण्ड में विशिष्ट योगदान रहा है। इस शताब्दी के प्रारम्भ में श्री स्याद्वाद महाविद्यालय का अभ्युदय अद्यावधि विद्वत् परम्परा के संपोषण एवं अभिवर्द्धन के लिए एक गौरवपूर्ण उपलब्धि है तो दूसरी ओर अनेक संस्थाओं ने जैन सांस्कृतिक ऐतिहासिक परम्परा को शोध-खोज के माध्यम से नए आयाम दिए हैं। उनमें वीर सेवा मन्दिर दिल्ली द्वारा ऐतिहासिक महत्त्व के आलेख जैन परम्परा के लिए ऐसी धरोहर है, जिसके महत्त्व को रेखांकित करना कठिन नहीं तो दुरूह अवश्य है।

वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार की दीर्घकालिक परिकल्पना को 'अनेकान्त' पत्र ने मूर्त रूप प्रदान किया है। तत्कालीन परिस्थिति का वास्तविक परिदृश्य उपस्थित करते हुए आ.मुख्तार सा. ने अपने सम्पादकीय में लिखा था 'खेद है, जैनियों ने अपने आराध्य देवता 'अनेकान्त' को बिल्कुल भुला दिया है और वे आज एकान्त के अनन्य उपासक बने हुए हैं, उसी का परिणाम है उनका सर्वतोमुखी पतन, जिसने उसकी सारी विशेषताओं पर पानी फेर कर उन्हें संसार की दृष्टि में नगण्य बना दिया है। अस्तु, जैनियों को फिर से अनेकान्त की प्राण प्रतिष्ठा कराने और संसार को अनेकान्त की उपयोगिता बताने के लिए ही यह पत्र अनेकान्त नाम से निकाला जा रहा है।'

1. अनेकान्त वर्ष 1, किरण 1, पृष्ठ 57

'जैन हितैषी' ने जिस शोध खोज का शुभारम्भ किया था उसे अनेकान्त ने नए क्षितिज प्रदान किए। समन्तभद्राश्रम नाम से प्रारम्भ हुई संस्था वीर सेवा मन्दिर के रूप में भी अपने लक्ष्य पर कायम रही और 'समन्तात् भद्रः' स्वरूप को स्थापित करने मे अनेकान्त ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

अनेकान्त के प्रसिद्ध इतिहास सम्बन्धी आलेखों की संख्या 693 है, जिसमें पुरातत्त्व, संस्कृति, स्थापत्य, एवं कला सम्बधित लेख गर्भित हैं। विगत 72 वर्षों की दीर्घ जीवन में अनेकान्त ने अनेक उतार-चढ़ावों का सामना किया है। समाज के उदासीनभाव, प्रतिगामी स्वभाव और साहित्य इतिहास के प्रति व्याप्त घोर उपेक्षा को भी सहन करना पड़ा है। अनेकान्त ने वी.नि. संवत् 2456 (1929) में समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) आ. जुगलकिशोर जी मुख्तार के दिशा-निर्देशन में मासिक के रूप में अपना सफर प्रारम्भ किया। तदुपरान्त आर्थिक संकटों में उलझ गया। सरसावा में स्थानान्तरित होने के बावजूद आठ वर्षों तक निष्क्रिय रहा। बाबू छोटेलाल कलकत्ता तथा लाला तनसुखराय जैन के आर्थिक सम्पोषण से 1938 से पुनः प्रकाशित किया गया। एक वर्ष भारतीय ज्ञानपीठ ने भी संचालन किया। जुलाई 1949 में फिर आर्थिक संकट के कारण दो वर्ष तक अपने सफर को इसे रोकना पड़ा। 1957 तक चलकर पुनः 5 वर्ष के लिए रुकना पड़ा। 1962 से 1975 तक द्वैमासिकी के रूप में प्रकाशित होता रहा। 1975 से इसका सफर रुका नहीं और त्रैमासिक के रूप में प्रकाशित होता आ रहा है। अनेकान्त में प्रकाशित इतिहास विषयक महत्त्वपूर्ण आलेख की अकारादि क्रम से सूची निम्नांकित है-

इतिहास पुरातत्त्व संस्कृति, स्थापत्य, कला

अ

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान
-परमानन्द जैन शास्त्री 19/276, 19/326

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान
-पं. परमानंद शास्त्री 20/98, 20/177, 202233

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान
-परमान्द शास्त्री 21/46, 21/91, 21/185

अचलपुर के राजा श्रीपाल ईल
-नेमचन्द धन्नूसा जैन 19/105

अतिशय क्षेत्र-एलोरा की गुफाएँ

-बा. कामताप्रसाद जैन 4/9
अतिशय क्षेत्र कोनी-सि. हुकमचन्द सांधेलीय
16/41 अतिशय क्षेत्र खजुराहो
-परमानन्द शास्त्री 13/160
अतिशय क्षेत्र चन्द्रवाड-परमानन्द शास्त्री 8/345
अतिशय क्षेत्र श्री कुण्डलपुर
-श्री रूपचन्द बजाज 9/321
अतीत के पृष्ठों से (कविता)
-भगवतस्वरूप 2/237
-अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर तथा श्रीपुर पार्श्वनाथ
स्तोत्र-नेमचन्द धन्नूसा जैन 18/99
अयोध्या एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर
-परमानन्द शास्त्री 17/78
अनार्य देशों में तीर्थंकरों और मुनियों का विहार
-मुनि श्रीनथमल 17/122
अर्हन्महानन्द तीर्थ
-पं. परमानन्द जैन शास्त्री 4/425
अलोप पार्श्वनाथ प्रसाद
-मुनि श्री कान्ति सागर 20/41
अहार का शान्तिनाथ संग्रहालय
-श्री नीरज जैन 18/221
अहार क्षेत्र के प्राचीन मूर्तिलेख
-पं. गोविन्ददास जी कोठिया 9/383
अहार क्षेत्र के प्राचीन मूर्ति लेख
-पं. गोविन्ददास न्यायतीर्थ
10/24/, 10/69, 10/97, 10/143
अहार लड़वारी-श्री यशपाल जैन बी.ए. 4/226
अहिंसा प्राचीन से वर्तमान तक
-श्री जगन्नाथ उपाध्याय 28/1
अग्रवाल जैन जाति के इतिहास की आवश्यकता
-श्री अगरचंद नाहटा 30/4
अतिशय क्षेत्र आहार के मंदिर -डा. कस्तूरचंद्र
सुमन 44/4

आ

आ. कुन्दकुन्द पूर्ववित् और श्रुत के आद्य
प्रतिष्ठापक हैं
-पं. हीरालाल सि.शा. 14/317
आगम और त्रिपिटकों के सन्दर्भ में अजातशत्रु
कुणिक
-मुनि श्रीनगराज 21/25, 21/59
आगमों के पाठभेद और उनका मुख्य हेतु
-मुनि श्री नथमल 17/118
आचार्यकल्प पं. टोडरमल जी
-पं. परमानन्द शस्त्री 9/25
आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की बिम्ब
योजना
-डा. नेमिचन्द्र जैन एम.ए.पी.एच.डी. 15/196
आचार्य विद्यानन्द का समय और स्वामी वीरसेन
-बा. ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए. 10/274
आत्माविद्या क्षत्रियों की देन
-मुनि श्री नथमल 20/162
आनन्द सेठ
-पं. हीरालाल सिं. शा. 14/296
आमेर के प्राचीन जैन मन्दिर : उनके लेख
-पं. अनूपचन्द न्यायतीर्थ 16/209
आचार्य विद्यानन्द के समय पर नवीन प्रकाश
-न्या. पं. दरबारीलाल 'कोठिया' 10/91
आचार्य श्री समन्तभद्र का पाटलिपुत्र
-डा. दशरथ शर्मा एम.ए.डी.लिट 11/42
आर्य और द्रविड़-संस्कृति के सम्मेलन का
उपक्रम
-बा. जयभगवान जैन एडवोकेट 12/335
आर्यों से पहले की संस्कृति
-श्री गुलाब चन्द्र
चौधरी एम. ए. 10/403
आश्रम पट्टन ही केशोराय हैं
-डा. दशरथ शर्मा 19/70
आगरा में जैनों का संबंध और प्राचीन जैन
मन्दिर
-बाबू ताराचंद रपरिया 24/6

आहड़ के जैन का अप्रकाशित शिलालेख
-श्री रामबल्लभ सोमाड़ी 25/3
आदिजिन शिव एवं शैव परम्परा
-श्री मुनीशचंद्र जोशी 1/2
आगमों के प्रति विसंगतियां
-श्री पद्मचंद्र शास्त्री 48/1,2,3,4
आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत
-पं. पद्मचंद्र शास्त्री 33/2
आदिपुराण में लोक संस्कृति
-श्री राजमल जैन 53/3

ओ

ओसियां का प्राचीन महावीर मंदिर 27/1
-श्री गिरोशचंद्र त्रिपाठी 10/265

इ

इटावा जिले का संक्षिप्त इतिहास
-श्री गिरोशचंद्र त्रिपाठी 10/265
इतिहास -पं. नाथूराम प्रेमी 1/469
इतिहास क परिप्रेक्ष्य में पावागिरि
-डा. भागचन्द्र भागेन्दु 23/1

उ

उच्चकुल और उच्चजाति महात्मा बुद्ध के उद्गार
-बी. एल. जैन 3/77
उज्जैन के निकट प्राचीन दि. जैन मूर्तियाँ
-बा. छोटेलाल जैन 12/327
उत्तर कन्नड का मेरा प्रवास
-पं. के. भुजबली जैन शास्त्री 12/76
उपनिषदों पर श्रमण संस्कृति का प्रभाव
-मुनि श्री नथमल 19/262
उस विश्वबन्द्य विभूति का धुंधला चित्रण
-देवेन्द्र जैन 3/77
उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र
-श्री परमानन्द शास्त्री 24/6
उत्तर भारत में जैनदक्षिण चक्रेश्वरी की मूर्तिगत अवधारणा -श्री मारूति नन्दन तिवारी 25/1
उत्तरभारत में जैन पद्मावती का प्रतिमा निरूपण -श्री मारुति नन्दन तिवारी 27/2
उड़ीसा में जैनधर्म एवं कला
-श्री मारुतिसन्दन तिवारी 28/1
उज्जयिनी की दो अप्रकाशित महावीर प्रतिमायें
-डा. सुरेन्द्रकुमार आर्य 29/4
उड़ीसा में प्राचीन गुफाओं में दर्शित जैनधर्म एवं
भारत -हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा 39/2
उत्थू(च्छ)णक के ऋषभ जिनालय के निर्माता
श्री भूषण साहू -कुन्दनलाल जैन 47/2
उपनिषदों में दिगम्बरत्व के उल्लेख
-डा. जयकुमार जैन 52/1

ऊ

ऊन पावगिरि के निर्माता राजा वल्लाल
-पं. नेमिचन्द्र धन्नूसा जैन 22/27
ऊर्जयन्तगिरि के प्राचीन पूज्य स्थान
-जुगलकिशोर मु. 14/219
ऊन के देवालय -श्री नरेश कुमार पाठक 46/2

ऋ

ऋषभदेव और महादेव
-हीरालाल सि. शा. 14/112
ऋषभदेव और शिवजी
-बा. कामताप्रसाद जैन 12/185
ऋषभदेव : सिन्धु सभ्यता के आराध्य
-श्री ज्ञानस्वरूप गुप्ता 33/1

ए

एक ऐतिहासिक अन्त: साम्प्रदायिक निर्णय
-लाला ज्योतिप्रसाद जैन 8/169
एक खोजपूर्ण विचारणा
-श्री अगरचन्द नाहटा 16/76
एक जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त
-पं. ईश्वर लाल जैन 4/100
एक प्रतीकांकित द्वार
-पं. गोपीलाल अमर एम.ए. 22/60

एक प्राचीन ताम्र-शासन -सम्पादक 8/285
एरिचपुर के राजा ईल और राजा अरिकेशरी
-पं. नेमचन्द्र धन्नूसा जैन 19/216
एलिचपुर के राजा श्रीपाल उर्फ ईल
-पं. नेमचन्द धन्नूसा जैन 20/352

ऐ
ऐतिहासिक अध्ययन -बा. माईदयाल जैन 2/599
ऐतिहासिक घटनाओं का एक संग्रह
-सम्पादक 8/369
ऐतिहासिक भारत की आद्य मूर्तियाँ
-श्री बालचन्द जैन एम.ए. 10/114
ऐतिहासिक सामग्री पर विशेष प्रकाश
-अगरचन्द्र नाहटा 6/65
ऐलक-पद कल्पना (11वीं प्रतिमा का इतिहास)
-श्री जुगलकिशोर मुख्तार 10/387
ऐहोल का शिलालेख
-पं. के. भुजबली शास्त्री 15/87
ऐतिहासिक जैनधर्म -डा. ज्योतिप्रसाद जैन 27/3
क
कविवर बनारसीदास की सांस्कृतिक देन
-डा. रवीन्द्रकुमार जैन 15/263
कवि लक्ष्मण रचित णेमिणाह चरिउ का गोणंद
नगर और उसमें रचित व्याकरणग्रन्थ
-डा. दशरथ शर्मा 16/228
कावड़ : एक चलता-फिरता मन्दिर
-महेन्द्र भानावत 17/7
कारी तलाई की जैन मूर्तियाँ
-पं. गोपीलाल अमर एम. ए. 20/242
कारंजा के भट्टारक लक्ष्मीसेन
-डा. विद्याधर जोहरपुरकर 18/223
कालक कुमार -श्री हरजीवनलाल सुशील 1/489
कालिकाचार्य कुमार -श्री मुनि विद्याविजय 1/510
काष्ठसंघ की माथुरान्वयी परम्परा के नये उल्लेख
-देवेन्द्र कुमार एम.ए. 16/111
काष्ठासंघ लाट माथुरसंघ -गुर्वावली
-पं. परमानन्द जैन शास्त्री 15/79
कुछ नई चीजें
-पं. परमानन्द जैन शास्त्री, 12/28
कूर्चकों का सम्प्रदाय -पं. नाथूराम प्रेमी 7/7
केशी गौतम सम्वाद
-पं. बाल चन्द्र सि.शा. 20/288
कोप्पल के शिलालेख -पं. बलभद्र जैन 14/20
कोल्हापुर के पार्श्वनाथ मन्दिर का शिलालेख
-परमानन्द जैन 13/240
कौन-सा कुण्डलगिरि सिद्ध क्षेत्र है
- न्या. पं. दरबारी लालजी 8/115, 8/168
क्षपणासार के कर्त्ता माधवचन्द
-श्री पं. मिलापचंद्र कटारिया 18/67
क्या कुन्दकुन्द ही मूलाचार के कर्ता हैं?
-परमानन्द जैन शा. 2/221
क्या कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली के शिष्य
नही हैं? -पं. हीरालाल सि.शा. 14/298
क्या ग्रंथसूचियों आदि पर से जैन साहित्य के
इतिहास निर्माण सम्भव है? -परमानन्द शास्त्री 13/287
क्या भट्टारक वर्धमान जैन धर्म के प्रवर्तक थे?
-परमानन्द शास्त्री 14/224
क्या मथुरा जंबूस्वामी का निर्वाण स्थान है?
-पं. परमानन्द शास्त्री 8/85
कुवलयमाला उल्लिखित राजा अवन्ति
-प्रो. प्रेमचन्द सुमन जैन 23/5/6
कलिंग का इतिहास और सम्राट् खारवेल
एक अध्ययन -श्री परमानन्द शास्त्री 24/2
कलचुरि कालीन एक नवीन भव्यशिला
-श्री कस्तूरचन्द्र सुमन 24/3
कलचुरि कला में शासन देवियाँ
-शिवकुमार नामदेव शोधछात्र 25/2
कालकोट के दुर्ग से प्राप्त एक जैन प्रतिमा
-श्री यशवन्त कुमार गलैया 25/2
कलचुरि काल में जैनग्रन्थ
-श्री शिवकुमार नामदेव 25/3
कुम्हारिया के सम्भवनाथ मन्दिर की जैन देवियां
-श्री मारुति नन्दन तिवारी 25/3

कौशाम्बी -पं. बलभद्र जैन 26/2
क्या चाणक्य जैन था?
-मुनि श्री महेन्द्र कुमार 26/3
कलचुरि काल में जैनधर्म की स्थिति
-श्री शिवकुमार नामदेव 26/3
कलकत्ते का कार्तिक महोत्सव
-श्री भंवरलाल नाहटा 26/4/5
कारीतलाई की अद्वितीय भगवान ऋषभनाथ की प्रतिमायें -श्री शिवकुमार नामदेव 26/4/5
कुण्डलपुर की अतिशयता: एक विश्लेषण
-श्री राजधर जैन 27/3
कर्नाटक में जैन शिल्प कला का विकास
-श्री शिवकुमार नामदेव 29/4
क्या श्रेणिक ने आत्महत्या की?
-श्री रतनलाल कटारिया 32/4
केन्द्रीय संग्रहायलय गूजरी महल की प्रतिमायें
-श्री नरेश कुमार पाठक 43/4
कर्नाटक में जैनधर्म
-श्री राजमल जैन 45/1
केरल में जैन स्थापत्य और कला
-श्री राजमल जैन 46/2
किरात जाति और उसकी ऐतिहासिकता
-डा. रमेशचन्द्र जैन 47/3
केन्द्रीय संग्रहालय-गूजरी महल ग्वालियर के संरक्षित जैन यक्ष-यक्षी प्रतिमायें
-श्री नरेश कुमार पाठक 49/1
काशी की श्रमण परम्परा और तीर्थंकर पार्श्वनाथ
-डा. सुरेश चन्द जैन 51/2.3

ख

खण्डगिरि उदयगिरि परिचय
-बाबू छोटेलाल जैन 11/81
खुजराहो का आदिनाथ जिनालय
-श्री नीरज जैन 17/375
खुजराहो का घण्टइ मन्दिर
-गोपीलाल अमर 19/229
खुजराहो का जैन संग्रहालय
-श्री नीरज जैन 18/18
खुजराहो का पार्श्वनाथ जिनालय
-नीरज जैन 16/150
खण्डार के सेन परम्परा के लेख
-राम बल्लभ सोमाजी 24/2
खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर की रक्षिकाओं मे जैन देवियां -श्री मारूति नन्दन तिवारी 24/4
खजुराहो के आदिनाथ मन्दिर के प्रवेश द्वार की मूर्तियाँ -श्री मारुति नन्दन तिवारी 24/5
खजुराहो के जैन मन्दिरों डोर लिंटल्स पर उत्कीर्ण जैन देवियां
-श्री मारुति नन्दन तिवारी 24/6
खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर का शिल्प वैभव -श्री मारुति नन्दन तिवारी 29/1

ग

गजपन्थ क्षेत्र का अति प्राचीन उल्लेख
-पं. दरबारीलाल 7/148
गजपन्थ क्षेत्र के पुराने उल्लेख
-पं. नाथूराम प्रेमी 7/64
गांधीजी का पुण्यस्तम्भ
-डा. वासुदेवशरण अग्रवाल 9/91
गिरिनगर की चंद्रगुफा
-प्रो. हीरालाल जैन 5/65
गुणचंद मुनि कौन हैं? -पं. दरबारी लाल 10/259
गुर्वावली नन्दितट गच्छ
-पं. परमानन्द जैन शास्त्री 15/235
गोपाचल दुर्ग के एक मूर्ति लेख का अध्ययन
-डा. राजाराम जैन 22/25
गोम्मट -प्रो. ए.एन.उपाध्याय 4/229, 4/293
गोम्मटेश्वर का दर्शन और श्र. के संस्मरण
-पं. सुमेरचंद दिवाकर बी.ए.एल.एल.बी. 5/241
गोम्मटसार की जी.प्र.टीका उसका कर्तृत्व और समय -प्रो ए.एन. उपाध्याय 4/113
गौतमस्वामी रचित सूत्र की प्राचीनता

-क्षुल्लक सिद्धसागर 11/184
गंज-बासौदा के जैन मूर्ति व यंत्र लेख
-कुन्दनलाल जैन एम.ए. 18/261
गंधावल और जैन मूर्तियां
-एस.पी.गुप्ता और बी.एन. शर्मा 19/129
ग्वालियर किले का इतिहास और जैन पुरातत्व
-पं. परमानन्द शास्त्री 10-101
ग्यालियर के किले की जैन मूर्तियाँ
-श्री कृष्णनन्द 4/434
ग्वालियर के कुछ काष्ठा संघी भट्टारक
-परमानन्द शास्त्री 22/64
ग्वालियर के तोमर वंश का नया उल्लेख
-प्रो. विद्यासागर जोहरापुरकर
ग्वालियर के तोमर : राजवंश के समय जैन ध
र्म -पं. परमानन्द शास्त्री 20/2
ग्वालियर के पुरातत्व संग्रहालय की जैन मूर्तियाँ
-श्री नीरज जैन 16/214
ग्वालियर में जैन शासन-प्रभुलाल प्रेमी 6/17
ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों की भूमि राजस्थान
-डा. कस्तूरचंद कासलीवाल 15/77
गोलापूर्व जाति पर विचार
-श्री यशवन्त कुमार मलैया 25/2
गुप्तकालीन ताम्र शासन -श्री परमानन्द शास्त्री 25/2
गिरनार की ऐतिहासिकता
-श्री कुन्दनलाल जैन 29/4
गुना में संरक्षित देवों की जैन प्रतिमायें
-श्री नरेश कुमार पाठक 37/1
ग्राम पगारा की जैन प्रतिमायें
-नरेश कुमार पाठक 43/2, 37/1
गजेन्द्र गौतम का 2500वां निर्वाण कार्य
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन 39/3
गिरनार की चन्द्रगुफा
-डा. लक्ष्मीचन्द्र जैन 42/1
गोल्लाराष्ट्र व गोल्लापुर के श्रावक
-श्री यशवन्त कुमार मलैया 44/1
गूजरी महल में संरक्षित शान्तिनाथ प्रतिमायें
-श्री नरेश कुमार पाठक 44/2

च

चक्रवर्ती खारवेल और हिमवन्त थेरावली
-काशीप्रसाद जायसवाल 1/352
चन्देल युग का एक नवीन प्रतिमा लेख
-ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए. 13/98
चन्द्रगुप्त मौर्य और विशाखाचार्य
-परमानन्द 13/276
चंपानगर -श्यामलकिशोर झा 9/481
चंपावती नगरी -नेमचंद धन्नूसा जैन 19/334
चाणक्य और उनका धर्म
-मुनि श्री न्यायविजय 2/105
चामुण्डराय और उनके समकालीन आचार्य
-पं. नाथूराम प्रेमी 5/262
चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ
-पं. नेमचन्द धन्नूसा जैन 21/83
चित्तौड़ का दि.जैन कीर्तिस्तम्भ
-परमानन्द शास्त्री 21/179
चित्तौड़ के जैनकीर्तिम्नम्भ का निर्माणकाल
-श्री नीरज जैन 21/179
चित्तौड़ के जैनकीर्तिस्तंभ का निर्माणकाल एवं निर्माता
-श्री अगरचन्द नाहटा 8/139
चित्रमय जैनीनीति -सम्पादक 4/2
चित्तौड़ का जैन कीर्तिस्तंभ
-श्री नेमचंद्र धन्नूसाब जैन 23/1
चंद्रावती का जैन पुरातत्त्व
-श्री मारुति नंदन तिवारी 25/4/5
चंदेरी सिरोंज (परवार)पट्ट
-पं. फूलचंद सिद्धांत शास्त्री 26/1
चंपापुरी का इतिहास और जैन पुरातत्त्व
-श्री दिगम्बर दास जैन एडवोकेट 27/3
चंद्रावती की जैन प्रतिमाएं
-श्री विनोद राय 31/3/4
चंदेल कालीन मदनसागरपुर के श्रावक

-प्रो. यशवंत कुमार मलैया 46/3
चाणक्य और जैन परंपरा
-डा. श्री गोकुलप्रसाद जैन 49/3/4
चड़ोम का ऐतिहासिक जिनालय दान-पात्र
-श्री कुंदनलाल जैन 48/2/3

ज

जगतराय की भक्ति-गंगाराम गर्ग एम.ए. 17/133
जयसेन प्रतिष्ठापाठ की प्रतिष्ठा विधि का अशुद्ध प्रचार -श्री पं. मिलापचंद कटारिया 15/34
जातिभेद पर अमितगति
-आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 1/115
जैन अनुश्रुति का ऐतिहासिक महत्व
-बा. ज्योतिप्रसाद 7/176
जैन आगमों के कुछ विचारणीय शब्द
-मुनि श्री नथमल 20/40
जैन और वैदिक अनुश्रुतियों में ऋषभ तथा भरत की भवावलि -डा. नरेन्द्र विद्यार्थी 19/309
जैनकला और उसका महत्व
-बा. जयभगवान 4/3
जैनकला के प्रतीक और प्रतीकवाद
-डा. ए.के.भट्टाचार्य, डिप्टी कीपर राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली, अनु. जयभगवान एडवोकेट 14/189
जैन कीर्तिस्तम्भ चित्तौड़ के अप्रकाशित शिलालेख
-श्री रामवल्लभ सोमानी जयपुर 22/36
जैन गुहा मन्दिर
-श्री बालचन्द्र जैन एम.ए. 10/129
जैन ग्रंथ संग्रहालयों का महत्त्व
-डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल 10/196
जैन ग्रंथों में राष्ट्रकूटों का इतिहास
-रामवल्लभ सोमाणी 21/114
जैन जातियों के प्राचीन इतिहास की समस्या
-श्री अगरचन्द्र नाहटा 5/321
जैन दृष्टि से प्राचीन सिन्ध
-मुनि श्रीविद्याविजय 2/507
जैनधर्म और जातिवाद
-श्री कमलेश सक्सेना एम.ए. मेरठ 18/93
जैनधर्म की देन -आ. क्षितिमोहन सेन 4/551
जैनधर्म में सम्प्रदायों का आविर्भाव
-पं. कैलाशचन्द शास्त्री 1/329
जैनधर्म में मूर्ति पूजा
-डा. विद्याधर जोहरापुरकर 17/155
जैन धातु मूर्तियों की प्राचीनता
-श्री अगरचन्द नाहटा 10/271
जैन परम्परा का आदिकाल
-डा. इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम.ए. 14/196
जैन परिवारों के वैष्णव बनने संबंधी वृत्तान्त
-श्री अगरचंद नाहटा 15/252
जैन पुरातत्व में गंगा-यमुना
-श्री नीरज जैन 16-40
जैन पुरातन अवशेष (विहंगावलोकन)
-मुनि कांतिसागर 9/225, 9/261
जैनप्रतिमा लक्षण-बालचन्द्र जैन एम.ए. 19/204
जैनमूर्तिकला का प्रारम्भिक स्वरूप
-रमेश शर्मा 19/142
जैन सरस्वती -बा. ज्योतिप्रसाद जैन 8/61
जैसलमेर के भण्डार की छानबीन
-सम्पादक 10/425
जैन साधुओं की प्रतिमाएँ
-श्री बालचन्द जैन एम.ए. 16/236
जैन साहित्य में मथुरा -डा. ज्योतिप्रसाद जैन 15/65 जैन संस्कृति के प्राण जैनपर्व
-पं. बलभद्र जैन 7/15
जैन स्थापत्य की कुछ अद्वितीय विशेषताएँ
-बा. ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए. 8/343
जैनादर्श (जैन गुण दर्पण संस्कृत-'युगवीर' 8/354
जैनियों की दृष्टि में विहार
-पं. के भुजबली शा. 3/521
जैनियों पर घोर अत्याचार
-प्रो. हेमुल्ट ग्लाजेनव 880

जोधपुर के इतिहास का एक आवरित पृष्ठ
-अगरचन्द नाहटा 11/248
जौनपुर में लिखित भगवतीसूत्र प्रशस्ति
-श्री अगरचन्द भंवरलाल नाहटा 18/238
ज्ञातवंश -श्री पं. बेचरदास जी दोशी 15/286
ज्ञातवंश का रूपांतर जाटवंश
-मुनि कवीन्द्रसागर 3/267
जैन कीर्तिस्तंभ का निर्माता शाह जीजा
-श्री रामबल्लभ सोमाणी 23/4
जयपुर के प्रमुख दि.जैन मंदिर
-डा. कस्तूरचंद कासलीवाल 23/4
जैन शिल्प में बाहुबली
-श्री मारुति नंदन तिवारी 24/1
जैन शिल्प में सरस्वती की मूर्तियां
-श्री मारूतिनंदन तिवारी 24/3
जैन यक्ष-यक्षणियां और उनके लक्षण
-श्री गोपीलाल अमर 24/4
जैन कला में प्रतीक तथा प्रतीकवाद
-श्री ए.के.भट्टाचार्य 24/5
जैन दृष्टि में अचलपुर
-श्री चंद्रशेखर गुप्त 25/3
जैन संस्कृति प्रतीक मौर्यकालीन अभिलेख
-डा. पुठपमिज 25/4/5, 28/1
जैन तीर्थ श्रावस्ती -पं. बलभद्र जैन 26/3
जैन संस्कृति -श्री प्रेमचंद जैन 27/1
जैन मत में मूर्ति पूजा की प्राचीनता एवं विकास
-श्री शिवकुमार नामदेव 27/1
जैन कला एवं कलचुरि नरेश
-श्री शिवकुमार नामदेव 27/2
जैन संस्कृति की समृद्ध परंपरा 29/1
जैन साहित्य और शिल्प में वाग्देवी सरस्वती
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन 29/4
जैन ध्वज: स्वरूप एवं परम्परा
-श्री पद्मचंद्र शास्त्री 30/3/4
जैन देवकुल में यक्षी चक्रेश्वरी
-डा. मारुति नंदन तिवारी 31/3/4
जैनधर्म -उदभव एवं विकास
-डा. रवीन्द्र जैन 32/1/2
जैन संस्कृति में 10वीं-12वीं सदी की नारी
-डा. श्रीमती रमा जैन 34/1
जैनधर्म का प्राचीनतम
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन 36/1
जैन न्याय के सर्वोपरि प्रस्तोता श्री भट्टाकलंक देव -डा. ज्योतिप्रसाद जैन 36/2
जैनधर्म की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता
-डा. देवेन्द्रकुमार शास्त्री 36/4
जैन कला और स्थापत्य में भगवान पार्श्वनाथ
-श्री नरेन्द्र कुमार सोंरया 37/3
जैन परंपरा में राम एवं रामकथा का महत्त्व
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन 40/1
जैन यक्ष-यक्षी प्रतिमाएँ
-श्री रमेश कुमार पाठक 44/4
जैन धर्म एवं संस्कृति के संरक्षण तथा विकास में तत्कालीन राजघरानों का योगदान
-डा. कमलेश कुमार जैन 45/1
जैन एवं बौद्ध साहित्य में श्रमण परंपरा
-डा. रमेशचंद्र जैन 45/4
जोगीमारा के भित्ति चिउ
-डा. अभयप्रकाश जैन 50/2
जैन और बोत्रद्ध मूर्तियां -श्री राजमल 47/3
जैन शौरसेनी किं वा शौरसेनी
-जस्टिस एम.एल. जैन 48/2/3
जैन परंपरा में परशुराम
-श्री राजमल जैन 48/4
जैनो के सैद्धांत्तिक अवधारणाओं में क्रम परिवर्तन-2
-श्री नंदलाल जैन 53/1
जैनधर्म की प्राचीनता -डा. जयकुमार जैन 54/2
जैन संस्कृति संपन्न भव्य प्राचीन केन्द्र फतेहपुर सीकरी -श्री सुरेशचंद बारोलिया 54/3/4

झ

झालरापाटान का एक प्राचीन वैभव
-डा. कैलाशचंद जैन एम.ए. पी.एच.डी. 15/279
झारड़ा की अप्रकाशित जैन प्रतिमायें 31/1

ट

टूड़े ग्राम का अज्ञात जैन पुरातत्व
-प्रो. भागचन्द 'भागेन्दु' 21/69

त

तलघर में प्राप्त 160 प्रतिमाएँ
-श्री अगरचन्द नाहटा 1981
तिरूपट्टि कुनरम् (जिनकाञ्ची)
-श्री टी.एन. रामचन्द्रन 15/101
तीन विलक्षण जिनबिम्ब
-श्री नीरज जैन 15-121
तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की प्रस्तर प्रतिमा
-व्रजेन्द्रनाथ शर्मा एम.ए. 18/157
तौलबदेशीय प्राचीन जैन मन्दिर
-पं. लोकनाथ शास्त्री 1/104, 122
तिजारा का ऐतिहासिक परिचय
-श्री परमानन्द शास्त्री 23/2
तीर्थंकरों के शासनदेव और देवियां
-पं. बलभद्र शास्त्री 28/1
तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं
-श्री नरेश कुमार पाठक 38/1
तीर्थंकर पार्श्वनाथ की केवल भूमि अहिच्छत्रा
-डा. ज्योतिपसाद जैन 39/4
तीर्थंकर शीतलनाथ -श्री गुलाबचंद्र जैन 46/3

द

दक्षिण के तीर्थस्थान
-प. नाथूराम प्रेमी 2/341, 2/381
दक्षिण भारत के राजवंशों में जैनधर्म का प्रभाव
-बा. ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए. 8/356
दक्षिण भारत में राज्याश्रय और उसका अभ्युदय
-डा.टी.एन. रामचन्दन एम.ए. 11/378
दण्डनायक गंगराज
-श्री पं. के. भुजबली शास्त्री 15/225
दस्सा बीसा भेद का प्राचीनत्व
-अगरचंद नाहटा 4/336
दिल्ली और उसके पांच नाम
-पं. परमानन्द शास्त्री 13/19
दिल्ली और दिल्ली की राजावली
-पं. परमानन्द शास्त्री 8/71
दिल्ली और योगिनीपुर नामों की प्राचीनता
-अगरचंद नाहटा 13/72
दिल्ली पट्ट के मूलसंघी भट्टारकों का प्रभाव
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन 17/54, 17/159
दिल्ली शासकों के समय का नया प्रकाश
-हीरालाल सि.शा. 19/256
दीवान अमरचन्द -परमानन्द जैन 13/198
दीवान रामचन्द छावड़ा
-परमानन्द शास्त्री 13/256
देवगढ़ -श्री नाथूराम सिंघई 1/98
देवगढ़ का ऐतिहासिक अनुशासन
-प्रो. भागचन्द जैन एम.ए. 20/62
देवगढ़ की जैन प्रतिमाएँ -प्रो.कृष्णदत्त बाजपेयी,सागर वि.विद्यालय 15/27
देवताओं का गढ़, देवगढ़
-श्री नीरज जी सतना 17/167
देहली के जैन मन्दिर और जैन संस्थाएं
-बा. पन्नालाल जैन अग्रवाल 8/217
देहली धर्मपुरे का दि. जैन मन्दिर
-बा. पन्नालाल जैन अग्रवाल 8/132
दो ताडपत्रीय प्रतियों की ऐतिहासिक प्रशस्तिया
-श्री भंवरलाल नाहटा 18/85
द्रोणगिरि -डा. विद्याधर जोहरापुर 17/123
देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन
-श्री गोपीलाल अमर 23/2
दिल्ली पट्ट के मूल संघीय भट्टारक प्रभाचंद्र
-श्री परमानंद शास्त्री 23/3

दक्षिण भारत से प्राप्त महावीर प्रतिमाएं
-श्री मारुति नंदन तिवारी 23/5/6
द्रोणागिरि सिद्धक्षेत्र
-पं. बलभद्र न्यायतीर्थ 26/1
दक्षिण की जैन परम्परा 34/1
दिगम्बर जैन ग्रंथ प्रशस्तियों का महाखान भोजखान -श्री अख्तर हुसैन निजामी 31/1
देवानाम प्रिय प्रियदर्शी अशोकराज कौन था?
-डा. सत्यपाल गुप्त 29/1
देवगढ़ पुरातत्त्व की संभाल में औचित्य
-श्री कुदनलाल जैन 44/3
दिगम्बर आगमतुल्य ग्रंथों की भाव
-डा. नंदलाल जैन 49/1
दिगम्बरत्व के विषय में नाथूराम प्रेमी का लेख
-डा. रमेशचंद्र जैन 52/4
दिगम्बर जैन आर्ष परंपरा
-डा. रमेशचंद जैन 53/4

ध

धवला प्रशस्ति के राष्ट्रकूट नरेश
-बा. ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए. 8/97
धर्कट वंश -अगरचन्द नाहटा 4/610
धर्मचक्र सम्बन्धी जैन परम्परा
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन 19/139
धारा और धारा के जैन विद्वान्
-परमानन्द शास्त्री 13/281
धारा और धारा के जैन विद्वान्
-परमानन्द शास्त्री 14/98
धुवेला संग्रहालय के जैन मूर्तिलेख
-बालचन्द जैन एम.ए. 19/244
धर्मचक्र -श्री गोपीलाल अमर 30/3/4

न

नगर खेट-मटम्ब और पत्तन आदि की परिभाषा
-डा. दशरथ शर्मा 15/119
नंदि संघ बलात्कारगण पट्टवली
-परमानन्द जैन शास्त्री 17/35
नंदिसंघ बलात्कारगण की शाखा-प्रशाखाएँ
-पं. पन्नालाल सोनी 14/343
नया मन्दिर धर्मपुरा के जैन मूर्तिलेख
-संक. परमानन्द शास्त्री 15/100, 15/237
नया मन्दिर के जैन मूर्तिलेख -परमानन्द शास्त्री 16/50,16/98,16/194,16/242
नया मन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के जैन मूर्ति लेख
-परमानन्द जैन शास्त्री 17/2
नवागढ़ (एक महत्त्वपूर्ण मध्यकालीन जैनतीर्थ)
-श्री नीरज जैन 15/337
नाग सभ्यता की भारत को देन
-बा. ज्योतिप्रसाद जैन 6/246, 6/298
निर्वाणकाण्ड के पूर्वाधार तथा उसके रूपान्तर
-डा विद्याधर जोहरापुरकर 22/7
निसीहिया नसियाँ -हीरालाल सि.शा. 13/43
नृपतुंग का मत विचार
-एम.गोविंद पै 3/578, 3/645
नलपुर का जैन शिलालेख
-प. रतनलाल कटारिया 23/3, 23/4
नरेणा का इतिहास -डा कैलाशचंद्र जैन 24/5
नरवर की श्रेष्ठ कलाकृति सहस्त्रकूट जिनबिम्ब'
-श्री प्रिसिंपल कुन्दनलाल जैन 27/3
नागौर तथा उसमें स्थित भट्टारकीय दिगम्बर जैन ग्रन्थ भण्डार की स्थापना एवं विकास का संक्षिप्त इतिहास 36/2
नागदेव जैन मन्दिर नलपुरा
-डा. नरेश कुमार पाठक 4523

प

पतियानदाई: एक गुप्तकालीन जैन मंदिर
-गोपीलाल अमर 19/340
पतियामदाई (एक भूला-विसरा जैन मन्दिर)
-श्री नीरज जैन 15/177
पतियानदाई मन्दिर की मूर्तियां और चौबीस जिन शासन मूर्तियां -श्री नीरज जैन 16/100
परवार जाति के इतिहास पर कुछ प्रकाश

-पं. नाथूराम प्रेमी 3/441
पराक्रमी जैन -गोयलीय 9/145
परिग्रह-परिमाण-व्रत के दासीदास गुलाम थे
-पं. नाथूराम प्रेमी 3/529
पल्लूग्राम की प्रतिमा व अन्य जैन सरस्वती प्रतिमाएँ -श्री धीरेन्द्र जैन 17/57
पुरातन जैन शिल्पकला का संक्षिप्त परिचय
-श्री बालचन्द्र जैन एम.ए. 10/319
पुरानी बातों की खोज
-पं. जुगलकिशोर 1/130,1/195,1/269,1/324
पोसहरास और भट्टारक ज्ञानभूषण
-परमानन्द जैन 13/119
पंजाब में उपलब्ध कुछ जैन लेख
-डा. बनारसीदास 5/71
प्रतिमालेख संग्रह और उसका महत्त्व
-मुनि कांतिसागर 4/427,4/501
प्रतिहार साम्राज्य में जैनधर्म
-डा. दशरथ शर्मा एम.ए.डी.लिट् 18/17
प्रभाचन्द्र का समय
-पं. महेन्द्रकुमार न्या. 4/124
प्रभाचन्द्र के समय की सामग्री
-महेन्द्रकुमार जैन एम.ए. 2/61, 2/215
प्राकृत वैयाकरणों की पाश्चात्य शाखा का सिंहावलोकन -डा. सत्यरंजन बनर्जी 19/175
प्राग्वाट जाति का निकास
-अगरचन्द नाहटा 4/389
प्राचीन जैन मन्दिरों के ध्वंस से निर्मित मस्जिदे
-बा. ज्योतिप्रसाद जैन 8/279
प्राचीन जैन साहित्य और कला का प्राथमिक परिचय -एन.सी. बाकलीवाल 12/85
प्राचीन पट अभिलेख
-श्री गोपीलाल अमर एम.ए. 15/231
प्राचीन मथुरा के जैनों की संघ व्यवस्था
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन 17/217
पावा कहां गंगा के दक्षिण में या उत्तर में
-मुनि महेन्द्र कुमार जी 'प्रथम' 23/3
प्रयाग -श्री पं. बलभद्र जी जैन 24/2
पावापुर -श्री पं. बलभद्र जी जैन 24/4
पारसनाथ किला के जैन अवशेष
-श्री कृष्णदत्त वाजपेयी 24/5
पोदनपुर -पं. बलभद्र शास्त्री 25/2
पनागर के भग्नावशेष -श्रीकस्तूरचन्द्र जैन 25/3
प्राचीन ऐतिहासिक नगरी जूना (बाहड़मेर)
-श्री भूरचन्द जैन 27/3
पूर्व मध्यकालीन भारत में धर्म का पतन
-प्रदीप श्रीवास्तव 38/2
पुरातत्त्वीय स्रोत तथा भगवान् महावीर
-प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी 30/1
पचराई और गूडर के महत्त्वपूर्ण काल
-कु. उषा जैन 33/2
पारण के श्वेताम्बर ज्ञान भण्डारों में दिगम्बर ग्रन्थों की प्राचीनत ताड़पत्रीय प्रतियां
-श्री अगरचन्द्र नाहटा 34/1
पन्ना में संरक्षित जैन प्रतिमायें 40/4
-पं. नाथूराम प्रेमी का साहित्यिक अवदान
श्री मुन्नालाल जैन 43/1
प्राचीन भारत की प्रसिद्ध नगरी अहिच्छत्र
-डा. रमेशचन्द्र जैन 46/1/2
परम्परित मूल आगम रक्षा विशेषांक 46/4
पालघाट जिले में जैनधर्म
-श्री राजमल जैन 49/2
प्राकृत भाषा -पं. पद्मचंद शास्त्री 50/2
पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बन्धित कतिपय तथ्य और सम्प्रदाय भेद डॉ. जयकुमार जैन50/1
प्राचीन जैन श्रावक -डा. झिनकू यादव 26/3

फ

फतेहपुर (शेखावटी) के जैन मूर्तिलेख
-परमानन्द जैन शास्त्री 11/403

ब

बजरंगगढ़ का विशद जिनालय
-श्री नीरज जैन 18/65

बानपुर का चतुर्मुख सहस्रकूट जिनालय
-श्री नीरज जैन 16/51
बंकापुर -पं. के दो दिगम्बर जैन मन्दिर
परमानन्द 13/112
बंकापुर -पं. के भुजबली शास्त्री 13/343
बादामी चालुक्य नरेश और जैनधर्म
-दुर्गाप्रसाद दीक्षित एम.ए. 20/126
बादामी चालुक्य अभिलेखों में वर्णित जैन सम्प्रदाय तथा आचार्य
-प्रो. दुर्गाप्रसाद एम.ए. 20/247
बुन्देलखंड का प्राचीन वैभव, देवगढ़
-श्री कृष्णानन्द गुप्त 4/514
बूढ़ी चन्देरी और हमारा कर्त्तव्य
-दीपचन्द्र वर्णी 1/318
बोध प्राभृत के सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द
-साध्वी श्री मंजुला 18/128
बौद्ध साहित्य में जैनधर्म -प्रो. डॉ. भागचन्द जैन एम.ए. पी.एच.डी. 19/292
बौद्धाचार्य बुद्धघोष और महावीर कालीन जैन
-बा. ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए. 8/106
बंगाल के कुछ प्राचीन जैन स्थल
-बा. ज्योतिप्रसाद एम.ए. 8/261
ब्रह्म जिनदास: एक अध्ययन
-श्री परमानन्द शास्त्री 24/5
बड़ा मन्दिर पनागर की प्राचीन जैन शिल्पकला
-श्री कस्तूर चंद सुमन 25/1
बहोरीबंद प्रतिमा लेख
-डा. कस्तूरचंद सुमन 26/1
बंगाल के जैन पुरातत्त्व की शोध में पांच दिन
-श्री भंवरलाल नाहटा 26/3
बिहार में जैन धर्म : अतीत एवं वर्तमान
-प्रो. राजाराम जैन 36/3

भ

भगवान ऋषभदेव -परमानन्द शास्त्री 22/78
भगवान ऋषभदेव के अमर स्मारक
-पं. हीरालाल सि.शा. 13/67
भगवान कश्यप : ऋषभदेव
-श्री बाबू जयभगवान एडवोकेट पानीपत 15/176
भगवान पार्श्वनाथ का किला
-पं. कैलाशचन्द शास्त्री 11/276
भगवान् महावीर
-पं. परमानन्द जैन शास्त्री 8/117
भगवान् महावीर -परमानन्द शास्त्री 13/231
भगवान् महावीर -श्री विजयपाल जैन 5/343
भगवान् महावीर -सुमेरचन्द दिवाकर 7/190
भगवान् महावीर और उनका जीवन दर्शन
-डा.ए.एन. उपाध्ये, अनु. कुन्दनलाल एम.ए. 15/104
भगवान् महावीर और उनका मिशन
-वाड़ीलाल मोतीलाल शाह 2/123
भगवान् महावीर और उनका लोक कल्याणकारी संदेश -डा. हीरालाल एम.ए. 13/259
भगवान् महावीर और उनका समय 1/2
भगवान् महावीर और उनका सन्देश
-श्री कस्तूर साब जी जैन बी.ए.बी.टी. 8/17,8/237
भगवान् महावीर और नागवंश
-मुनि श्री नथमल जी 16/161
भगवान् महावीर और बुद्ध समसामयिकता
-मुनि श्री नगराज 16/11,16/54,16/113,16/195
भगवान् महावीर का जीवन चरित्र
-ज्योतिप्रसाद जैन 2/647
भगवान् महावीर का जीवन चरित्र
(महत्त्वपूर्ण पत्र) -पं. बनारसीदास चतुर्वेदी 15/28
भगवान् महावीर के जीवन प्रंसग
-मुनि श्री महेन्द्रकुमार प्रथम 17/17
भगवान् महावीर के विषय में बौद्ध मनोवृत्ति
-पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री 6/284
भगवान् बुद्ध और मांसाहार
-हीरालाल सि.शा. 14/238
भट्टारकीय मनोवृत्ति का एक नमूना
-सम्पादक 8/287

भट्टारक विजयकीर्ति
-डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल 17/30
भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध
-फतेहचन्द वेलानी 7/193
भगवान् महावीर के निर्वाण सम्वत् की समालोचना -पं. ए. शांतिराज शास्त्री 4/559
विजयचन्द्र के समय पर विचार
-परमानन्द शास्त्री 20/30
भारत के अजायाबघरों और कला भवनों की सूची -बा. पन्नालाल अग्रवाल 12/98
भारत के अहिंसक महात्मा सन्त श्री पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी की वर्ष गांठ
-परमानन्द जैन 11/234
भारत की अहिंसा संस्कृति
-बा. जयभगवान एडवोकेट 11/185
भारतीय इतिहास का जैन युग -7/77,7/121
भारतीय इतिहास में अहिंसा
-देवेन्द्रकुमार 9/375
भारतीय इतिहास में महावीर का स्थान
-बा. जयभगवान 7/267
भारतीय वास्तु शास्त्र में जैन प्रतिमा सम्बन्धी ज्ञातव्य -अगरचन्द नाहटा 20/207
भारतीय संस्कृति में जैन संस्कृति का स्थान
-बा. जय भगवान वकील 4/575
भारतीय संस्कृति में बुद्ध और महावीर
-मुनि श्री नथमल 17/195
भेलसा का प्राचीन इतिहास
-राजमल मडवैया 12/277
भारत कला भवन का जैन पुरातत्त्व
-श्री मारूति नंदन तिवारी 24/1
भद्रबाहु श्रुत केवली
-श्री परमानंद शास्त्री 24/5
भारतीय परंपरा में अरिहंत की प्राचीनता
-मुनि जी विद्यानंद 26/2
भारतीय पुरातत्त्व तथा कला में भगवान् महावीर
-श्री शिवकुमार नामदेव 27/3
भारतीय संस्कृति में अरिहंत की प्रतिष्ठा
-डा. हरीन्द्रभूषण जैन 28/1
भारतीय संस्कृति को जैन कला का योगदान 28/1
भागवत् में भगवान ऋषभदेव 33/1
भागलपुर की प्राचीन जैन प्रतिमाएँ
-डा. अजयकुमार सिन्हा 36/2
भट्टारक पट्टावली -डा. पी.सी.जैन 36/3
भगवान् महावीर जन्म स्थान विषयक विवाद
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन 38/2

म

मथुरा के सेठ लक्ष्मी चन्द सम्बन्धी विशेष जानकारी -अगरचन्द नाहटा 21/210
मद्रास और मलियापुर का जैन पुरातत्त्व
-छोटेलाल जैन 3/35
मगध और जैन संस्कृति
-डा. गुलाबचन्द एम.ए. 17/212
मथुरा संग्रहालय की तीर्थकर मूर्ति
-प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी 10/261
मगध सम्राट् राजा विम्बसार का जैनधर्म परिग्रहण
-परमानन्द शास्त्री 22/81
मथुरा के जैन स्तूपादि यात्रा के महत्वपूर्ण उल्लेख -अगरचन्द नाहटा 12/288
मथुरा संग्रहालय की महत्वपूर्ण जैन पुरातत्त्व सामग्री -बालचन्द एम.ए. 9/345
मध्यप्रदेश और बरार का जैन पुरातत्त्व
-कांतिसागर 5/160
मध्यप्रदेश का जैन पुरातत्त्व
-परमानन्द शास्त्री 19/54
मनुष्य जाति के महान उद्धारक
-बी. एल. सर्राफ 3/325
मन्दसोर में जैनधर्म
-गोपीलाल अमर एम.ए. 20/46
मन्दिरों का नगर मढ़ई
-श्री नीरज जैन सतना 17/117
महर्षि बाल्मीकि और श्रमणसंस्कृति

-मुनि विद्यानन्द 17/43
महत्त्वपूर्ण दो लेख
-नेमचन्द धन्नूसा जैन 18/144
महाकोशल का जैन पुरातत्त्व
-बालचन्द जैन एम.ए. 17/31
महामुनि सुकमाल -ला. जिनेश्वरदास 9/158
महावीर उपदेशावतार
-पं. अजितकुमार शास्त्री 8/41
महावीर और बुद्ध के पारिपार्श्विक
भिक्षु-भिक्षुणियाँ -मुनि श्री नगराज 20/75
महावीर और बुद्ध की समसामयिकता विषयक
कुछ युक्तियों पर विचार
-डा. दशरथ शर्मा 16/252
महावीर के विवाह के सम्बन्ध में श्वे. की दो
मान्यताएँ -परमानन्द शास्त्री 14/109
महाराज खारवेल
-बाबू छोटेलाल कलकत्ता 1/264
महाराज खारवेल एक महान निर्माता
-बा. छोटेलाल जैन 11/157
महाराजा खारवेल सिरि के शिलालेख की 14वी
पंक्ति -मुनि श्री पुण्यविजय 1/142
महारानी शान्ता -पं. के भुजबली शास्त्री 2/569
मानव जातियों का दैवीकरण
-साध्वी संघ मित्रा 21/14
मानव संहिता के इतिहास में महावीर की देन
-पं. रतनलाल 10/25
मारोठ का इतिहास और जकड़ी
-परमानन्द शास्त्री 16/89
मुस्लिम युगीन मालवा का जैन पुरातत्त्व
-तेजसिंह गौड़ एम.ए. रिसर्च स्कालर 22/14
मूर्ति कला -श्री लोकपाल 9/333
मूलाचार के कर्ता -क्षु. सिद्धिसागर 11/372
मेवाड़ोद्धारक भामाशाह
-अयोध्या प्रसाद गोयलीय 1/247
मेरी रणथंभोर यात्रा
-श्री भंवरलाल नाहटा 8/444
मोहन जोदड़ो की कला और जैन संस्कृति
-श्री बा. जयभगवान एडवोकेट 10/433
मोहन जोदड़ो कालीन और आधुनिक जैन संस्कृति
-बा. जयभगवान एडवोकेट 11/47, 113
मौर्य साम्राज्य का संक्षिप्त इतिहास
-श्री बालचन्द जैन एम.ए. 10/361
मंगलमय महावीर
-श्री साधु टी. एल. वास्वानी 1/337
मंगलमय महावीर
-श्री साधु टी.एल.वास्वानी 1/337
मेवाड़ के पुरग्रामकी एक प्रशस्ति
-रामवल्लभ सोमानी 10/303
मध्यप्रदेश का जैन पुरातत्त्व
-श्री अगरचन्द्र नाहटा 23/2
मध्यप्रदेश में काकागंज का जैन पुरातत्त्व 24/2
महामात्य कुशराज -श्री परमानन्द शास्त्री 24/4
मालवभूमि के प्राचीन स्थल व तीर्थं
-श्री सत्यधरकुमार सेठी 25/4/5
महाराजाधिराज श्री रामगुदा
-श्रीमनोहर लाल दलाल 26/1
महान मौर्यवंशी नेरश: सम्प्रति
-श्री शिवकुमार नामदेव 27/3
मध्यप्रदेष्ठा के जैन पुरातत्त्व का संरक्षण
-श्री अगरचन्द्र नाहटा
मध्यप्रदेश अशोक और जैनधर्म
-श्री दिगम्बरदास जैन 28/1
मगध और जैन संस्कृति
-डा. ज्योति प्रसाद जैन कला
मध्यप्रदेष्ठा की प्राचीन जैन कला
-प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी 28/1
मालवा के थाजापुर जिले की अप्रकाशित जैन
प्रतिमायें -डा. सुरेन्द्र कुमार आर्य 29/1
मालवा की नवीन अप्रकाशित जैन प्रतिमाओं
के अभिलेख -डा. सुरेन्द्र कुमार आर्य 29/1
मध्ययुग मे जैनधर्म और संस्कृति
-कु. रश्मिबाला जैन 29/3

मध्यप्रदेश में मध्ययुगीन जैन शिल्पकला
-डा. शिवकुमार नामदेव 30/1
मध्यप्रदेश की जैन तीर्थस्थली: मकसी पार्श्वनाथ
-डा. सुरेन्द्रकुमार आर्य 31/1
मथुरा की जैनकला
-डा. रमेश चन्द्र जैन 32/1/2
महान जैन शासन प्रभावक श्री जिनप्रभसूरी
-श्री अगरचन्द्र नाहटा 33/1
महाराष्ट्र में जैनधर्म
-डा. भागचन्द्र भास्कर 42/1
महोबा के जैन मन्दिर
-श्री नरेश कुमार पाठक 43/4
मानपुरा संग्रहालय की जैन यक्ष-यक्षणि की
प्रतिमाएं -श्री रवीन्द्र भारद्वाज 31/3/4
य
यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन
-डा. गोकुलचन्द एम.ए. 21/2
यज्ञ और अहिंसक परम्परायें
-आचार्य श्री तुलसी 17/269
यति समाज -अगरचन्द नाहटा 3/498
यशस्तिलक कालीन आर्थिक जीवन
-डा. गोकुलचन्द जैन 18/50
यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन
-डा. गोकुलचन्द जैन आचार्य एम.ए.पी.एच.डी.
20/276
यशस्तिलक में चर्चित-आश्रम व्यवस्था सन्यस्त
व्यक्ति -डा. गोकुलचन्द जैन 18/149
यशस्तिलक में वर्णित वर्ण व्यवस्था और समाज
गठन -डा. गोकुलचन्द जैन 18/213
यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश
-डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये 28:1
र
रक्षाबन्धन का प्रारम्भ
-पं. बालचन्द बी.ए. 8/405
रसिक अनन्यमाल में एक सरावगी जैनी का
विवरण -श्री अगरचन्द नाहटा 15/229
राजगृह की यात्रा
-न्या. पं. दरबारीलाल जैन 8/175
राजघाट की जैन प्रतिमायें -नीरज जैन 19/49
राजनापुर खिनखिनी की धातु प्रतिमायें
-श्री बालचन्द जैन एम.ए. 15/85
राजपूत कालिक मालवा का जैन पुरातत्त्व
-तेजसिंह गौड़ एम.ए.बी.एड. 21/35
राजस्थान का जैन पुरातत्त्व
-डा. कैलाशचन्द जैन 19/315
राजस्थान में दासी प्रथा -परमानन्द जैन 13/96
राजा खारवेल और हिमवन्त थेरावली
-कामता प्रसाद 5/621
राजा एल
-डा. विद्याधर जोहरपुरकर एम.ए. 16/229
राजा खारवेल और और उनका वंश
-कामता प्रसाद 1/297
राजा खारवेल और उनका वंश
-मुनि कल्याण विजय 1/226
राजा खारवेल और हिमवन्त थेरावली
-मुनि कल्याण विजय 1/342
राजा श्रीपाल उर्फ ईल
-पं. नेमिचंद्र धन्नूसा जैन 17/120
राजा श्रेणिक या विम्बसार का आयुष्यकाल
-पं. मिलापचंद्र कटारिया 20/84
राजा हरसुखराय-अयोध्याप्रसाद गोयलीय 2/332
राष्ट्रकूट काल में जैनधर्म
-डा. अ.स.अल्तेकर 12/283
राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय का शासनकाल
-श्री एम. गोविन्द पै. 10/222
रावण पार्श्वनाथ की अवस्थिति
-अगरचंद नाहटा 9/222
राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष की जैन दीक्षा
-प्रो. हीरालाल एम.ए. 5/123
रोपड़ की खुदाई में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक
वस्तुओं की उपलब्धि 13/159

राजगिरि या राजग्रह
-श्री परमानंद शास्त्री -24:2
राजस्थान में जैन धर्म एवं साहित्य - 24:6
राजस्थान में मध्ययुगीन जैन प्रतिमाएं
-डॉ. शिवकुमार नामदेव - 30:3, 4
राज्य संग्रहालय धुबेला की सर्वतोभद्र मूर्तियां
-श्री नरेश कुमार पाठक - 43:3
रानी रूपमती पुरातत्व संग्रहालय सारंगपुर की जैन प्रतिमाएं -श्री नरेशकुमार पाठक - 48:1
रामगुप्त के अभिलेख
-श्री परमानन्द शास्त्री 25:4, 5

ल

लंका में जैनधर्म
-श्री महेन्द्र कुमार दिल्ली - 26:2
लाडनूं की एक महत्त्वपूर्ण जिन प्रतिमा
-देवेन्द्र हाण्डा - 25:6

व

वघेरवाल जाति -डा. विद्याधर जोहरापुर 17/63
बडली स्तंभ खण्ड लेख
-श्री बालचन्द्र जैन एम.ए. 10/150
वाचक वंश -मुनि दर्शन विजय 1/476
वानर महाद्वीप (संपादकीय नोट सहित)
-प्रो. ज्वालाप्रसाद सिंहल 8/54
वामनावतार और जैन मुनि विष्णुकुमार
-श्री अगरचन्द नाहटा 12/247
विक्रमी संवत की समस्या
-प्रो. पुष्पमित्र जैन 14/287
विजोलिया के शिलालेख
-परमानन्द शा. 11/358
विदर्भ में जैनधर्म की परम्परा
-डा. विद्याधर जोहरापुरकर 18/146
वीरशासन और उसका महत्त्व
-न्या. पं. दरबारीलाल कोठिया 5/188
वीरशसनकी उत्पति का समय और स्थान
-सम्पादक 6/76
वीरशासन जयंती का इतिहास
-जुगलकिशोर मुख्तार 14/338
वीरसेन स्वामी के स्वर्गारोहण समय पर एक दृष्टि -पं. दरबारीलाल जैन कोठिया 8/144
वीर निर्माण संवत् की समालोचना पर विचार
-संपादक 4/429
वृषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राचीन मान्यतायें
-डा. राजकुमार जैन 19/94
वैदिक व्रात्य और महावीर -कर्मानन्द 6/235
वैशाली (एक समस्या)
-मुनि कान्तिसागर 9/267
वैशाली की महत्ता -श्री आर.आर. दिवाकर राज्यपाल विहार 11/416
वैशाली गणतंत्र का अध्यक्ष राजा चेटक
-परमानंद शास्त्री - 25:1
विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के पुरातत्व संग्राहालय की अप्रकाशित जैन प्रतिमाएं
-डॉ. सुरेन्द्रकुमार आर्य - 25:3
वर्धमानपुर एक समस्या
-मनोहर लाल दलाल 26:1
विदिशा से प्राप्त जैन प्रतिमाएं एवं गुप्त नरेश रामगुप्त -शिवकुमार नामदेव 27:1
व्रात्य -जैन संस्कृति का पूर्व पुरूष
-डॉ. हरिन्द्रभूषण जैन - 30:2
विदेशों में जैन धर्म
-डॉ. गोकुल प्रसाद जैन 50:2
वैशाली गणतंत्र -श्रीराजमल जैन - 54:3,4

श

शडोल जिले में जैन संस्कृति का एक अज्ञात केन्द्र -प्रो. भागचंद्र जैन भागेन्दु 22/71
शांति ओर सौम्यता का तीर्थ कुण्डलपुर
-श्री नीरज जेन 17/73
शिलालेखों में जैनधर्म की उदारता
-बा. कामताप्रसाद 2/83
शोधकण(1तीन विलक्षण जिन बिम्ब, 2पतियान

दाई, 3भगवान् महावीर ज्ञातपुत्र थे या नागपुत्र?)
-श्री बाबू छोटेलाल जैन 15/224
शोधकण -बाबू छोटेलाल जैन 16/43
शोधकण -परमानन्द शास्त्री 18/90
शोध टिप्पण -नेमचंद धन्नूसा जैन 17/120
शोध टिप्पण -मुनि श्री नथमल 17/118,17122
शोध टिप्पण -प्रो. डा. विद्याधर जोहरापुरकर 16/175, 16/249
शोध टिप्पण - परमानन्द शास्त्री 16/138
शिल्पकला एवं प्रकृति वैभव का प्रतीक:अमर सागर -श्रीबूरचन्दचन्द जैन 28:1
श्वेताम्बर जैन पंडित परम्परा
-श्री अगरचन्द्र नाहटा - 34:1
शिलालेखों में गोलापूर्वान्वय
-श्री परमानन्द शास्त्री - 24:3
शुंग कुषाणकालीन जैन शिल्प कला
-श्री शिवकुमार नामदेव - 29:3
शिखर जी के प्रति हमारे पूर्वजों का योगदान और हमारा कर्त्तव्य -श्री सुभाष जैन - 52:3
शहनामा-ए-हिन्द में जैनधर्म शायर
-फिरोज नक्काश - 37:3

श्र

श्रमणगिरि चलें -जीबबन्धु टी.एस. अनुवादक पी.वी. वास्तव दत्ता जैन न्यायतीर्थ एम. 14/125
श्रमण परम्परा और चाण्डाल
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए. 14/285
श्रमण बलिदान -श्री अखिल 12/366
श्रमण संस्कृति और भाषा
-न्या. पं. महेन्द्रकुमार 5/193
श्रमण संस्कृति का प्राचीनत्व
-मुनि श्री विद्यानन्द 20/127
श्रमण संस्कृति के उद्धारक ऋषभदेव
-परमानन्द शास्त्री 19/273
श्रमण संस्कृति में नारी -परमानन्द जैन 13/84
श्रावकव्रतविधान का अनुष्ठाता आनन्द
श्रमणोपासक -बालचन्द सि.शा. 19/476
श्रावणकृष्ण प्रतिपदा की स्मरणीय तिथि
-परमानन्द शा. 2/473
श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ पोली मन्दिर शिरपुर
-नेमचन्द धन्नूसा जैन 20/11
श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ बस्ती मन्दिर तथा मूल नायकमूर्ति शिरपुर -नेमचंद धंनूसा जैन 20/169
श्री क्षेत्र बडवानी
-प्रो. विद्याधर जोहरापुरकर 15/87
श्री खारवेल प्रशस्ति और जैनधर्म की प्राचीनता
-काशीप्रसाद जायसवाल 1/241
श्रीधर स्वामी की निर्वाण भूमि कुण्डलपुर
-जगन्मोहनलाल शास्त्री 20/191
श्रीपुर क्षेत्र के निर्माता राजा श्रीपाल ईल
-नेमचन्द धन्नूसा जैन 21/162
श्रीपुर निर्वाण भक्ति और कुन्दकुन्द
-डा. विद्याधर जोहरापुरकर 18/14
श्रीपुर पार्श्वनाथ मन्दिर के मूर्ति-यंत्र लेख संग्रह
-पं. नेमचन्द धन्नूसा जैन 18/25, 15/80
श्रीपुर में राजा ईल से पूर्व का जैन मन्दिर
-नेमचन्द धन्नूसा जैन 17/145
श्री बाहुबली की आश्चर्यमयी प्रतिमा
-आ. श्री विजयेन्द्र सूरि 12/311
श्री भद्रबाहु स्वामी -मुनि श्री चतुर्विजय (अनुवादक परमानन्द) 13/678
श्री मोहनलालजी ज्ञानभंडार सूरत की ताड़पत्रीय प्रतियां -श्री भंवरलाल नाहटा 18/179
श्री राहुल का सिंह सेनापति
-श्री माणिकचंद 6/253
श्रुतकीर्ति और उनकी धर्मपरीक्षा
-डा. हीरालाल जैन एम.ए. 11/105
शृंगेरी की पार्श्वनाथ बस्ती का शिलालेख
-बाबू कामता प्रसाद जैन 9/224
श्रमण संस्कृति : इतिहास और पुरातत्व के संदर्भ में -श्री मुनि श्री नगराज 28:1

श्रमण साहित्य में वर्णित विभिन्न सम्प्रदाय
-डॉ. भागचन्द जैन 28:1
श्रमण साहित्य - एक दृष्टि
-मुनि श्री दुलह राज 28:1
श्रमण और समाज : पुरातन इतिहास के परिप्रेक्ष में -श्री चित्रेश गोस्वामी 28:1
श्रमण परम्परा की प्राचीनता
-पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री 28:1
श्रमण संस्कृति एवं परम्परा-श्री युगेश जैन 28:1
श्रावस्ती का जैन राजा सुहलदेव
(आचार्य जुगलकिशोर जन्मशती ग्रन्थ)
श्री गणेश प्रसाद जैन 30:3, 4
श्रमण संस्कृति की प्राचीनता : पुरातत्व एव इतिहास के परिप्रेक्ष्य में -डॉ. प्रेमचन्द जैन 31:3,4
श्रमण परम्परा -पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री 32:3,4
श्री लंका और जैनधर्म
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन 36:4
श्री लंका में जैनधर्म और अशोक
-श्री राजमल दिल्ली 46:3
श्री सम्मेद शिखर के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य -श्री सुभाष जैन 47:3
श्रुत परम्परा -मुनि श्री कामकुमार नन्दी 47:3
श्री सम्मेद शिखर अंक 53:2
श्रमण परम्परा मे प्रतिपादित षट्कर्म व्यवस्था
-डॉ. सुरेश चन्द जैन 54:3, 4
श्रमण संस्कृति -श्री सुरेन्द्र पाल सिंह 38:3, 4

स

सप्तक्षेत्र रासका वर्ण्यविषय
-श्री अगरचन्द नाहटा 15/160
समन्तभद्र का मुनि जीवन और आपत्काल
-सम्पादक 4/41, 4/143
समन्तभद्र का समय निर्णय
-जुगलकिशोर मुख्तार 14/3
समन्तभद्र का समय
-डा. ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए. एल.बी. 14/324
सम्राट अशोक के शिलालेखों की अमरवाणी
-श्री निर्द्वन्द 10/308
साहित्य में अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ श्रीपुर
-पं. नेमचन्द धन्नूसा जैन 18/24, 18/265
सित्तन्नवासल -गुलाबचन्द अभयचन्द 6/363
सिरि खारवेलके शिला की 14वीं पंक्ति
-बा कामताप्रसाद 1/230
सीरा पहाड़ के प्राचीन जैन गुफा मन्दिर
-श्री नीरज जैन 15/222
सूत्रधार मंडन विरचित रूपमंडल में जैन मूर्ति लक्षण -अगरचन्द नाहटा 19/294
सेनगण की भट्टारक परम्परा
-श्री पं नेमचन्द धन्नूसा 18/153
सोनागिरि सिद्ध क्षेत्र और तत्सम्बन्धी साहित्य
-डा नेमिचन्द शास्त्री 21/18
सोलहवीं शताब्दी की दो प्रशस्तियाँ
-परमानन्द शा. 18/19
संगीत का जीवन में स्थान
-बा छोटेलाल जैन 11/125
सगीतपुर के सालुवेन्द्र नरेश और जैनधर्म
-बा. कामतप्रसाद 9/187
संत श्री गुणचन्द -परमानन्द शास्त्री 17/189
संस्कृत के जैन प्रबन्ध काव्यों में प्रतिपादित शिक्षा पद्धति -नेमिचन्द शास्त्री 19/109
सोलंकी काल में जैन मन्दिरों में जैनेतर चित्रण
-डॉ. हरिहर सिंह 30:3, 4
सम्राट मुहम्मद तुगलक और महान् जैन शासन प्रभावक श्री जिनप्रभसूरी
-श्रीअगरचन्द्र नाहटा 33:1
संग्रहालय ऊन में संरक्षित जैन प्रतिमायें 35:3
स्थानीय संग्रहालय पिछोर में संग्रहीत जैन प्रतिमायें -श्री नरेशकुमार पाठक 36:1
सिरसा से प्राप्त जैन मूर्तियां
-श्री विद्यासागर शुक्ला 40:1
संग्रहालय गूजरी महल में सर्वतोभद्र प्रतिमायें
-श्री नरेश कुमार पाठक 45:2

सेसई का शान्तिनाथ मन्दिर
-श्री नरेशकुमार पाठक 47:2
संग्रहालय कुण्डेश्वर की प्रतिमायें
-श्री रामनरेश पाठक 50:2
सुप्रीम कोर्ट ने श्वेताम्बरों की शिखरजी सम्बन्धी याचिका खारिज की। 50:3
सोनगढ़ साहित्य -समयसार का अर्थ विपर्यय
-पं. नाथूलाल शास्त्री 50:3
सम्मेद शिखर विषयक साहित्य
-डॉ. ऋषभचन्द फौजदार 51:4
समसामयिक संदर्भों में मुख्तार सा. की कालजयी दृष्टि -डॉ. सुरेशचन्द्र जैन 51:4
सम्राट रामगुप्त जैनधर्म अनुयायी था।
-श्री कुंदनलाल जैन 36:4
साहू शान्ति प्रसाद समृति अंक 31:3, 4
संग्रहालय ऊन में संरक्षित जैन प्रतिमाएं 35:3

ह
हड़प्पा और जैनधर्म -टी.एन. रामचन्द्रन
अनुवादक -बा. जयभगवान जी एडवोकेट 14/157
हमारा प्राचीन विस्मृत वैभव
-पं. दरबारी लाल जी न्यायाचार्य 14/30
हमारी तीर्थयात्रा के संस्मरण
-पं. परमानन्द शास्त्री 12/24,12/36,12/89
12/163,12/188,12/235,12/276,12/319
हरिभद्र द्वारा उल्लिखित नगर
-डा. नेमिचन्द जैन 14/41
हस्तिनापुर का बड़ा जैन मन्दिर
-परमानन्द जैन 13/204
हूंबड या हूमंड वंश तथा उसके महत्त्वपूर्ण कार्य -परमानन्द जैन शास्त्री 13/123
होयसल नरेश विष्णुवर्धन और जैनधर्म
-पं. के. भुजबली 17/242
हड़प्पा तथा जैनग्रन्थ-टी.एन.रामचन्द्रन 24:4
हुंबड़ जैन जाति की उत्पत्ति एवं प्राचीन जनगणना 33:2

त्र
त्रिचूरी की कलचुरी कालीन जैन प्रतिमायें
-कस्तूरचंद सुमन - 24:1

उतार-चढ़ाव और आर्थिक एवं सामाजिक उदासीनता के चक्र में भी गौरव पूर्ण उद्देश्यों के प्रति समर्पित यह पत्रिका अपने अवदानों के लिए जैन इतिहास, सिद्धान्त, साहित्य, समीक्षा, सामयिक, कविता एवं मूलभाषा सम्बन्ध आलेखों का एक सशक्त जीवन्त दस्तावेज है, जिसे आ. जुगलकिशोर मुख्तार, पं. परमानन्द शास्त्री, श्री भगवत स्वरूप भगवत्, श्री अगरचन्द्र नाहटा, डॉ. दरवारी लाल कोठिया, श्री अयोध्या प्रसाद गोपलीय, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, पं. नाथूराम प्रेमी, पं. पद्मचन्द्र शास्त्री जैसे विद्वानों ने बेवाक होकर तैयार किया है। पं. पद्मचन्द्र शास्त्री ने तो विगत 30 वर्षों में अनेकान्त में प्राकृत विषयक जो सामग्री प्रस्तुत की है वह जैन साहित्येतिहास के लिए भविष्य में मार्गदर्शक सिद्ध होगी।

तात्पर्य यह है कि अनेकान्त में इतिहास-पुरातत्त्व के आलेखों के साथ ही मूल आगम ग्रन्थ सम्पादन तथा आगम भाषा विषयक सामग्री का भी प्रचुरमात्रा

में प्रकाशन हुआ है। वह भी इतिहास की सामग्री से भिन्न नही है। 2500वे निर्वाण महोत्सव के प्रसंग में 'अनुत्तर योगी महावीर' कृति की समीक्षा करते हुए 'विष मिश्रित लड्डू' शीर्षक से परम्परागत मूल्यों की रक्षा का ऐतिहासिक दस्तावेज प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार मूल आगम एवं भाषा विषयक पं. पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा प्रस्तुत आलेख दिगम्बर आगमों के सुस्पष्ट निर्धारण के उन आयामों और मानदण्डों को स्थापित करते हुए मार्गदर्शन करते हैं, जिन पर समस्त दिगम्बर परम्परा और इतिहास की भावी भित्ति खड़ी होगी तथा अध्येता अनुसन्धित्सुओं को एक सुनिश्चित मार्ग निर्धारण करने को मार्ग प्रशस्त करेगा। विडम्बना यह है कि आज कतिपय विद्वत् वर्ग सत्यान्वेषी न होकर अर्थान्वेषी है और अर्थ की लोलुपता सत्य को खोजने म सबसे बड़ी बाधा है यदि ऐसा न होता तो वर्तमान के सभी मनीषी विद्वान् प्राकृत विषयक अवधारणा और मूलआगम संपादन/संशोधन विषयक पं. पद्मचन्द्र शास्त्री की धारणा से सहमत होते हुए भी उदासीन भाव से असहमत न होते। विद्वत् समुदाय ने अनेकान्त के परम्परा पोषित सन्दर्भो म भी न्याय का आश्रय नही लिया यह भी विडम्बना और आश्चर्य का विषय है। परन्तु पण्डित पद्मचन्द्र शास्त्री ने अदम्य साहस के साथ एकला चलो रे की राह नहीं छोड़ी और समाज को जरा सोचिए तथा परम्परित मूल्यों के प्रति अपने आलेखों के माध्यम से सचेत करते रहे। यह बात अलग है कि उनकी सत्यान्वेषी आवाज नक्कारखाने की तूती की तरह विभिन्न हठों के बीच अनसुनी कर दी गई लेकिन उन्हें इतिहास की अमिट धरोहर बनने से रोका जा सकेगा इसकी सम्भावना कम है। क्योंकि इतिहास कालान्तर में निष्पक्ष सत्याग्रही और अनेकान्त दृष्टि धारक को अपने अतीत के स्वर्णिम अध्यायों मे परिचित कराता रहता है। इस आलेख में अनेकान्त में पूर्व प्रकाशित श्री गोपीलाल जी अमर के आलेख का साभार आधार लिया है।

55 4

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक **अनेकान्त**

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

1. जे दिन तुम विवेक बिन खोये 1

2 बोधपाहुड में वर्णित प्रव्रज्या
-डॉ. जयकुमार जैन 2

3. स्याद्वाद
- डॉ. सत्यदेव मिश्र 16

4 १७० वर्ष पूर्व उत्तरी भारत में दिगम्बर जैन मुनियों का विहार
अनूपचन्द न्यायतीर्थ 25

5 श्रमण परम्परा के वन्दनीय साधक और उनके मध्य सम्बन्ध
- डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल 35

6. तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनका अपरिग्रह दर्शन
डॉ. अशोक कुमार जैन 43

7. जीव का अकाल मरण : एक व्यापक दृष्टि
डॉ. श्रेयास कुमार जैन 59

वर्ष-55, किरण-4
अक्टूबर-दिसम्बर 2002

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 2603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-
वार्षिक शुल्क 30/-
इस अंक का मूल्य 10/-
सदस्यों व मंदिरों के लिए निःशुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स- 110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हों। इसमें प्रायः विज्ञापन एवं समाचार नहीं लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

जे दिन तुम विवेक बिन खोये

-कविवर भागचन्द

मोह वारुणी पी अनादितैं, परपद में चिर सोये।
सुखकरंड चितपिंड आपपद, गुन अनंत नहिं जोये।।
जे दिन तुम विवेक बिन खोये 1

होय बहिर्मुख ठानि राग रुख, कर्म बीज बहु बोये।
तसु फल सुख दुख सामग्री लखि, चित में हरषे रोये।।
जे दिन तुम विवेक बिन खोये 2

धवल ध्यान शुचि सलिलपूरतैं, आस्रवमल नहिं धोये।
परद्रव्यनि की चाह न रोकी, विविध परिग्रह ढोये ।।
जे दिन तुम विवेक बिन खोये 3

अब निज में निज जान नियत तहां, निज परिनाम समोये।
यह शिवमारग समरससागर, 'भागचन्द' हित तोये ।।
जे दिन तुम विवेक बिन खोये 4

बोधपाहुड में वर्णित प्रव्रज्या : एक समीक्षा

-डॉ. जयकुमार जैन

कुन्द कुन्दाचार्य एवं अष्टपाहुड

'मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥'

किसी भी मंगल कार्य के पूर्व जैनों में उक्त श्लोक पढ़ने की परम्परा है। स्पष्ट है कि चौबीसवें तीर्थकर भगवान् महावीर और उनकी दिव्यध्वनि के धारक तथा द्वादशांग आगम के प्रणेता गौतम गणधर के पश्चात् श्री कुन्दकुन्दाचार्य को प्रधानता दी गई है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव श्रमण संस्कृति के उन्नायक एवं अध्यात्म विषयक साहित्य के युगप्रधान आचार्य तो हैं ही, वे एक कुशल अनुशासक भी हैं। मूलसंघ के पट्टाचार्य कुन्दकुन्दाचार्य की अष्टपाहुड ऐसी महनीय कृति है जिसमें उनका कठोर प्रशासक का रूप दृष्टिगोचर होता है। इसमें दर्शन, चरित्र, सूत्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिङ्ग. और शील इन आठ पाहुडों का समावेश है। इन पाहुडों में कुन्दकुन्दाचार्य ने आज से 2000 वर्ष पूर्व शिथिलाचार के विरुद्ध जो सशक्त आवाज बुलन्द की थी, वह प्रत्येक काल में पूर्णतया सर्वथा प्रासंगिक रही है। अवसर्पिणी काल में शिथिलाचार का उत्तरोत्तर बढ़ना जब निरन्तर जारी हो, तब इन पाहुडों की उपयोगिता और अधिक बढ़ गई है।

वर्तमान में अष्टपाहुड की उपादेयता

आज दिगम्बर परम्परा के श्रमणों में जब अनियत विहार की प्रवृत्ति का अभाव सा हो रहा हो एवं कतिपय साधु-साध्वियों में मठाधीशपना बढ़ रहा हो, आचार्य के अनुशासन का उच्छृंखलतापूर्वक निरादर किया जा रहा हो तथा साधु एकल विहारी बनते जा रहे हों, शिष्यों की लोलुपता में सीमातीत वृद्धि हो रही हो तथा भ्रष्ट, एवं अयोग्य व्यक्तियों को संघ में दीक्षा दी जा रही हो, साधु-साध्वियाँ अपने उपदेशों में अन्य साधु-साध्वियों पर कटाक्ष कर रहे हों,

आचार्य/उपाध्याय बनने की होड़ लगी हो तथा संघ में एक भी साधु न होने पर भी यद्वा तद्वा आचार्य/उपाध्याय पद ग्रहण किये जा रहे हों, संघ में ब्रह्मचारिणी बहनों की पैठ बढ़ रही हो एवं उनमें कुछ के हीन आचरणों से साधुओं की चारित्र गर्हा हो रही हो, साधु-साध्वियाँ स्वयं धन-संग्रह एवं निर्माण कार्यो में रुचि ले रहे हों, साधु-साध्वियाँ अपने नामों पर संघ बनवाकर समाज में पार्टीवाजी एवं वैमनस्य का निमित्त बन रहे हों तथा साधुओं के नाम पर भक्त विभक्त हो रहे हों, साधु समाज के कुछ ठेकेदारों को प्रेरित कर तरह-तरह की उपाधियाँ ग्रहण कर रहे हों, पीछी कमण्डलु एवं शास्त्र के अतिरिक्त लौकिक साधनों जैसे टी.वी., कूलर, फोन आदि रखकर एक सद्गृहस्थ की सीमा से भी नीचे गिर रहे हों, मन्त्र-तन्त्र का दुरुपयोग करना उनका नित्य कर्म बन गया हो, संघ में नौकर-चाकर, रुपया-पैसा, चौका-चूल्हा, मोटर-गाड़ी आदि रखना कालानुसार समीचीन माना जाने लगा हो और दिगम्बर सन्तों की भी प्रथमानुयोग के दृष्टान्त छोड़कर विकथाओं में रुचि होने लगी हो तथा बड़े-बड़े नेताओं को अपने कार्यक्रमों में आमन्त्रित कराके मान कषाय को पुष्ट किया जा रहा हो, राजकीय अतिथि बनने में दिगम्बर साधु भी आनन्दित हो रहे हों तब अष्टपाहुड के अनुशासन की महत्ता और भी बढ़ गई है। आज समृद्धि एवं सुविधाओं के बढ़ जाने से श्रावक तो शिथिलाचारी हुआ ही है, साथ ही वह साधुओं में तीव्रगति से बढ़ रहे शिथिलाचार को दत्तचित्तता से संरक्षण प्रदान कर रहा है और उसे पुष्ट करने में सतत संलग्न है।

अष्टपाहुड उपर्युक्त शिथिलाचार के विरुद्ध एक अंकुश है जो हीनवृत्त रूपी मदोन्मत्त गजराज को नियन्त्रित करने में काफी हद तक समर्थ हो सकता है। अष्टपाहुड पर खुलकर चर्चा करने से शिथिलाचार के विरुद्ध एक वातावरण का निर्माण होगा जो समाज को जागरूक बनाकर उन्हें तथा दिगम्बर सन्तों को कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने को प्रेरित कर सकेगा। वस्तुत: कुन्दकुन्दाचार्य का व्यक्तित्व जहाँ एक ओर अध्यात्म प्रतिपादन में कुसुम से भी सुकुमार है वहाँ दूसरी ओर प्रशासक आचार्य के रूप में वज्र से भी कठोर है। वे स्वयं आचार परिपालन करने तथा संघस्थ साधुओं को आचार ग्रहण कराने में सच्चे आचार्य हैं। उनके इस लोकोत्तर रूप को जानकर ही

कविवर वृन्दावनदास ने कहा है-**'हुए हैं न होंहिंगे मुनिंद कुंदकुंद से।'**

बोधपाहुड एवं उसका प्रतिपाद्य

श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत अष्टपाहुड में बोधपाहुड अल्पकाय किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह बासठ गाथाओं में निबद्ध है, जिसमें निम्नलिखित 11 विषयों का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन हुआ है- आयतन, चैत्यग्रह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अरिहन्त और प्रव्रज्या। सभी ग्यारह स्थानों के विषय में कहा गया है कि निश्चय से निर्ग्रन्थ साधु ही आयतन है, वही चैत्यग्रह है, वही जिन प्रतिमा है, वही दर्शन है, वही जिनबिम्ब है, वही जिनमुद्रा है, वही ज्ञान है, वही देव है, वही तीर्थ है और वही अरिहन्त है। यहाँ पर ज्ञातव्य है कि साधुओं में अरिहन्त को भी समाविष्ट किया गया है। आयतन का अर्थ है धर्मस्थान। वास्तविक आयतन तो धर्मधारी मुनिराज ही है, व्यवहार से उनके आवास को आयतन कहा जाता है। चैत्यग्रह का अर्थ है-जिनालय। षट्काय के जीवों की रक्षा करने वाले मुनिराज ही वास्तव में चैत्यग्रह हैं, व्यवहार से जिनालय को भी चैत्यग्रह कहा गया है। प्रतिमा का अर्थ है मूर्ति। वास्तव में निर्ग्रन्थ मुनि की जंगम देह ही प्रतिमा है और सिद्ध अचल प्रतिमा है। वही वन्दनीय है। व्यवहार से धातु या पाषाण प्रतिमा भी वन्दनीय है। दर्शन का अर्थ है जिनदर्शन। मुनिराज का स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् का रूप है अत: वे साक्षात् दर्शन हैं। निर्ग्रन्थ मुनिराज ही वस्तुत: जिनदेव के प्रतिबिम्ब है। संयम में दृढ़ मुनिराज ही जिनमुद्रा है। मोक्षमार्ग की हेतु रूप शुद्धात्मा ज्ञान से प्राप्त होती है। उसके धारक निर्ग्रन्थ मुनि हैं अत: निर्ग्रन्थ साधु ही ज्ञान हैं। देव वीतरागी होते हैं। निर्ग्रन्थ मुनि वीतरागी हैं या उस मार्ग के पथिक हैं अत: वे ही देव हैं। जिससे तिरे उसे तीर्थ कहते है। निर्मल आत्मा वास्तव में तीर्थ है। निर्ग्रन्थ मुनिराजों की आत्मा सम्यक्त्व एवं महाव्रतों से शुद्ध, इन्द्रियों से विरक्त तथा भोगों की इच्छा से रहित निर्मल होती है अत: निर्ग्रन्थ साधु ही तीर्थ है। सभी केवलज्ञानी अरिहन्त होते है। निर्ग्रन्थ साधु ही इस पद को प्राप्त कर सकते हैं, अत: कारण में कार्य का उपचार मानकर कहा जा सकता है कि निर्ग्रन्थ साधु ही अरिहन्त हैं। प्रव्रज्या दीक्षा को कहते हैं और प्रव्रज्या धारी निर्ग्रन्थ साधु होता है, अत:

निर्ग्रन्थ साधु को ही प्रव्रज्या कहा गया है। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि उक्त ग्यारह स्थानों के माध्यम से वास्तव में निर्ग्रन्थ साधु के स्वरूप को ही स्पष्ट किया गया है।

श्रुतसागरी टीका

आचार्य कुन्दकुन्द कृत अष्टपाहुडों में से लिंगपाहुड एवं सीलपाहुड को छोड़कर शेष छह पाहुडो पर (16वीं शताब्दी में लिखित) भट्टारक श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका उपलब्ध है। यह टीका श्री जयसेनाचार्य की टीका की भांति पदखण्डान्वयी है। टीकाकार ने 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' की पद्धति को न अपना कर कहीं-कहीं भावों को तोड़ा मरोड़ा है तो कहीं-कहीं परमतखण्डन में असहिष्णुता दिखाई है। बोधपाहुड की 17वीं गाथा की टीका में बिना प्रसंग के ही उन्होंने भक्तों से अपनी पूजा कराने के लिए जोरदार उपदेश दिया है। वे लिखते हैं-'तुम सब पूजा करो, अष्टविध अर्चन करो तथा विनय करो। हाथ जोड़ना, पैरों में पड़ना, सन्मुख जाकर लिखा लाना वात्सल्य, भोजनपान, पदमर्दन, शुद्ध तैलादि से मालिश, प्रक्षालन आदि सब काम तीर्थकर नामकर्म के उपार्जन के हेतुभूत हैं। (जैन सा.का. इति. पृ. 375-376)

गाथा 27,32,33 एवं 43 की टीकाओं में अनावश्यक विस्तार किया है जो प्रवाह को अवरुद्ध करता है। यह टीका कुन्दकुन्द की भावना के अनुकूल नही जान पड़ती है।

प्रव्रज्या शब्द का अर्थ

आयतन आदि ग्यारह स्थानों में प्रव्रज्या का निर्ग्रन्थ साधु के साथ सीधा सम्बन्ध होने के कारण विशेष महत्त्व है। प्रव्रज्या शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक व्रज् धातु से क्यप् तथा स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्-प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है जिसके अनेक अर्थो मे दीक्षा, अनगारी का जीवन, साधु के रूप में इतस्ततः भ्रमण अर्थ प्रमुख हैं। प्रकृत में प्रव्रज्या का अर्थ प्रधान रूप से ऐसी दीक्षा को ग्रहण किया गया है जिसमें सर्वविध परिग्रह न हो (पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता, बो. 25)।

प्रव्रज्या का स्वरूप

''वैराग्य की उत्तम भूमिका को प्राप्त होकर मुमुक्षु व्यक्ति अपने सब सगे

सम्बन्धियों से क्षमा मांगकर, गुरु की शरण में जा, सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर देता है और ज्ञाता दृष्टा रहता हुआ साम्य जीवन बिताने की प्रतिज्ञा करता है। इसे ही प्रव्रज्या या जिनदीक्षा कहते हैं (जै. सि. को. भाग.3, पृ. 149)।" बोधपाहुड में कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रव्रज्या के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि जो धन-धान्य एवं वस्त्र के दान, सोना-चाँदी, शय्या-आसन एवं छत्र आदि के कुदान से रहित है। जो शत्रु-मित्र, प्रशंसा-निन्दा, हानि-लाभ, तृण-सुवर्ण में साम्यभाव रखता है, उत्तम-मध्यम गृह तथा दरिद्र धनी में भेद न करता हुआ सर्वत्र आहार ग्रहण करता है। जो परिग्रह रहित, निःसंग (स्त्री आदि के संसर्ग से रहित) मान कषाय एवं भोगपरिभोग की आशा से रहित, राग-द्वेष, ममत्व एवं अहंकार से रहित है। जो स्नेह, लोभ, मोह, विकार कालुष्य एवं भय से रहित है। जिसने यथाजात बालक के समान नग्न रूप को धारण किया है, जो शस्त्र रहित, शान्त है तथा परकृत वसतिका में निवास करता है। जो उपशम, क्षमा तथा दम से युक्त हैं, शरीर के संस्कार से वर्जित हैं, रूक्ष हैं, मद राग एवं द्वेष से रहित हैं। जिसका मूढ़भाव दूर हो गया है, जिसके आठों कर्म नष्ट हो गये हैं, मिथ्यात्व भाव नष्ट हो गया है तथा जो सम्यग्दर्शन रूप गुण से विशुद्ध है, उसको प्रव्रज्या कही गई है। (गाथा 45-52)

बोधपाहुड में प्रव्रज्या का फलितार्थ

उपर्युक्त वर्णन से फलित होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि में प्रव्रज्या में प्रमुखतया हेयोपादेय या करणीयाकरणीय का विचार आवश्यक है। प्रव्रज्या में जहाँ एक ओर राग-द्वेष, मोह, भय, आशा, लोभ, कालुष्य, भोगपरिभोग, शरीर संस्कार, स्नेह, अहंकार, ममता परिग्रह, पापांरभ, धन्यधान्यादि, स्त्रीसंसर्ग, गृहनिवास विकथा आदि से विरत रहने तथा उनको हेय या अकरणीय मानने का उपदेश देकर साधुओं को सचेत किया गया है वहाँ दूसरी ओर शत्रु-मित्र, प्रशंसा-निन्दा, हानि-लाभ, तृण-सुवर्ण में समता रखकर परकृतवसतिका में निवास की बात कहकर कुन्दकुन्दाचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि जिसमें स्वयं को कृत, कारित, अनुमोदना रूप मन, वचन, काय रूप निर्माण का दोष न लगा हो, ऐसे स्थान पर ही साधु को रहना चाहिए। इसी प्रकार आगे कहा गया है कि उपसर्ग एवं परिषहजयी मुनिराज निरन्तर निर्जन वन में शिला, काष्ठ या

भूमितल पर बैठते हैं (गाथा 55)। आहारादि के प्रति साम्यभाव रखकर आहार के प्रसंग में उत्तम-मध्यम गृह एवं दरिद्र-धनी में भेद न करके परिषहसहन एवं कषायजय में रत रहने को सावधान किया गया है। उन्हें बालकवत् नग्न रूप को धारण कर शान्त, शस्त्रास्त्रहीन, उपशम, क्षमा, दम में निरत रहते हुए संयम, सम्यक्त्व एवं मूलगुणों तथा तप, व्रत एवं उत्तरगुणों के परिपालन का आदेश दिया गया है। (देखें जै. सि.को-3, पृ. 527)

प्रव्रज्या के योग्यायोग्य स्थान

बोधपाहुड में दीक्षा के योग्य तथा दीक्षासहित मुनि के ठहरने योग्य स्थानों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि सूना घर, वृक्ष का मूल, उद्यान, श्मसान भूमि, पर्वत की गुफा, पर्वत की चोटी, भयानक वन और वसति ये दीक्षायोग्य स्थान हैं तथा दीक्षासहित मुनि के ठहरने योग्य स्थान हैं (गाथा 41)। इसी प्रकार मूलाचार में भी कहा गया है-

गिरिकन्दरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खु णिसेवेऊ।। मूलाचार 10/59

अर्थात् गिरिकन्दराओं, श्मसान भूमि, शून्यागार, वृक्षमूल आदि वैराग्यवर्धक स्थानों पर श्रमण ठहरते हैं। इन विविक्त निकायों में ठहरने में हेतु का निर्देश करते हुए भगवती आराधना में कहा गया है कि चूंकि कलह, व्यग्रता बढ़ाने वाले शब्द, संक्लेश भाव, मन की व्यग्रता, असंयत जनों का संसर्ग, स्वपर का भाव, ध्यान एवं अध्ययन में विघ्न आदि दोषों का सद्भाव इन विविक्त स्थानों में नही होता है, अतः ये श्रमण के ठहरने योग्य स्थान हैं। (भगवती आराधना 232)।

ठहरने के अयोग्य स्थानों का मूलाचार में विस्तार से वर्णन हुआ है। जिन स्थानों में कषाय की उत्पत्ति, आदर का अभाव, इन्द्रियविषयों की अधिकता, स्त्रियों का बाहुल्य, दुःखों एवं उपसर्गों का बाहुल्य हो, वहाँ मुनि को नहीं ठहरना चाहिए। गायआदि तिर्यंचनी, कुशील स्त्री, सविकारिणी व्यन्तर आदि देवियाँ, असंयमी गृहस्थ के निवासों पर साधु को कदापि नही ठहरना चाहिए। अराजक या दुष्टराजक स्थान, जहाँ कोई प्रव्रज्या न लेता हो तथा जहाँ

संयमघात की संभावना रहती हो, वहाँ मुनि को नही ठहरना चाहिए। इन स्थानों का परित्याग कर देना चाहिए। (मूलाचार 10/58-60)

प्रव्रज्या की योग्यता/अयोग्यता

प्रव्रज्या किसके होती है? इस सम्बन्ध में सामान्य कथन करते हुए बोधपाहुड (गाथा 54) में कहा गया है कि जिनमार्ग में प्रव्रज्या वज्रवृषभनाराच आदि छहों संहननों में कही गई है। भक्तजन इस प्रव्रज्या को कर्मक्षय का कारण मानकर धारण करते हैं। महापुराण 39/158 में दीक्षायोग्य पुरुष का कथन करते हुए कहा गया है-

'विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः।
दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः॥'

अर्थात् जिसका कुल विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और आकृति अच्छी है, ऐसा पुरुष दीक्षा ग्रहण करने योग्य माना गया है। जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा है ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य इन तीन वर्णों में से किसी एक वर्ण का नीरोग, तप में समर्थ, अति बालत्व एवं वृद्धत्व से रहित, योग्य आयु का, सुन्दर, दुराचारादि से रहित पुरुष ही जिनलिंग को ग्रहण करने के योग्य होता है। लब्धिसार की टीका में कहा गया है कि जो पुरुष दिग्विजय के काल में चक्रवर्ती के साथ आर्यखण्ड में आते हैं और चक्रवर्ती आदि के साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध पाया जाता है, उनके संयम ग्रहण के प्रति विरोध का अभाव है। अथवा जो म्लेच्छ कन्यायें चक्रवर्ती आदि के साथ विवाही गई हैं, उन कन्याओं के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, उनके दीक्षा ग्रहण संभव है। (ल. स./जी. प्र./185/249/19) स्पष्ट होता है कि शूद्र भी कथंचित् दीक्षा योग्य हैं। किन्तु यहाँ यह विशेष है कि सत् शूद्र ही यथायोग्य (क्षुल्लक) दीक्षा के योग्य होते हैं। प्रायश्चित्त चूलिका 154 में स्पष्टतया कहा गया है कि- 'भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लक-व्रतम्।'

''वण्णेसु तीसु एक्को कल्याणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जग्गो॥''

6934

इसकी टीका में भी कहा है- 'भोज्येष्वेव प्रदातव्या क्षुल्लक दीक्षा नापरेषु।' अर्थात् शूद्रों में केवल भोज्य या स्पृश्य शूद्रों को ही क्षुल्लक दीक्षा दी जानी चाहिए, अन्यों को नही।

बोधपाहुड (49) की श्रुतसागरी टीका में दीक्षा के अयोग्य व्यक्ति का कथन करते हुए कहा गया है कि 'कुरूपिणो हीनाधिकस्याङ्गस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रव्रज्या न भवति' अर्थात् कुरूप, हीन या अधिक अंग वाले तथा कुष्ठादि रोगों वाले व्यक्ति की दीक्षा नही होती है। दो हाँथ, दो पैर, नितम्ब, पीठ, वक्षस्थल और मस्तक ये आठ अंग माने गये हैं। मूर्धा, कपाल, ललाट, शंख, भौंह, कान, नाक, आंख, अक्षिकूट, हनू, कपोल, ओष्ठ, अधर, चाप, तालु, जीभ आदि उपांग है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यदि पुरुष लिंग में दोष न हो तो वह औत्सर्गिक लिंग (दिगम्बर दीक्षा) धारण कर सकता है। गृहस्थ के पुरुष लिंग में चर्म न होना, अधिक दीर्घता एवं बारम्बार चेतन होकर ऊपर उठना दोष हों तो वह दीक्षा धारण करने योग्य नही है। उसी तरह यदि अण्ड अतिशय लम्बे हों तो भी गृहस्थ दिगम्बरत्व के अयोग्य है।

दीक्षायोग्य काल

समवसरण में भरतचक्रवर्ती के स्वप्नों का फल बताते हुए भगवान् ऋषभदेव ने कहा है कि ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार देखने से सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्था में ही मुनिपद में ठहर सकेंगे अन्य अवस्था में नही।

> **तरुणस्य वृषस्योच्चैः नदतो विहृतीक्षणात्।**
> **तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यन्ति न दशान्तरे।** -महापुराण 41/75

यहाँ यह स्पष्ट है कि तारुण्य का अभिप्राय 25 से 50 वर्ष की अवस्था से है, न कि वर्तमान में 16-17 वर्ष में दीक्षित हो रहे किशोर साधुओं से।

कुछ लोग कहते हैं कि पंचम काल में दिगम्बर दीक्षा धारण नही करना चाहिए। यह कथन भी आगम की आज्ञा के सर्वथा प्रतिकूल है। पंचमकाल में

भी दीक्षा होती है। नियमसार (143) की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है कि कलिकाल में भी कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादि रूप मल कीचड़ से रहित सद्धर्मरक्षाकारी मुनि होता है। जिसने परिग्रहविस्तार को त्यागा है और पाप रूपी अटवी को जलाने वाली अग्नि रूप है, वह देव लोक में देवों से भी भलीभाँति पूजित होता है।

जिनसेनाचार्य ने दीक्षा के अयोग्य काल का निर्देश करते हुए लिखा है-

'ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयोः।
वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे॥
नष्टाधिमासदिनयोः संक्रान्तौ हानिमत्तिथौ।
दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धयः॥ महा. 39/159-60

अर्थात् जिस दिन ग्रहों का उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य चन्द्र पर परिवेष हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहों का उदय हो, आकाश मेघपटल से ढका हुआ हो, नष्टमास या अधिक मास का दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षयतिथि का दिन हो उस दिन बुद्धिमान् आचार्य मुमुक्षु भक्तों के लिए दीक्षा की विधि नही करते हैं। अर्थात् ऐसी स्थिति में शिष्य को नवीन दीक्षा नही दी जाती है।

दीक्षागुरु

गुरु शब्द का अर्थ बड़ा है। लोक में शिक्षकों को गुरु कहा जाता है। माता-पिता को भी गुरु कहा जाता है। किन्तु धार्मिक प्रकरण में अर्हन्त भगवान् को परमगुरु कहा गया है, वे त्रिलोक गुरु है। फिर आचार्य, उपाध्याय एवं साधु को गुरु माना गया है। व्रत धारण करने में गुरु की महत्ता सर्वत्र स्वीकृत है।

दीक्षागुरु का लक्षण करते हुए कहा गया है कि 'यो काले प्रव्रज्या-दायकः स एव दीक्षागुरुः।' (प्रवचन सा. 290 की टीका ता. वृ.) अर्थात् लिंग धारण करते समय जो शिष्य को प्रव्रज्या देते हैं, वे आचार्य दीक्षा गुरु हैं। दीक्षा गुरु को ज्ञानी और वीतरागी होना चाहिए। भगवती आराधना (479-483) में कहा गया है कि- ''जो जिसका हित चाहता है, वह उसको हित के कार्य में बलात् प्रवृत्त करता है। जैसे हित चाहने वाली माता अपने रोते हुए भी बालक का

मुख फाड़कर उसे घी पिलाती है। उसी प्रकार आचार्य भी मायाचार धारण करने वाले क्षपक को जबर्दस्ती दोषों की आलोचना करने में बाध्य करते हैं। तब वह दोष कहता है, जिससे कि उसका कल्याण होता है। जिस प्रकार कि कड़वी औषधि पीने से रोगी का कल्याण होता है। लातों से शिष्यों को ताड़ते हुए भी जो शिष्य को दोषों से अलिप्त रखता है, वही गुरु हितकारी समझना चाहिए। जो पुरुष आत्महित के साथ-साथ कठोर शब्द बोलकर परहित भी साधते हैं, वे जगत् में अतिशय दुर्लभ समझने चाहिए।''

भगवती आराधना (488) में यह भी कहा गया है कि यत: आचार्य पर विश्वास करके ही शिष्य अपने दोष उनसे कहता हे अत: गुरु को चाहिए कि वह दोषों को अन्य के समक्ष प्रकट न करे। यदि आचार्य शिष्य के दोषों को अन्य से कहता है तो उसे जिनधर्मबाह्य कहा गया है।

प्रव्रज्या धारण करने का प्रयोजन

प्रव्रज्या धारण करने का मूल प्रयोजन कर्मक्षय है। कर्मक्षय सम्पूर्ण परिग्रह त्याग के बिना संभव नही है। अत: इसमें सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग आवश्यक माना गया है। निर्जन में वास भी इसीलिए आवश्यक माना गया है ताकि कर्मबन्ध के हेतु विकथाओं से तथा पशु, स्त्री, नपुंसक एवं कुशील मनुष्यों के सम्पर्क से बचा जा सके। बोधपाहुड (53-56) में कहा गया है कि प्रव्रज्या कर्मक्षय का कारण है। इसमें तिलतुष मात्र भी बाह्य परिग्रह का संग्रह नही है। उपसर्ग विजेता एवं परिषह जयी मुनिवर निर्जन स्थान में शिला, काष्ठ या भूमितल पर बैठते हैं। इसमें पशु, स्त्री, नपुंसक, कुशील मनुष्यों का संग नही किया जाता है एवं विकथायें नही की जाती हैं तथा सदा स्वाध्याय एवं ध्यान में लीन रहा जाता है।

शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में प्रव्रज्या धारण करने का कारण बताते हुए कहा है कि गृहस्थजन घर में रहते हुए अपने चपल मन को वश में करने में समर्थ नही होते हैं अतएव चित्त की शान्ति के लिए सत्पुरुषों ने घर में रहना छोड़ दिया है और वे एकान्त में रहकर ध्यानस्थ होने को उद्यमी हुए हैं। निरन्तर पीड़ा रूपी आर्तध्यान की अग्नि के दाह से दुर्गम, वसने के अयोग्य

तथा काम क्रोधादि की कुवासना रूपी अंधकार से विलुप्त नेत्रों की दृष्टिवाले घरों में अनेक चिन्ता रूपी ज्वर से, विकार रूप मनुष्यों के अपनी आत्मा का हित कदापि सिद्ध नही हो सकता है। (ज्ञानार्णव 4/10, 12)

अतएव प्रव्रज्या धारण करना कर्मक्षय एवं आत्मकल्याण हेतु आवश्यक है।

क्या दीक्षा आवश्यक है

प्राय: लोग भरत चक्रवर्ती का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि दिगम्बर मुद्रा धारण करने की अपेक्षा भरत चक्रवर्ती की तरह घर में विरागी रहा जा सकता है। उन्हें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यदि प्रव्रज्या अनिवार्य न होती तो भरत चक्रवर्ती भी घर में रहते हुए ही मोक्ष प्राप्त कर लेते, परन्तु उन्हें भी प्रव्रज्या धारण करनी ही पड़ी। एतावता यह सुनिश्चित है कि कर्म मुक्ति के लिए प्रव्रज्या धारण करना अत्यन्त अनिवार्य है।

दीक्षाविधि

प्रव्रज्या विधि का विवेचन करते हुए महापुराण में कहा गया है कि-

> **'सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान्।**
> **तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत्॥** -महा. 38/151

अर्थात् सर्वप्रथम सिद्ध भगवान् की पूजा करके सभी इष्ट लोगों को बुलाकर उनकी साक्षी पूर्वक पुत्र के लिए सब सौंपकर गृहत्याग करना चाहिए। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य भी लिखते हैं-

> **'आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।**
> **आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं॥'** 202

अर्थात् बन्धुवर्ग से विदा मांगकर गुरूजनों, पत्नी तथा पुत्र से मुक्त होकर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तप आचार एवं वीर्याचार को अंगीकार करे। किन्तु प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति (202) की टीका में जयसेनाचार्य बन्धुवर्ग से विदा लेने के नियम को आवश्यक नही मानते हैं। उनका कहना है कि यदि घर में कोई मिथ्यादृष्टि होता है तो वह उपसर्ग करता है। अथवा यदि कोई

ऐसा मानता है कि मैं बन्धुवर्ग को मनाकर पश्चात् तपस्या करूँ तो उसके प्रचुर रूप से तपस्या नही हो पाती है। और यदि जैसे तैसे तपस्या हो भी जाती है, परन्तु वह कुल का मद करता है तो वह तपोधनी नही बन पाता है। इसी की टीका में पं. हेमराज ने भी ऐसे ही भाव प्रकट किये हैं कि यहाँ पर ऐसा मत समझना कि विरक्त होवे तो कुटुम्ब को राजी करके ही होवे। कुटुम्ब यदि किसी तरह राजी ने होवे तब कुटुम्ब के भरोसे रहने से विरक्त कभी होय नही सकता। इस कारण कुटुम्ब से पूछने का नियम नही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामान्यत: कुटुम्ब से विदा लेकर ही दीक्षा ग्रहण करना चाहिए। परन्तु यदि कुटुम्ब में कोई मिथ्यादृष्टि दीक्षा ग्रहण करने से रोके और माने नही तो ऐसी स्थिति में आत्मकल्याण के लिए दीक्षा ग्रहण कर लेना चाहिए। क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में कुटुम्ब से आज्ञा लेने का कोई नियम नही है। दीक्षार्थी द्वारा सर्वप्रथम सिद्धों की अर्चना का विधान इसलिए किया गया है, कि अर्हन्त भी दीक्षा के समय सिद्धों को नमस्कार करते हैं। क्योंकि अर्हन्त भगवान् में सिद्धों की अपेक्षा कम गुण हैं।

दीक्षान्वय की क्रियायें

व्रत को धारण करने के सम्मुख व्यक्ति विशेष की प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं को दीक्षान्वय की क्रियायें कहा जाता है। इन क्रियाओं की संख्या महापुराण के अनुसार अवतार से लेकर परनिर्वृत्ति क्रिया तक 48 है। मिथ्यात्व से दूषित कोई भव्य समीचीन मार्ग को ग्रहण करने के सम्मुख हो किन्ही मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्य के पास जाकर यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु व धर्म के सम्बन्ध में योग्य उपदेश प्राप्त करके मिथ्या मार्ग से प्रेम हटाता है और समीचीन मार्ग में बुद्धि लगाता है। गुरु ही उस समय पिता है और तत्त्वज्ञान रूप संस्कार ही गर्भ है। यहीं यह भव्य प्राणी अवतार धारण करता है। इसी प्रकार आगे की क्रियाओं का विवेचन हुआ है। सभी क्रियाओं के लिए पृथक्-पृथक् मन्त्रों का विधान है। अन्त में परनिर्वृत्ति क्रिया विमुक्त सिद्ध पद की प्राप्ति रूप है।

अनियतविहार

श्रमण की विहारचर्या में अनियतविहार को आवश्यक माना गया है। मूलाचारवृत्ति (8/3) में कहा गया है कि रत्नत्रय की विशुद्धि के लिए समान रूप से सभी स्थानों पर भ्रमण करते रहना विहारचर्या है। 9/31 मूलाचार में कहा गया है कि अपरिग्रही मुनि को बिना किसी अपेक्षा के हवा की भांति लघुभूत होकर मुक्तभाव से ग्राम, नगर, वन आदि से युक्त पृथ्वी पर समान रूप से विचरण करते रहना चाहिए।

भगवती आराधना (148) में अनियतविहार के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि अनेक देशों में विहार करने से क्षुधाभावना, चर्या भावना आदि का पालन होता है। अन्यान्य देशों में मुनियों के भिन्न-भिन्न आचारों का ज्ञान होता है तथा विविधभाषाओं में जीवादि पदार्थो के प्रतिपादन का चातुर्य प्राप्त होता है। अनियतविहारी मुनि चारित्र के धारक होते हैं। उन्हें देखकर अन्य मुनि भी चारित्र एवं योग के धारक तथा सम्यक् लेश्या वाले बनते हैं। इस प्रकार अनियतविहार के अनेक लाभों के चर्चा श्रमणाचार विषयक ग्रन्थों में की गई है।

एकाकीविहार निषेघ

मूलाचार (4/150) में एकाकीविहार का निषेघ करते हुए कहा गया है कि "गमन, आगमन, शयन, आसन, वस्तुग्रहण, आहारग्रहण, भाषण, मलमूत्रादि विसर्जन इन कार्यो में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला कोई भी श्रमण मेरा शत्रु भी हो तो भी एकाकी विहार न करे।"

अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए जो मुनि स्वच्छन्द होकर एकाकी विहार में प्रवृत्त होता है, वह दोष प्रकट होने के भय से संघ में अन्य-श्रमणों के साथ रहने से डरता हे। भगवती आराधना में ऐसे श्रमणों को यथाछन्द नामक पापश्रमण कहा है। (द्रष्टव्य भ. आराधना, गाथा 1310-1312)

एकलविहार की अनुमति भी, पर इस पंचम काल में नही

जो मुनि बहुकाल से दीक्षित है, ज्ञान संहनन और भावना से बलवान् है,

वह एकल विहारी हो सकता है। (आचारसार 27)। मूलाचार वृत्ति (4/149) में कहा गया है कि जो तपों की आराधना करते हैं, 14 पूर्वो के ज्ञाता हैं, काल क्षेत्र के अनुकूल आगम के जानकर हैं तथा प्रायश्चित्तशास्त्र (सूत्र) के ज्ञाता हैं। किसी उत्तम संहनन के धारक हैं, क्षुधादि बाधाओं को सहन करने में समर्थ हैं, ऐसे श्रमण एकल विहार कर सकते हैं। अन्य साधारण मुनियों को विशेष रूप से हीन संहनन वाले इस पंचम काल में एकाकी विहार का विधान नही है।

वर्षाकाल एवं विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त श्रमण को सदा विहार करते रहने का विधान है तथा एकाकी विहार की घोर निन्दा शास्त्रों में की गई है। एकाकी विहार में अनेक दोषों की संभावना होने से ही उसका निषेध किया गया है।

शीघ्र आचार्य बनना चाहने वाले को पापश्रमण संज्ञा

मूलाचार (10/69) में कहा गया है कि जो पहले शिष्यत्व न करके आचार्यत्त्व धारण करने की जल्दी करता है, ऐसा पूर्वापर विवेकशून्य ढोंढाचार्य मदोन्मत्त हाथी के समान निरंकुश भ्रमण करता है। अपने को आचार्य कहने-कहलवाने वाले आगम ज्ञान से रहित ये पापश्रमण अपना तो विनाश करते ही हैं साथ ही कुत्सित उपदेशादि के द्वारा दूसरों का भी विनाश करते हैं।

यहाँ पर मुख्य रूप से बोधपाहुड के आधार पर एवं जो विषय बोधपाहुड में नही है या स्वल्प हैं, उन पर मूलाचार, भगवती आराधना, ज्ञानार्णव एवं महापुराण आदि के आधार पर प्रव्रज्या विषयक वर्णन संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। मुझे विश्वास है पूज्य मुनिराज एवं विद्वान् व्यापक रूप से चर्चा के पश्चात् किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं, जिससे शिथिलाचारी साधुओं के द्वारा मलिन होते जा रहे जिनशासन को बचाया जा सकेगा।

-सम्पादक

स्याद्वाद

-डॉ सत्यदेव मिश्र

सत्यान्वेषण भारतीयदर्शन का प्रमुख वैशिष्ट्य है। द्रव्य और पर्याय-सत्य के दो पहलू हैं। सत्य के इस पक्षद्वैविध्य को भारतीय चिंतकों ने विविध रूपों में देखा है। अद्वैत वेदान्त ने द्रव्य को पारमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक कहा है। बौद्धों ने पर्याय को पारमार्थिक बताया है, पर द्रव्य को काल्पनिक माना है। अन्य दार्शनिक इन एकान्तिक मतों का खण्डन-मण्डन करते प्रतीत होते हैं। समन्वयवादी जैन चिंतकों ने सत्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त मानकर[1] द्रव्य तथा पर्याय-दोनों की परमार्थ सत्यता का उद्घोष किया है तथा स्वसिद्धान्त को अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिष्ठित किया है।

अनेकान्तवाद में 'अन्त' पद का अर्थ है-धर्म, अत: अनेकान्तवाद का शाब्दिक अर्थ है-वस्तु के अनेक या अनन्त धर्मों का कथन। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु, चाहे वह जीव हो या पुदगल, इन्द्रिय जगत् या आत्मादि, उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यशील है तथा नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, भाव-अभाव जैसे विरुद्ध धर्मों से युक्त है।

जो वस्तु नित्य प्रतीत होती है, वह अनित्य भी है। जो वस्तु क्षणिक दिखाई देती है, वह नित्य भी है। जहाँ नित्यता है, वहाँ अनित्यता भी है। वस्तु में इन द्वन्द्वात्मक विरोधों की मान्यता अनेकान्तवाद है और वस्तु की अनेकान्तात्मकता का कथन स्याद्वाद है।[2] वस्तुत: 'स्याद्वाद अनेकान्तवाद की कथन शैली है जो वस्तु के विचित्र कार्यों को क्रमश: व्यक्त करती है और विविध अपेक्षाओं से उनकी सत्यता भी स्वीकार करती है।[3] अनेकान्तवाद और स्याद्वाद एक दूसरे के पूरक हैं। प्रमेयफलक पर जो अनेकान्तवाद है, वही प्रमाणफलक पर स्याद्वाद है।

स्याद्वाद जैनदर्शन का एक प्राचीन तथा बहुचर्चित सिद्धान्त है। प्राचीनतम जैन ग्रंथों में इसका स्पष्ट संकेत हैं। भगवती सूत्र (1229) में इसके तीन भङ्गों

की चर्चा है। भद्रबाहु ने सूत्रकृताङ्ग. में इसका उल्लेख किया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने पञ्चास्तिकाय में तथा समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में स्याद्वाद के सातभङ्गों का विशद विवेचन किया है। सिद्धसेन दिवाकर, अकलङ्क, विद्यानन्दी प्रभृति जैन नैयायिकों ने इसे सुसम्बद्ध सिद्धान्त का रूप प्रदान किया है।

स्याद्वाद 'स्यात्' और 'वाद'-इन दो पदों से निष्पन्न है। 'स्यात्' पद तिङन्त प्रतिरूपक निपात है जो अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ यह 'अनेकान्त' द्योतक है।[4] 'स्यात्' क्वचित्[5] (देश) और कदाचित् (काल) का भी वाचक होता है। संभावना और संशय के अर्थ में भी इसका प्रयोग प्राप्त होता है। स्याद्वाद के संदर्भ में 'स्यात्' पद, संशयार्थक नहीं है। इसका अर्थ है- अनेकान्त; और अनेकान्त अनन्तधर्मात्मक वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान है, अत: 'स्यात्' शब्द भी निश्चितार्थक है।[6] 'स्यात्' के इस अर्थ के साथ संभावना और सापेक्षता भी जुड़े हुए हैं।

'स्यात् पदका प्रयोग किये बिना इष्टधर्म की विधि और अनिष्ट धर्म का निषेध नहीं किया जा सकता, अत: पदार्थ का प्रतिपादन करने वाली प्रत्येक वाक्यपद्धति के साथ 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है। यह दो अर्थों को सूचित करता है-

1. विधिशून्य निषेध और निषेधशून्य विधि नहीं हो सकती।

2. अन्वयी धर्म (ध्रौव्य या सामान्य) तथा व्यतिरेकी धर्म (उत्पाद और व्यय या विशेष)-ये दोनों सापेक्ष हैं। ध्रौव्य रहित उत्पाद-व्यय और उत्पाद-व्यय-रहित ध्रौव्य कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकता।

वस्तु का स्वरूप सर्वात्मक नहीं है, अत: स्व-रूप से उसकी विधि और पररूप से उसका निषेध प्राप्त होता है। उत्पाद और व्यय का क्रम निरंतर चलता रहता है, अत: उत्पन्न पर्याय की अपेक्षा से वस्तु की विधि और अनुत्पन्न या विगत पर्याय की अपेक्षा से उसका निषेध प्राप्त होता है। 'स्याद्वाद का सिद्धान्त यह है कि विधि और निषेध वस्तुगत धर्म हैं। हम अग्नि का प्रत्यक्ष करते हैं, इसलिए उसकी विधि का अर्थ होता है कि अमुक देश में अग्नि है। हम धूम के

द्वारा अग्नि का अनुमान करते हैं। तब साधक-हेतु मिलने पर अमुक देश में उसकी विधि और बाधक-हेतु मिलने पर उसका निषेध करते हैं किन्तु स्याद्वाद का विधि-निषेध वस्तु के देश-काल से संबद्ध नहीं है। यह उसके स्वरूप-निर्धारण से संबद्ध है। अग्नि जब कभी और जहां कहीं भी होती है वह अपने स्वरूप से होती है, इसलिये उसकी विधि उसके घटकों पर निर्भर है और उसका निषेध उन तत्वों पर निर्भर है जो उसके घटक नहीं हैं। वस्तु में विधि-पर्याय होता है इसलिये वह अपने स्वरूप में रहती है और निषेध-पर्याय होता है, इसलिये उसका स्वरूप दूसरों से आक्रान्त नहीं होता। यही वस्तु का वस्तुत्व है।[7] इस स्वरूपगत विशेषता की सूचना 'स्यात्' शब्द देता है।[8]

विभज्यवाद[9] भजनावाद[10], स्याद्वाद के नामान्तर हैं। भगवान महावीर ने स्वयं भी अनेक प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद की पद्धति से दिये हैं। जयन्ती ने पूछा-'भंते! सोना अच्छा है या जागना अच्छा है? महावीर ने कहा 'जयन्ती! कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना अच्छा है।'[11] जयन्ती ने पुन: प्रश्न किया-'भंते! यह कैसे? महावीर का उत्तर था-'जो जीव अधर्मी हैं उनका सोना अच्छा है और जो धर्मी हैं, उनका जागना ही अच्छा है, यह एकांगी उत्तर होता। इसलिये महावीर ने प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया, एकांगी दृष्टि से नहीं दिया।

भजनावाद के अनुसार द्रव्य और गुण के भेद एवं अभेद का एकांगी नियम स्वीकार्य नहीं। उसमें भेद और अभेद दोनों हैं। द्रव्य से गुण अभिन्न हैं, यदि इस नियम को स्वीकृति दी जाये, तो द्रव्य और गुण दो नहीं रहते, एक हो जाते हैं। फिर 'द्रव्य में 'गुण'-इस प्रकार की वाक्य-रचना संभव नहीं। द्रव्य से गुण भिन्न हैं, यदि इस नियम को माना जाये, तो 'यह गुण इस द्रव्य का है'-इस प्रकार की वाक्य-रचना नहीं की जा सकती।

वस्तु स्वभावत: अनेक धर्मात्मक है। जो वस्तु मधुर प्रतीत होती है, वह कटु भी है, जो मृदु प्रतीत होती है, वह कठोर भी है। जो दीपक क्षण-क्षण बुझता और टिमटिमाता दिखाई पड़ता है, उसमें एकांत क्षणिकता ही नहीं, द्रव्यरूप से स्थिरता भी है। 'जो द्वन्द्व (युगल) विरोधी प्रतीत होते हैं, उनमें

परस्पर अविनाभाव संबंध है-इस स्थापना के आधार पर अनेकान्त का सिद्धान्त अनन्त विरोधी युगलों को युगपत रहने की स्वीकृति देता है।'[12] पर इन विरोधी युगलों को एक साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता। इनके युगपत् प्रतिपादन के लिये भाषा में क्रमिकता और सापेक्षता चाहिए। यह सापेक्ष कथन या प्रतिपादन शैली स्याद्वाद है, जिसके अस्ति (विधि), नास्ति (निषेध) और अवक्तव्य आदि के भेद से अधोलिखित सात विकल्प हैं :-

1. स्याद् अस्ति एव - किसी अपेक्षा से है ही।
2. स्याद् नास्ति एव - किसी अपेक्षा से नहीं ही है।
3. स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव - किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से नहीं ही है।
4. स्याद् अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।
5. स्याद् अस्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।
6. स्याद् नास्ति एवं स्याद् अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।
7. स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

ये वचन विकल्प सप्तभंगी के नाम से प्रसिद्ध है।[13] इनमें प्रथम चार मूल अंग है और अंतिम तीन इन्हीं के विस्तार हैं। मूल अंगों के स्पष्टीकरण के लिये एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत है-

तीन व्यक्ति एक स्थान पर खड़े हैं। किसी आगन्तुक ने पूछा- 'क्या आप इनके पिता हैं? उसने उत्तर दिया-'हाँ (स्यादस्मि)-अपने इस पुत्र की अपेक्षा से मैं पिता हूँ किन्तु इन पिताजी की अपेक्षा से मैं पिता नहीं हूँ (स्यादस्मि-नास्मि), किन्तु एक साथ दोनों बातें नहीं कही जा सकतीं (स्यादवक्तव्य:) इसीलिये क्या कहूँ?'

स्याद्वाद का एक शास्त्रीय उदाहरण है-घट, जिसका स्वरूप-नियमन जैन दार्शनिक सप्तभंगी के माध्यम से इस प्रकार है-

स्याद् अस्ति एव घट: - कथंचिद् घट है ही।

स्याद् नास्ति एव घट: - कथंचिद् घट नहीं ही है।

स्याद् अस्ति एव घट: स्यान्नास्ति एव घट: - कथंचित् घट है ही और कथंचिद् घट नहीं ही है।

स्यादवक्तव्य एव घट: - कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है

स्याद् अस्ति एव घट: स्याद् अवक्तव्य एव घट: - कथंचिद् घट है ही और कथंचित घट अवक्तव्य ही है।

स्यान्नास्ति एव घट: स्यादवक्तव्य एव घट: - कथंचिद् घट नहीं ही है और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव घट: स्यान्नास्ति एव घट स्यादवक्तव्य एव घट: - कथंचिद् घट है कथंचिद् घट नहीं ही है और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

'स्याद् अस्ति एव घट:' कथंचिद् घट है ही। इस वाक्य में 'घट' विशेष्य और 'अस्ति' विशेषण है, 'एवकार' विशेषण से युक्त होकर घट के अस्तित्व धर्म का अवधारण करता है। यदि इस वाक्य में 'स्यात्' का प्रयोग नहीं होता तो 'अस्तित्व-एकान्तवाद' का प्रसंग आ जाता, जो इष्ट नहीं है। क्योंकि घट में केवल अस्तित्व धर्म नहीं है, उसके अतिरिक्त अन्य धर्म भी उसमें है। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इस आपत्ति को निरस्त कर देता है। 'एवकार' के द्वारा सीमित अर्थ को वह व्यापक बना देता है। विवक्षित धर्म का असंदिग्ध प्रतिपादन और अविवक्षित अनेक धर्म का असंदिग्ध प्रतिपादन और अविवक्षित अनेक धर्मों का संग्रहण-इन दोनों की निष्पत्ति के लिये 'स्यात्कार' और 'एवकार' का समन्वित प्रयोग किया जाता है।[14]

सप्तभंगी के प्रथम अंग में विधि की और दूसरे में निषेध की कल्पना है। प्रथमअंग में विधि प्रधान है और दूसरे में निषेध। वस्तु स्वरूप शून्य नहीं है

इसलिये विधि की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है और वह सर्वात्मक नहीं है, अतः निषेध की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है। जैसे विधि वस्तु का धर्म है वैसे ही निषेध भी वस्तु का धर्म है। स्व-द्रव्य की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। यह विधि है। पर प्रत्यय भी है। यह निषेध है। इसका अर्थ यह हुआ कि निषेध आपेक्षिक पर्याय है-दूसरे के निमित्त से होने वाली पर्याय है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। निषेध की शक्ति द्रव्य में निहित है। द्रव्य यदि अस्तित्वधर्मी हो और नास्तित्वधर्मी न हो तो वह अपने द्रव्यत्व को बनाए नहीं रख सकता। निषेध 'पर' की अपेक्षा से व्यवहृत होता है, इसलिये उसे आपेक्षिक या पर-निमित्तक पर्याय कहते हैं। वह वस्तु के सुरक्षा-कवच का काम करता है; एक के अस्तित्व में दूसरे को मिश्रित नहीं होने देता। 'स्व-द्रव्य की अपेक्षा से घट है' और 'पर द्रव्य की अपेक्षा से घट नहीं है'-ये दोनों विकल्प इस सच्चाई को प्रकट करते हैं कि घट सापेक्ष है। वह सापेक्ष है इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि जिस क्षण में उसका अस्तित्व है उस क्षण में उसका नास्तित्व नहीं है। अस्तित्व और नास्तित्व (विधि ओर निषेध)-दोनों युगपत् हैं। किन्तु एक क्षण में एक साथ दोनों का प्रतिपादन कर सके-ऐसा कोई शब्द नहीं है। इसलिये युगपत् दोनों धर्मों का बोध कराने के लिये अवक्तव्य अंग का प्रयोग होता है। इसका तात्पर्य यह है कि दोनों धर्म एक साथ हैं, किन्तु उनका कथन नहीं किया जा सकता है।[15]

उक्त विवेचन का सार यह है कि स्याद्वाद के अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य आदि अंग;घटवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा पर्याय पर निर्भर करते हैं। घट जिस द्रव्य से निर्मित है, जिस क्षेत्र, काल और पर्याय में है, उस द्रव्य, क्षेत्र, काल और पर्याय की दृष्टि से अन्य-काल और अन्य-पर्याय की अपेक्षा से उसका नास्तित्व है। इस प्रकार घट में अस्तित्व-नास्तित्व दोनों हैं, और इन युगल धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता अतः वह (घट) अवक्तव्य भी है।

अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य - ये तीन मूल अंग हैं। शेष चार अंग इन्हीं अंगों के योग-अयोग से निष्पन्न होते हैं।[16] अतः उनका विवेचन मेरी दृष्टि में कथंचित् अनावश्यक है। सप्तभंगों से घटादि वस्तु के समग्र भावाभावात्मक,

सामान्य-विशेषात्मक नित्यानित्यात्मक और वाच्यावाच्यात्मक धर्मों का युगपत् कथन संभव है।

विवेचित उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्याद्वाद का महत्व जितना दर्शन की गंभीर पहेलियों को सुलझाने में है, उतना ही जीवन की जटिल समस्याओं का निराकरण करने में भी है। यह अनुभवगम्य तथा सापेक्षसिद्ध होने के कारण व्यावहारिक जगत् की भाषा है, तथापि साम्प्रदायिक आग्रह के कारण कतिपय दार्शनिकों ने इसकी कटु आलोचना की है। शान्तरक्षित ने सप्तभंगीनय को उन्मत्त व्यक्ति का प्रलाप कहा है क्योंकि यह सत्व-असत्व, अस्तित्व-नास्तित्व, एक-अनेक, भेद-अभेद तथा सामान्य-विशेष जैसे विरोधी धर्मों को एकत्र समेटने का उपक्रम करता है।[17] शंकराचार्य ने स्याद्वाद को संशयवाद का पर्याय मान लिया है तथा इसके खण्डन में यह कहा है कि एक वस्तु में शीत व उष्ण के समान विरोधी धर्म युगपत् नहीं रह सकते। वस्तु को विरोधी धर्मों से युक्त मानकर स्वर्ग और मोक्ष में भी विकल्पत: भाव-अभाव और नित्यता-अनित्यता की प्रसक्ति होगी। स्वर्गादि के वास्तविक स्वरूप की अवधारणा के अभाव में किसी की इनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार विश्वसनीयता एवं अविश्वसनीयता के विकल्पों से व्याहत आर्हतमत भी अग्राह्य होगा।[18] रामानुजाचार्य के अनुसार भी स्याद्वाद अयौक्तिक है क्योंकि छाया तथा आतप के समान विरुद्ध अस्तित्व तथा नास्तित्वादि धर्मो का युगपद् होना असंभव है।[19] तात्विक दृष्टि से विचार करने पर ये आलोचनायें असंगत सिद्ध होती हैं।[20] स्याद्वाद वस्तु को एक ही अपेक्षा से शीत-उष्ण नहीं कहता। जल शीतल है, इसका अर्थ यह है कि वह गरम दूध या चाय की अपेक्षा शीतल है। जल उष्ण है, इसका अर्थ है कि वह बरफ की अपेक्षा गरम है। यह नहीं कि जल में शीतलता और उष्णता एक साथ विद्यमान हैं। वस्तुत: जल अन्य वस्तु की अपेक्षा से शीतल और उष्ण है। इस अपेक्षा भेद को न समझने के कारण ही शांतरक्षित आदि ने स्याद्वाद का विरोध किया है। मल्लिषेण ने इन आलोचनाओं का उत्तर देते हुए कहा है कि वस्तु के सत्व का अभिधान उस (वस्तु) के रूप-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा से होता है, और उसके असत्त्व का अभिधान अन्य (वस्तु) के

रूप-द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव की अपेक्षा से किया जाता है, अत: विरोध का अवकाश कहाँ है?[21]

'स्यात्' का अर्थ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, न 'शायद' है, न 'संभवत: है, और न 'कदाचित् है। स्याद्वाद के संदर्भ में यह 'कथंचित् या 'किसी अपेक्षा' का वाचक है। इसलिये 'स्याद्वाद' को संशयवाद कहना भ्रामक है। जहाँ संशय होता है, वहाँ परस्पर विरोधी अनेक धर्मो का युगपत् शंकात्मक ज्ञान होता है, क्योंकि संशय साधक और बाधक प्रमाण का अभाव होने से अनिश्चित अनेक अंशों का स्पर्श करता है और अनिर्णयात्मक स्थिति में रहता है। स्याद्वाद में यह नहीं होता। यहाँ परस्पर विरुद्ध सापेक्ष, धर्मों का निश्चित ज्ञान होता है। वह अपेक्षाओं के बीच अस्थिर न रहकर निश्चित प्रणाली के अनुसार वस्तु का बोध करता है।[22] स्याद्वाद में निश्चय है, अत: इसे अनिश्चयात्मक संशयवाद मानना सर्वथा अनुचित है। शंकराचार्य के द्वारा स्याद्वाद की आलोचना और भी अशोभनीय लगती है क्योंकि उन्होंने स्वयं भी परमार्थ तथा व्यवहार की अपेक्षा से नाम रूपात्मक जगत् के मिथ्यात्व और सत्यत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है तथा उनके अनिर्वचनीयतावाद पर स्याद्वाद के प्रमुख अंगों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

विद्वानों ने स्याद्वाद की तुलना भर्तृप्रपश्च, नागार्जुन, हीगेल, काण्ट, ब्रैडले, स्पेन्सर, हेरेक्लाइप्स, ह्वाइटहेड प्रभृति दार्शनिकों के विचारों से कही है।[23] पर यह एक अन्य लेख का विषय है, अत: इसकी चर्चा यहाँ उचित नहीं है।

वैज्ञानिक सापेक्षवाद के संदर्भ में स्याद्वाद का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैज्ञानिकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि हम वस्तु के स्वरूप को एकान्तदृष्टि से नहीं, अपितु अनेकान्तदृष्टि से ही जान सकते हैं और विश्लेषण कर सकते हैं। विज्ञान की प्रयोगशाला में यह तथ्य सामने आया है कि वस्तु में अनेक धर्म और गुण भरे हुए हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाईन आदि ने विश्व में व्याप्त सापेक्षता के सिद्धान्त की खोज द्वारा एक छोटे-से परमाणु तक में अनंत शक्ति और गुणों का होना सिद्ध कर दिया है।[24] प्रोफेसर पी. सी. महाजनबीस ने स्याद्वाद की सप्तभंगी को सांख्यिकी (Statistics) सिद्धान्त के

आधार पर प्रस्तुत किया है।[25]

प्रस्तुत अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि स्याद्वाद वस्तु-धर्म विश्लेषण का व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त है, और अपनी इन विशेषताओं के कारण ही यह उत्कृष्ट एवं लोकप्रिय भारतीय चिंतन का प्रतिनिधित्व करता है।

---

1 उत्पादव्ययध्रौव्युक्तं सत् (तत्त्वार्थ, 5, 29)
2. अनेकान्तात्मकार्थं कथन स्याद्वाद: (आचार्य अकलङ्क; लघीयस्त्रय, 62)
3 मधुकर मुनि, अनेकान्तदर्शन, पृ 20
4 स च लिङन्त (तिङन्त) प्रतिरूपको निपात:। तस्यानेकान्तविधिचारादिषु, बहुएत्रर्थेषु सभवत्स, इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते। (तत्वार्थवार्तिक, 4, 42)
5 सियासद्दो णिवायन्तादो जदि वि अणेगेस, अत्थेस, वट्टदे, तो वि एत्थ कत्थ वि काले देसेत्ति एदेसु अत्थेसु, बट्टमाणो धन्तव्वो। (कसायपाहुड, भाग 9, पृष्ठ 360)
6 स्याद्वादो निश्चितार्थस्य अपेक्षित याथातथ्य वस्तुवादित्वाद। (तत्वार्थ वार्तिक 19)
7 स्वपरात्मोपादानापोहन व्यवस्थापाद्य हि वस्तुनो वस्तुत्वम् (तत्त्वार्थवार्तिक, 1 6)
8 मुनिनथमल, जैन न्याय का विकास, पृ 67
9 सूयगडो, 1 14.22
10 कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 281
11 भगवई 12, 43, 54
12 मुनि नथमल, जैन न्याय का विकास, पृ 68
13 सप्तभि: प्रकारैर्वचनविन्यास: सप्तभगी (स्याद्वाद-मञ्जरी)
14 मुनि नथमल, जैन न्याय का विकास, पृ 70
15 वही, पृष्ठ 70-71
16 यशोविजय, जैनतर्कभाषा, 19-20
17 तत्त्वसग्रह, 311-326
18 ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, 2 2 33
19 एकस्मिनवस्तुनि अस्तित्वानस्तित्वादेर्विरूद्धस्यच्छायातपवद्युगपदसभवात् (शारीरकभाष्य, 2 2 39)
20 S Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol I, P 304
21 स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावै: सत्त्वम् पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वस्त्वम्, तदा क्व विरोधावकाश: (स्याद्वाद मञ्जरी, पृ 176। तुलनीय, स्याद्वादमुक्तावली, 1 19-22)
22 मधुकरमुनि, अनेकान्तदर्शन, पृ. 25-26
23 TG Kalghatgi, Jaina View of Life, PP 23-32,
24 अनेकान्तदर्शन, पृ 27 तथा जैनान्याय का विकास, पृ. 72
25 अनेकान्तदर्शन, पृ. 29
26 जैनन्याय का विकास, पृ 75-77

कुलपति
राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

170 वर्ष पूर्व उत्तरी भारत में दिगम्बर जैन मुनियों का विहार

-अनूपचन्द न्यायतीर्थ

बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य 108 चारित्र चक्रवर्ती श्री शांति सागर जी, मुनिराज कहे जाते हैं जो उत्तरी भारत में पधारे थे-कहा जाता है कि इससे पहले कोई मुनिराज उत्तरी भारत में नहीं आये। विक्रम संवत् 1989 में 108 आचार्य शांतिसागरजी महाराज का ससंघ (सात मुनिराज, क्षुल्लक ऐलक आर्यिका माता जी ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणी बहिनें) चातुर्मास राजस्थान की गुलाबी नगरी जयपुर में हुआ था। उस समय मेरी आयु 10 वर्ष की थी-लोगों के मुख से सुना करता था कि इससे पहिले कोई दिगम्बर मुनिराज इधर नहीं आये। प्रथम बार आने वाले शांति सागर जी महाराज ही हैं।

इधर राजस्थान के दिगम्बर जैन ग्रंथ भण्डारों की, साहित्य शोधविभाग श्री महावीर जी (राज.) के माध्यम से सूची बनाते समय मुझे तथा मेरे परम मित्र एवं सहयोगी स्व. डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल को विक्रम संवत्-1889 की एक अधूरी काव्यकृति जिसमें एक सौ निन्यानवे (199) पद हैं प्राप्त हुई। प्राप्त रचना पद सं. 90 से प्रारंभ होती है-उससे पूर्व के 89 पद उपलब्ध नहीं हैं। प्राप्त रचना डा. कासलीवाल ने एक रजिस्टर में लिखी थी जिसे मैंने अलग से रजिस्टर से लिख लिया था। डा. साहब के स्वर्गवास के पश्चात् उनके संग्रहालय में वह रजिस्टर उपलब्ध नहीं हो रहा। मेरे द्वारा की गई अधूरी रचना की नकल के आधार पर यह तथ्यात्मक लेख प्रस्तुत है। यदि किन्हीं सज्जन के पास प्रारंभ के 89 पद्य उपलब्ध हों तो सूचित करने का कष्ट करें।

उक्त रचना वैशाखसुदी तीज (अक्षय तृतीया) संवत 1889 की है जिसे सांगानेर में संगही भवनदास की प्रेरणा से कथारूप में लिखी (चौपाई में) रचना ज्ञान झांझरी को भाषा रूप करने को दी गयी फिर इसे मयाराम ने काव्य

रूप में लिखा।

रचना संबंधी पद्य निम्न प्रकार है-

''संवत ठारासै निवासी अखतीज गुरुवार का दिन में
सांगानेरिसुथान मांहि संगही भवनदास धरि मन में।
ताका बलि सुकरी कथा या चौपई दुहा छंद अडिल में
मन थिरता सूं देखि वचनका करि धरी भाषा या तन में।। (1/198)''

ज्यो बंचो सो सोधि अक्षरकूं भूलि-चूकि सब माफि जथी ज्यो,
चीठी सौपी ज्ञान झांझरी ताकी छाया भाषा कीज्यो।
पुसपाम सु फूल बीच जो लेकरि अक्षर लगता धरिजे,
जसरथ सुत के आदि के दोउ मेलि नांव करता को लीजो।

रचनाकार ने अपना नाम अंतिम दो पंक्तियों में दिया है- पुष्पों में से फूल का बीच का अक्षर कमल, आगे अक्षर ''या'' जसरथसुत-राम। मयाराम-रचनाकार

रचना की प्रतिलिपि सं. 1890 में चम्पाराम छाबड़ा ने की

''इति श्री मुनिराजा की कथा संपूर्ण।। मिती ज्येठसुदी 14 दीतवार संवत् 1890 चम्पाराम छाबड़ा जो बाचोजीन पंथा जुक्त वंचिज्यो''

रचना ढूंढारी भाषा में है-दोहा, ढाल, चौपाई अडिल्ल आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। उक्त रचना के दोहा सं. 90 से प्रतीत होता है कि मुनिगण संध्या समय सामायिक में बैठे हैं-श्रद्धालुओं को उनके आने की सूचना मिली तो रात्रि को ही दर्शनार्थ पहुंच गये तथा विनती पाठ पढ़ कर आ गये।

दूसरे दिन माघ शु. 6 मंगलवार को प्रात: दो घड़ी दिन चढ़ने के पश्चात् सामायिक से उठकर जनता को दर्शन दिये, जनता को धर्मोपदेश दिया।

मुनिराज जयपुर में सूरजपोल दरवाजे बाहर (गलतारोड) मोहनबाड़ी में विराजे थे। आहार की बेला होने पर नगर में आहार लेने आये।

मुनिराज जयपुर में कहाँ से आये यह सूचना उपलब्ध नहीं है।

संघ में दो मुनिराज वृषभसेन तथ बाहुबलि जी थे। वृषभसेन मुनिराज का आहार बैद संगही हीरालाल के यहां तथा बाहुबलि मुनिराज का आहार-घासीराम खिन्दूका के यहाँ हुआ। दोनों ही समाज के प्रमुख व्यक्ति थे।

''बखत हुई जब आहार की जयपुर मांही आय,
बैद संगही हीरालाल के वृषभसेन मुनि पाय''।। 97 ।।

खिन्दूका घासीराम के पूर्वे कही जिहिं चाल
बाहुबलजी लेयके कर-पातर में ग्रासा।। 98 ।।

आहार लेकर दोनों मुनिराज रामगंज की चौपड (कुण्ड) पर होकर रास्ते में दिगम्बर जैन मन्दिर पाटनियां (ढूढियों) के दर्शन करते हुए वापस मोहन बाड़ी गये। दिन में जनता को धर्मापदेश दिया तथा संध्या की सामायिक में बैठ गये।

दूसरे दिन माघ शु. 7 बुधवार को प्रात: धर्मोपदेश देकर आहार के निमित्त जयपुर नगर में आये तथा श्योलालजी बख्शी के वृषभसेन जी तथा सरुपचन्द[1] खिन्दूका (पाटनी) के यहाँ बाहुबलि मुनिराज का आहार हुआ।

आहार के पश्चात् जयपुर नगर के सबसे प्राचीन एवं प्रसिद्ध गंगापोल दरवाजे से होकर बास बदनपुरा की प्रसिद्ध जैन नसिया गये। संवत् 1880 से 1890 के बीच निर्मित्त संगही जी की नसियां, हुकमचन्द बज की नसियां तथा नन्दलाल (छाबड़ा) झालरावाली नसियां के दर्शन किये धर्मोपदेश दिया तथा वहां से बिहार कर मानसागर बांध (जलमहल) की पाल से बांध की घाटी से पन्नामियां की सराय होकर आमेर के बाहर दिगम्बर जैन नसियां कार्तिस्तम्भ पहुँचे। यहां आमेर गद्दी के भट्टारकों की समाधियां तथा विं सं. 4 से लेकर 1882 तक के मूलसंघ के भट्टारकों का ऐतिहासिक स्तंभ है।

समाज के सुप्रतिष्ठित व्यक्ति श्री विरधीचन्द संगही मालावत नसिया दर्शनार्थ गये तथा सम्मान पूर्वक आमेर नगर में मंगल प्रवेश कराया।

जयपुर से पूर्व आमेर राजधानी थी।

मुनिराज ससंघ आमेर में हीरालाल संगही की विख्यात हवेली पर आये और उसे मन्दिर समझ कर पैर धोकर अंदर प्रवेश किया। संध्या हो चली थी अतः मुनिराज वहीं सामायिक में बैठ गये। प्रातः वहां से उठकर मन्दिर जाकर दर्शन किये। 1008 भगवान नेमिनाथ-श्यामप्रभु (सांवला जी) के दर्शनकर अति प्रसन्न मुनिराजों ने वहीं सामायिक की।

नोट - ''आमेर में सांवलाजी के मन्दिर के पहिले मार्ग में संगही हीरालाल जी की हवेली आज भी विद्यमान है, जिसके सामने तीन उत्तुंग शिखर वाला दिगम्बर जैन मन्दिर संगही जी का है जिसमें व्यास की गरदी में शिव पिंडी पधरा कर भ्रष्ट किया गया है। अब यह मन्दिर पुरातत्त्व विभाग की संपत्ति है।''

विरधीचन्द संगही ने हवेली में चौका लगाया तथा जयपुर से एक जैन-अग्रवाल बंधु ने भी पहुंच कर चौका लगाया। अग्रवाल बंधु ने मुनिराज को आहार देकर ही अन्न-जल ग्रहण करने की प्रतिज्ञा ले रखी थी।

मुनिराज शुद्धि करके जिनप्रतिमा के चरण स्पर्श कर आहार के लिये निकले तो विरधीचन्द संगही ने सरपर कलश रखकर पड़गाहा तथा नवधा भक्ति पूर्वक वृषभसेन मुनिराज को आहार कराया। बाहुबलि मुनिराज का आहार भी निरंतराय अग्रवाल बंधु के यहां हुआ।

मुनिराज आहार लेकर बाहर निकले तो अपार दर्शनार्थियों की भीड़ थी। दर्शन देकर अंबावती (आमेर) ग्राम की ओर बिहार किया। साईवाड़ पहुंचकर सामायिक की तथा साथ में जा रहे जन समूह को वापस जाने को कहा।

मिती माघ शुक्ला नवमी शुक्रवार को प्रातः सामायिक से उठकर लोगों को दर्शन दिये। साईवाड़ ग्रामवासियों ने मुनिराज के दर्शन कर मंगल-गीत पद विनती आदि गाये। मुनिराज का सभी ने प्रवचन सुना।

साईवाड़ में मुनियों को आहार देने के लिये भवानीराम चौधरी सपत्नी पहुँचे। पत्नी चौधरायण ने मुनियों को आहार देकर अन्नजल ग्रहण करने की

प्रतिज्ञा ले रखी थी। उसने नवधा भक्ति पूर्वक मुनिराज वृषभसेन को आहार दिया।

साईवाड़ के श्रावकों ने दूसरे मुनिराज बाहुबलि को नवधा भक्ति पूर्वक आहार दिया तथा उनसे कोई आखड़ी-प्रतिज्ञा देने को कहा। मुनिराज ने कहा था कि सब जीवों के प्रति दया भाव रखो।

मुनिसंघ की भावना तीर्थराज सम्मेद-शिखरजी को जाने की थी अत: साईवाड़ से बिहार कर आगे बढ़े। साईवाड़ के श्रावक दूर तक छोड़ने गये।

साईवाड़ आमेर से नाहटा होकर 9 कि.मी. दूर है। यहां सं. 1748 में दीवान रामचन्द्र छावड़ा द्वारा निर्मित शिखर बंद मन्दिर है। यहां कासलीवाल एवं गोधा गोत्री परिवार हैं।

मुनिराज अनेक गांवो में विहार करते हुए निकले जहां जैनों के घर तथा मन्दिर आये वहां नवधा भक्ति पूर्वक आहार की व्यवस्था हो जाती तथा जहां व्यवस्था नहीं होती मुनिराज उपवास रखते।

मुनि संघ की आहार की व्यवस्था के लिये कर्णाटक देश के पंचो ने व्यवस्था की उन्होंने संतीलाल उसकी पत्नी तथा एक ब्राह्मण एवं एक व्यास को खर्चा देकर, दो टट्टु सामान रखने को साथ में दिये तथा उनसे कह दिया कि तुम लोग जहां कहीं श्रावक चौके की व्यवस्था नहीं कर सके वहां मुनिराज के आहार की व्यवस्था करो-इनके साथ तुम भी सम्मेद-शिखरजी की यात्रा कर लेना।

''कर्णाटक के देस के, पंच किया छै साथ।
खरची सोंपी खरचकूं, राखो थांकै हाथ''
संतीलाल फुनि भारिज्या, विरामण, व्यास जु दोय
भेष धारि बाई मिले, टटु ल्याये दोय''
जीठै श्रावक नै, करैं आहार गुरु काज।
सांतरि सारी थे करो, पुड़गाहो मुनिराज''

थे भी तीरथ ढोकि ज्यो, ठेठ शिखरजी जाय।
ज्यांका पुन्य प्रभाव सूं सुख संपदा पाय।।'' (137-140)

संतीलाल के कथनानुसार वृषभसेन मुनिराज तो गृहस्थ अवस्था में व्रतादि करके मुनि बने थे, वे जैन जाति के थे और बाहुबलि मुनिराज जाति से राजपूत थे तथा 40 वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी। वृषभसेन मुनिराज की आयु उस समय 65 वर्ष की थी अर्थात् उन्होंने 42 वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी। बाहुबलि मुनिराज ने 28 वर्ष की आयु में दीक्षा ली।

विहार करते हुए संघ मथुरा पहुँचा, वहां एक मुनिराज और मिल गये अत: वहां तीन मुनि हो गये।

संघ हाड़ोती प्रदेश (कोटा-बूंदी)के सुनारा गांव में आया-वहां की जैन समाज ने श्रद्धापूर्वक चातुर्मास संपन्न कराया। चातुर्मास समाप्त कर दोनों मुनि पुन: मथुरा आ गये।

मथुरा के समीप 'उवरा' गांव निवासी एक लालचन्द जैन, जो पैंतीस वर्ष का युवक था, उसने मुनिराज की शांत मुद्रा देख मुनि दीक्षा लेनी चाही। उसने मुनिराज के समक्ष णमोकार महामंत्र पढ़कर सारे वस्त्र उतार दिये और मुनि दीक्षा देने की प्रार्थना की तथा संघ के साथ सम्मेद-शिखर भी जाने की बात कही।

मुनि वृषभसेन जी ने कहा-तुम पहले गिरनारजी क्षेत्र की वंदना करके आओ-यह पंचम काल है व्रतों की पूरी पकाई के पश्चात् ही दीक्षा योग्य है।

मुनिराज वृषभसेन जी ने यह भी कहा कि तुम गिरनार क्षेत्र से लौटकर आओ-यदि हम जीवित रहे तो अपना पुन: मिलन हो जाएगा तब आपकी दीक्षा होगी-

''मेह भी ख़िच्या आवस्या, रहसी तो परजाय।
समागम सबको मिले, जब दिष्या पाय।।'' 163

यह सुनकर स्वयं दीक्षित लालचन्द ने गुरुओं को नमस्कार कर मथुरा से

विहार किया तथा अपना नाम मुनि बलभद्र घोषित कर दिया।

बलभद्र मुनिराज तीर्थराज सम्मेद शिखर की यात्रा का दृढ़ भाव लेकर पहिले गिरनार क्षेत्र की यात्रा पर रवाना हुए और पद विहार करते हुए अलवर नगर में आये। वहां उन पर राज्य के सेवकों की ओर से घोर उपसर्ग किया गया-उन्हें नग्न देख लोगो ने पागल (बावला) कह दिया-तीन दिन ताले में बंद रखा, किंतु उपसर्ग सहन किया-उफ तक नहीं की-ध्यानारूढ़ रहे तथा मन में सोचते रहे कि स्वर्ण तपाने पर ही कुन्दन बनता है। इस संदर्भ में निम्न पद देखिये-

''बलभदर जी चालिके, आये अलवर सहर।
त्यां के ऊपरिराज का अतिबरसायो कहर।। 199।।
कर चाकरी राज की, सहलवार की जात।
दुख दीनू मुनिराज कूं दिनातीन पुनिरात।। 197।।
अज्ञानी मूरखि कही, नागतणा को होय।
चलि आयो ई सहर में तीसु उपसर्ग होय।। 198।।
जानि बावलो अति दुख दिये कपडा ल्याकर पहराय।
इसी भांतिदुख भुगत्या गुरां, करता सुं सब कहें सुनाय।।
यां के तो कुछ खात्तिर नहि उपसर्ग के सामो जाय
सोनु तप्यासुं सुध होंय, ताब सह्या सुं कुन्दन होय।।

मुनिराज की तपस्या के पुण्य प्रभाव से किसी देव की छाया उनके शरीर में प्रवेश की तथा सारा उपसर्ग दूर किया-अलवर के सब पंच लोग मुनिराज के पैरों में पड़े।

तपस्वी शिरोमणि ऐसे गुरु पर उपसर्ग होने के कारण प्रायश्चित्त स्वरूप चन्द्रायण व्रत किया गया।

अलवर से विहार कर मुनि बलभद्र जी ने राजस्थान में प्रवेश किया। (संभवत: उस समय अलवर राजस्थान में नहीं हो) उनके हृदय में राजस्थान (जयपुर) के मन्दिरों के दर्शन की तीव्र इच्छा थी।

विहार करते हुए मुनिराज ने चैत्र कृष्णा दशमी को आमेर में प्रवेश किया, जिसकी सूचना सायंकाल तक जयपुर नगर में पहुँच गई। मुनिराज ने आमेर के मन्दिरों के दर्शन किये।

जयपुर के तत्कालीन प्रमुख समाज सेवी श्री हरचन्दसाह अन्य लोगों के साथ मुनिराज को लेने आमेर पहुँचे और वहां से लाकर राणा जी की छत्रियों के सामने नसियां में ठहराया, जहां जयपुर से दर्शनार्थी आये और धर्म लाभ लिया।

चैत्र कृ. 11 मंगलवार को जयपुर में हरचन्द साह के यहां आहार लेकर मुनि श्री नसियां वापस आ गये जहां धर्मोपदेश हुआ तथा चर्चा हुई।

चैत्र कृ. दूसरी ग्यारस(11) बुधवार को तनसुख पांडे के यहां आहार हुआ तथा मन्दिर के दर्शन किये। अन्य लोगों ने भी भक्ति पूर्वक दर्शन वंदना की तथा यह देखकर आश्चर्य चकित रह गये कि इस पंचम काल में भी ऐसे महान तपस्वी मुनिराज बिरले ही हैं। उपसर्ग की चर्चा सुनकर तो लोगों में और भी श्रद्धा बढ़ी।

''देख छबि मुनिराज की, उछव मन में जोय।
ऐसे पंचम काल में, बिरले मुनिवर होय।। 180।।

चैत्र बदी 12 गुरुवार को सामायिक से उठे धर्मोपदेश दिया तथा आहार की बेला होने पर दर्शनाथी उठकर आ गये। मुनिराज आहार चर्या की मुद्रा में नगर की ओर आये तो पंन्नालाल बड़जात्या ने मुनिराज को पड़गाहा तथा नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया।

चैत्र कृष्णा 13 को मोहनलाल काला के यहाँ आहार लेकर नसियां वापस आये। दूसरे दिन चैत्र कृष्णा चतुर्दशी शनिवार को जयपुर के प्रसिद्ध दीवान अमरचंद जी पाटनी के यहां आहार हुआ। दीवान जी के मन्दिर में दर्शन किये-वहां रचना देखी तथा चतुर्दशी को होने वाली मण्डल पूजा सुनी, ताण्डव-नृत्य देखा भजन आदि सुने। दीवान अमरचन्द जी का मन्दिर जयपुर

के लालजी साँड़ के रास्ते में है, जहां 1008 भगवान चन्द्र प्रभ की श्वेत पाषाण की विशाल पद्मासन प्रतिमा सं. 1883 में दीवान अमरचन्द द्वारा प्रतिष्ठापित है।

चैत्र कृष्णा अमावस्या को मुनिश्री ने जयपुर से विहार किया-श्रद्धालुजन अजमेर रोड स्थित नाटाणी के बाड़ा तक गये-वहां से महाराज ने भक्तों को वापस भेजा।

''नाटाण्यां का बागसूं दई पंचानै सीख
दया भाव तुम राखज्यो, मात्र जीव पर ठीक'' ।। 189 ।।

नोट - जयपुर रियासत के समय राज्य के प्रमुख दीवान मुख्यमंत्री आदि इस बाग में ही निवास करते थे। यहां आरतराम सोनी ने नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया।

108 मुनि श्री बलभद्र जी महाराज नाटाणी के बाग से प्रस्थान कर, गिरनार क्षेत्र की यात्रार्थ आगे बढ़े-क्रमशः गिरनार जी की यात्रा की। अपनी प्रतिज्ञानुसार मुनि श्री ने शिखर जी के लिये प्रस्थान किया और मार्ग में चम्पापुर, पावापुर आदि क्षेत्रों की यात्रा करते हुए सम्मेद शिखर पहुँचे, जहां तीनों मुनिराज एकत्र हो गये-वृषभसेन जी, बाहुबलि जी तथा बलभद्र जी

''गांव बावडा पहुँच के क्रोध दाविल्यो ग्यान।
ईठासूं व गुरु गये, सामायिक धरि ध्यान।। 152
बलिभदर मुनिराज की कही बोध की बान।
नेमनाथ गिरनारजी, जाढो की करिजात।। 153
पांवापुर चंपापुरी बिचि बिचि तीरथ ओर।
ढेठि शिखरजी पोंचसी तीनमुन्या की जोड।। 154

अंत में अष्ट द्रव्य की पूजा का महत्व बताते हुए रचना को समाप्त किया है।

उपसंहार

उक्त रचना के प्रारंभिक पद नहीं होने से यह तो ज्ञात नहीं होता है कि

उक्त दो मुनिराज वृषभसेन एवं बाहुबलि जयपुर में मोहनबाड़ी में कहां से विहार करते हुए आये, किंतु रचना के ऐतिहासिक होने में कोई संदेह प्रतीत नहीं होता। रचना में जयपुर के तत्कालीन विभिन्न पुरुषों, जैन दीवानों का तिथिवार महत्त्वपूर्ण उल्लेख है, जो तथ्यात्मक है। रचना से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था, मुनियों के प्रति श्रद्धा, आगमानुसार मुनिचर्या स्वयं दीक्षित हो जाना, तीर्थ यात्राओं के प्रति रुझान, मुनियो की आज्ञा का पालन, आहार के पूर्व शुद्धि करना, मार्ग में भोजन आदि की व्यवस्था के लिये संघ में परिग्रह साथ रहना, अजैनों द्वारा जिन दीक्षा लेना, अलवर में नग्न मुनि पर उपसर्ग होना तथा मुनिराज को तीन दिन ताले में बंद रखना, जयपुर, आमेर, साईवाड़, मथुरा, सुनारा, उवरा आदि ग्रामों की जानकारी तथा साधुओं के प्रति अटूट श्रद्धा का पता चलता है।

यदि ऐसी रचनाएँ और भी मिलें तो प्रकाश में लाने की महती आवश्यकता है।

नोट - रचना में जयपुर के सं. 1880 से 1890 के बीच में होने वाले विशिष्ट व्यक्ति वैद हीरालाल संगही, स्वरूप चन्द पाटनी, बिरधीचन्द संघी मालावत, अमरचन्द दीवान, आरतराम सोनी, प्रमुख नगर आमेर सांगानेर जयपुर तथा प्रसिद्ध नाटाणी के बाग का उल्लेख आदि प्रामाणिक तथ्य हैं।

1 हल्दियो के रास्ते मे ऊँचा कुआ के सामने श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मदिर को दरोगा सरूपचन्द पाटनी खिन्दूका ने स 1888 मे बनवाया था।

769-गोदीकों का रास्ता
किशनपोल बाजार जयपुर-302003

श्रमण परम्परा के वंदनीय साधक और उनके मध्य सम्बन्ध : एक समीक्षा

-डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

विश्व के समस्त धर्म-दर्शनों में जैन दर्शन ही समस्त जीवात्माओं को स्वभाव से वीतराग, सर्वज्ञ एवं परम आनंद रूप बताकर उसकी प्राप्ति का मार्ग बताता है। दु:ख के जनक हैं-कुज्ञान, कषाय, कंचन और कामिनी की अभिलाषा, इसे ही पर-समय कहा है। आनंद प्राप्ति का मार्ग है आत्मज्ञानपूर्वक कषाय, कंचन, कामिनी का परित्याग एवं शुद्धोपयोग रूप आत्मध्यान, यही स्व-समय है। इसी कारण मुक्ति का आराधक साधु परिग्रह और स्त्री का त्यागी होता ही है। (मूलाचार-1008)।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने जैनदर्शन में मात्र तीन भेष-लिंग स्वीकार किये हैं-पहला जिनभेष रूप साधु, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) एवं तीसरा जघन्य पद में स्थित आर्यिका। जिनमत में चौथा भेष नहीं है (दर्शनपाहुड गाथा-18)।

1: वंदनयोग्य साधु :

जो पांच महाव्रत, तीन गुप्ति एवं संयम को धारण करते हैं तथा अंतर-बाह्य परिग्रह से रहित हैं वे वंदने योग्य साधु हैं। यही निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है। अत्यल्प परिग्रह रखने वाला महाव्रती और संयमी नहीं हो सकता। वह तो गृहस्थ के समान भी नहीं है (सूत्रपाहुड-गाथा 20), अत्यल्प परिग्रह ग्रहण करने वाले साधु निगोदगामी निंदायोग्य और अवंदनीय होते हैं (सू. पा. गा. 18-19)।

आचार्य वट्टकेर के अनुसार साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और शक्ति को अच्छी तरह समझकर भली प्रकार ध्यान, अध्ययन और चारित्र का आचरण करते हैं (मूलाचार 1007)। ज्ञान-विज्ञान से समपन्न और ध्यान, अध्ययन तप से युक्त तथा कषाय और गर्व से रहित मुनि शीघ्र ही संसार को पार कर लेते

हैं (मूला. गाथा 970)। विनयसहित मुनि स्वाध्याय करते हुये पंचेन्द्रियों को संकुचित कर तीन गुप्ति युक्त एकाग्रमना हो जाते हैं। गणधरदेवादि ने कहा कि अंतरंग-बहिरंग बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान तप कर्म न हैं और न होगा ही। स्वाध्याय ही परम तप है (मूला. गा. 971-972)। जिस प्रकार धागा सहित सुई नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार आगम ज्ञान सहित साधु प्रमाद दोष से भी नष्ट नहीं होता (मूला. 973)। आगमहीन आचार्य अपने को और दूसरों को भी नष्ट करता है (मूला. 965)। साधु समभाव वाले होते हैं। शत्रु-मित्र, निंदा-प्रशंसा, लाभ-अलाभ और तृण-कंचन में उनका समभाव होता है (बोधपाहुड गाथा 49)। ऐसे विरक्त, निर्ममत्व, निरारम्भी, संयम, समिति, ध्यान एवं समाधि से युक्त ऋषि ही एक भवावतारी लौकान्तिक देव होते हैं (ति. प. महाधिकार आठ-गा0 669-674)।

2: ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक :

जिनमत में दूसरा भेष ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक का होता है। इनके पास एक वस्त्र या कोपीन होता है। पात्र या कर-पात्र में भिक्षा-भोजन करते हैं। मौन या समिति वचन बोलते हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान संयुक्त हैं। ऐसे उत्कृष्ट श्रावक ऐलक-छुल्लक "इच्छाकार" करने योग्य हैं। "इच्छामि" या इच्छाकार का अर्थ अपने आपको अर्थात् आत्मा को चाहना है (सूत्र पा. गा. 21,13-15), जिसे आत्म इष्ट नहीं उसे सिद्धि नहीं, अत: हे भव्य जीवो! आत्मा की श्रद्धा करो, इसका श्रद्धान करो और मन-वचन-काय से स्वरूप में रुचिकर, मोक्ष प्राप्त करो (सूत्रपा. 16)।

3: आर्यिका-नारीभेष :

जिनमत का तीसरा जघन्य पद नारी का आर्यिका भेष है। आर्यिका एक वस्त्र धारण करती है और सवस्त्र दिन में एक बार भोजन करती है। छुल्लिका दो वस्त्र रखती है (सूत्रपा. गा. 22)। जिनमत में नग्नपना ही मोक्ष-मार्ग है। वस्त्र धारण करने वाले मुक्त नहीं होते। नारी के अंगों में सूक्ष्म-काय, अगोचर त्रस जीवों की उत्पत्ति होते रहने के कारण वे दीक्षा के अयोग्य हैं। चित्त की चंचलता के कारण उन्हें आत्मध्यान नहीं होता फिर भी जिन-मत की श्रद्धा से

शुद्ध होने से मोक्षमार्गी हैं और घोर चारित्र/तीव्र तपश्चरण के कारण पापरहित हैं जिससे स्वर्गादिक प्राप्त करतीं हैं (सूत्रपा. गा. 24-26)।

यद्यपि आर्यिका का पंचम गुणस्थान (देश-विरत) होता है, फिर भी साधुओं के समान उनका आचार होता है। मात्र वे वृक्ष-मूल योग, आतापन योग, प्रतिमायोग, वर्षायोग तथा एकान्तवास आदि नहीं करती (मूलाचार गा. 157) इस कारण वे उपचार से महाव्रती कहीं जाती हैं। वे निरन्तर पढ़ने, पाठ करने, सुनने, कहने और अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन में तथा तप, विनय और संयम में नित्य ही उद्यम करती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं (मूलावार 189)। ''वंदामि'' शब्द से उनकी विनय की जाती है।

साधु आर्यिका कितने दूर-कितने पास :

साधु और आर्यिका दोनों यद्यपि वीतराग-मार्ग के पथिक हैं फिर भी काम-स्वभाव की दृष्टि से एक घी और दूसरा अग्नि के समान है। अत: इनके मध्य कितनी निकटता और कितनी दूरी हो इसका विशद वर्णन आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में और आचार्य शिवकोटि ने भगवती आराधना में किया है, जिसका संक्षिप्त सार निम्न प्रकार है :-

आचार्य एवं साधु से क्रमशः पांच और सात हाथ दूरी से वंदना

पंच-छः सत्त हत्थेसूरी अज्झावगो य साघू य
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति (मूला. 195)

अर्थ - आर्यिकाएं आचार्य को पांच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से ओर साधु को सात हाथ से दूर रहकर गवासन मुद्रा में ही वंदना करती हैं। स्पष्ट हे कि साधुओं को नारी/नारीवर्ग से सात हाथ की दूरी बनाये रखना चाहिये।

एकान्त मिलन एवं वार्ता का निषेध

अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्वं तधेव एक्केण
ताहिं पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण।
तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु
गणिणी पुरओ किच्चा जादि पुच्छइ तो कहेदव्वं। (मूला. गा. 177-178)

अर्थ - आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिये। इसी प्रकार उनके साथ बिना प्रयोजन वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये। इनमें से यदि अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो अकेला मुनि उत्तर नहीं दे। यदि गणिनी को आगे करके वह प्रश्न पूंछती है तभी उसका उत्तर देना चाहिये। तात्पर्य यह कि साधु-आर्यिका असमय में और अकेले में न तो मिले और न ही प्रयोजनहीन चर्चा करे।

तरुण-तरुणी के वार्ता का दुष्परिणाम

तरुणो तरुणीए सह कहा वसल्लावणं च जदि कुज्जा
आणाकोवादी या पंचवि दोसा कदा तेण।। (मूला. 179)

अर्थ - तरुण मुनि तरुणी के साथ यदि कथा या वार्तालाप करता है तो उस मुनि ने आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्व-आराधना, आत्मनाश और संयम विराधना इन पांच दोषों को किया है, ऐसा समझना चाहिये। इसका परिणाम सर्वनाश ही है।

आर्यिकाओं के आवास में मुनिचर्या का निषेध और उसके परिणाम

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चिट्ठेदुं
तत्थ णिसेज्जउवट्ट ण सज्झायाहारभिक्खवोसरणे। (मूला. 180)

अर्थ - आर्यिकाओं के निवास स्थल (वसतिका) में मुनियों का रहना और वहां पर बैठना, लेटना, स्वाध्याय आहार, भिक्षा व कोयोत्सर्ग करना युक्त नहीं है। स्पष्ट है कि आर्यिकाओं के निवासस्थल पर मुनियों का निवास निषिद्ध है।

मूलाचार के समयसाराधिकार के क्षेत्र शुद्धि की गाथा क्रमांक 54 में पुन: उक्त तथ्य की पुष्टि की है। यह गाथा उक्त गाथा 180 के प्राय: समान ही है और गाथा क्रमांक 952 में निर्देशित किया है कि धीर मुनि पर्वतों की कन्दरा, श्मशान, शून्य मकान और वृक्षों के नीचे आवास करें।

आर्यिका-मुनि सहवास का दुष्परिणाम

मूलाचार की गाथा 181 एवं 182 में आर्यिकाओं और मुनियों के संसर्ग

का दुष्परिणाम दर्शाया है जो इस प्रकार है-

"काम से मलिनचित्त श्रमण, स्थविर, चिरदीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी को भी नहीं गिनता है, कुल का विनाश कर देता है (गाथा 181)। वह मुनि कन्या, विधवा, रानी, स्वेच्छाचारिणी तथा तपस्विनी महिला का आश्रय लेता हुआ तत्काल ही उसमें अपवाद को प्राप्त होता है (गाथा 182)।

भगवती आराधना की गाथा 341 (देहलीप्रकाशन) दिशाबोधक है-

खेलपडिद मप्पाणं ण तरदि जह माच्छिया विभोचेदुं
अज्जाणचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं (241 भ. आ.)

अर्थ - जैसे मनुष्य के कफ में पड़ी मक्खी उससे निकलने में असमर्थ होती है वैसे ही आर्यिका के साथ परिचय किया मुनि छुटकारा नहीं पा सकता।

आर्यिकाओं की दीक्षा-आचार्य के गुण :

जो गम्भीर हैं, स्थिर चित्त हैं, मित बोलते हैं, अल्प कौतुकी हैं, चिरदीक्षित हैं और तत्वों के ज्ञाता हैं ऐसे मुनि आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं। इन गुणों से रहित आचार्य से चार काल अर्थात् दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण और आत्मसंस्कार की विराधना होती है और संघ (गच्छ) का विनाश हो जाता है (मूला. 184-185)। इस दृष्टि से योग्य आचार्य से ही नारियों को दीक्षा लेना उचित है।

आर्यिकाओं का आवास कैसा हो, वे कहां और कैसे जावें :

आर्यिकाओं के उपाश्रय या आवास के सम्बन्ध मे मूलाचार में स्पष्ट निर्देश है, जो इस प्रकार है :-

जो गृहस्थों से मिश्रित न हो, जिसमें चोर आदि का आना-जाना न हो और जो विशुद्ध संचरण अर्थात् जो मल विसर्जन गमनागमन एवं शास्त्र स्वाध्याय आदि के योग्य हो, ऐसे आवास (वसतिका) में दो या तीन या बहुत सी आर्यिकायें एक साथ रहती हैं (गाथा 191)। आर्यिकाओं को बिना कार्य के पर-गृह नहीं जाना चाहिये और अवश्य जाने योग्य कार्य में गणिनी से पूछकर साथ में मिलकर ही

जाना चाहिये (गा. 192)। आर्यिकाओं को रोना, नहलाना, खिलाना, भोजन पकाना, सूत कातना, छह प्रकार का आरम्भ, यतियों के पैर मालिश करना, धोना और गीत गाना आदि कार्य नहीं करना चाहिये (गाथा 193)।

आहार हेतु तीन या पांच या सात आर्यिकाएं आपस में रक्षा करती हुई वृद्धा आर्यिकाओं के साथ मिलकर उनका हमेशा आहार को निकलना युक्त है (गा. 194)।

मुनि-आर्यिका के संसर्ग-निषेध का कारण/दर्शन :

मूलाचार में मुनि-आर्यिका एवं अन्य नारियों के संसर्ग का निषेध कर उसका कारण/दर्शन भी व्यक्त किया है, जिसको समझना आवश्यक है। कारण को जाने बिना निर्णय समीचीन नहीं होता।

यह जीव धन, जीवन, रसना-इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के निमित्त से हमेशा अनंत बार स्वयं मरता है और अन्यों को भी मारता है (989)। चार-चार अंगुल की जिह्वा और कामेन्द्रिय अशुभ है और इनसे जीव निश्चित रूप से दु:ख प्राप्त करता है (गा. 994)। अत: हे मुनि, तुम इसी समय इस रसनाइन्द्रिय और काम-इन्द्रिय को जीतो (गा. 990)। काठ (लेप, चित्र आदि कलाकृति) में बने हुये स्त्री रूप से भी हमेशा डरना चाहिये क्योंकि इनसे जीव के मन में क्षोभ हो जाता है (गा. 992)। पुरुष घी के भरे हुये घट जैसा है और स्त्री जलती हुई अग्नि जैसी है। स्त्रियों के समीप हुये पुरुष नष्ट हो गये हैं तथा इनसे विरक्त पुरुष मोक्ष को प्राप्त हुये हैं (गा. 993)।

माता, बहिन, पुत्री, मूक व वृद्ध स्त्रियों से भी नित्य ही डरना चाहिये क्योंकि स्त्री रूप में सभी स्त्रियां अग्नि के समान सर्वत्र जलातीं हैं (गा. 998)। हाथ पैर से लूलीं-लंगड़ीं, कान-नाक से हीन तथा वस्त्ररहित स्त्रियों से भी दूर रहना चाहिये (गा. 995)।

ब्रह्मचर्य मन-वचन-काय की अपेक्षा तीन प्रकार का है तथा द्रव्य भाव के भेद से दो प्रकार का है (गा. 996)। भाव से विरत मनुष्य ही विरत है। केवल द्रव्य विरत से मुक्ति नहीं होती। इसलिये पंचन्द्रिय के विषयों में रमण करने वाले मन को वश में करना चाहिये (गा. 997)। अब्रह्म के दश भेद हैं

अत्यधिक भोजन करना, स्नान-तेल मर्दन आदि शरीर संस्कार, केशर-कस्तूरी गन्ध माला, गीत और वाद्य सुनना, कोमल गद्दे एवं कामोद्रेकपूर्ण एकान्त स्थल में रहना, स्त्री-संसर्ग, सुवर्ण वस्त्र आदि धनसंग्रह, पूर्वरति-स्मरण, पंचेन्द्रियों के विषयों में अनुराग तथा पौष्टिक रसों का सेवन (गा. 990-999)। जो महात्मा पुरुष महादु:खों के निवारण हेतु इन दश प्रकार के अब्रह्म का परिहार करता है वह दृढ़ ब्रह्मचारी होता है (गा. 1000)।

भगवती आराधना में गाथा 1092 से 1113 तक स्त्री-पुरुष संसर्ग का निषेध किया है जो पठनीय और माननीय है।

आगमानुसार आचरण करने का सुफल :

मूलाचार ग्रन्थ के समाचाराधिकार का उपसंहार करते हुये आचार्य वट्टकेर घोषणा करते हैं कि उपर्युक्त विधान रूप चर्या का जो साधु और आर्यिकायें आचरण करते हैं वे जगत् से पूजा, यश और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं (गा. 196)। प्रकारान्तर से उक्त विधान की अवज्ञा-अवमानना से अपयश, दु:ख और संसार-भ्रमण होता है जो विचारणीय है। परिग्रह और स्त्री-त्याग करके साधु शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है (गा. 108)।

मुनिभेष में अब्रह्म सेवन एवं स्त्री-संसर्ग का दुष्फल :

अब्रह्म सेवन के फल से सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द कृत लिंगपाहुड की गाथा 7 उल्लेखनीय है जो इस प्रकार है :-

पाओपहदभावो सेवदि य अबंभु लिंगरूवेण
सो पाव मोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे (लिंग पा. 7)

अर्थ - जिस मुनि का पाप से आ मभाव घात हो गया है ऐसा पाप-मोहित बुद्धि वाला मुनि-रूप में अब्रह्म (भोग-विलास) का सेवन करता है, जिससे वह संसार रूपी कांतार-वन में भ्रमण करता है।

जिन-दीक्षा लेकर जो मुनि स्त्रियों के समूह के प्रति राग-प्रीति करता है, निर्दोषों में दोष लगाता है वह ज्ञान-दर्शन रहित है। ऐसा मुनि पशु, समान

अज्ञानी है, श्रमण नहीं (लिं. पा. 17)। जो मुनि स्त्रियों के समूह में उनका विश्वास करके और उनको विश्वास उत्पन्न कराके दर्शन-ज्ञान-चारित्र को देता है, उनको सम्यक्त्व बताता है, पढ़ना-पढ़ाना, ज्ञान-दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है, इस प्रकार विश्वास उत्पन्न कर प्रवर्तता है वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निकृष्ट है प्रगट भाव से विनष्ट है, श्रमण नहीं है (लिंग पा. गा. 20)। जो जिन मुद्रा धारण कर व्यभिचारणी स्त्री के घर आहार कराता है, स्तुति करता है वह अज्ञानी है, धर्म से भ्रष्ट है, श्रमण नहीं है (लिंग. पा. गा. 21) पुनश्च जो साधु-गृहस्थों के विवाहादिक कराता है, कृषि-व्यापार एवं जीवघात आदि पाप कार्य करता है, चोरी-झूठ-युद्ध-विवाद करता है,, शतरंज-पासा आदि खेलता है वह नरकगामी होता है (लि. पा. गा. 9/10)।

उपसंहार :

जिनेन्द्र भगवान् का वीतराग मार्ग विशिष्ट मार्ग है। अंतरंग में जिनदर्शन रूप आत्म-श्रद्धान-आत्मरुचि होने पर उक्तानुसार जिनभेष सहज ही बाह्य में प्रकट होते है। मुनिभेष में अंतरंग में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक निर्मल परिणति प्रकट होती है और बाह्य में सम्पूर्ण परिग्रह एवं स्त्री त्याग सहित आगम प्रणीत आचरण होता है। इसी प्रकार ग्यारह प्रतिमाधारी ऐलक-आर्यिका आदि के भेष में अंतरंग में दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक विशुद्ध परिणति प्रकट होकर आगमानुसार बाह्य आचरण होता है तथा आचार्य मुनियों एवं आर्यिका तथा नारीजगत् के प्रति मूलाचार के निर्देशों के अनुरूप मर्यादित संयमित व्यवहार होता है तभी सभी जन आदरणीय-अभिनंदनीय होते है। आगम के दर्पण में सभी को अपनी भूमिका देखकर निर्णय करना है कि उनका चिह्न-भेष जिनलिंगी है या जैनेतर-लिंगी है।

-वी-369 ओ. पी. एस काकोनी
अमलाई पेपर मील

तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनका अपरिग्रह दर्शन

-डॉ. अशोककुमार जैन

भारत के प्राचीन धर्मों में जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्म के प्रतिष्ठापक *तीर्थङ्क.रों* ने नैतिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों के उन प्रतिमानों को स्थापित किया जो व्यष्टि एवं समष्टि के विकास में उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव मानव संस्कृति के सूत्रधार बने। उन्होंने भोगमूलक संस्कृति के स्थान पर कर्ममूलक संस्कृति की प्रतिष्ठा की। दैववाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की मान्यता को संपुष्ट किया। उन्हीं की परम्परा में अन्य 23 तीर्थंकर हुए जिन्होंने अपने लोकातिशायी व्यक्तित्व एवं कृतित्व से वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना का सञ्चार किया।

अन्तिम तीर्थंकर महावीर का समय जनक्रान्ति और धर्मक्रान्ति का युग था। इस युग में राजनीति, समाज एवं धर्मसम्बन्धी मान्यतायें परिवर्तित हो रहीं थी। प्रसिद्ध इतिहासकार एच. जी. वेल्स का अभिमत है कि ई. पू. छठी शताब्दी संसार के इतिहास में महत्त्वपूर्ण काल है। इस शताब्दी में मनुष्य की चेतना सर्वत्र रूढ़िवादी परम्पराओं के बदलने के लिए क्रियाशील थी। प्रत्येक विचारक रूढ़ियों, बुराइयों और स्वार्थो का ध्वंश कर मानवता की नई प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील था। भगवान् महावीर के तीर्थ के सम्बन्ध में जयधवल के प्रारम्भ में लिखा है-

णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो।
राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ।।

जिन्होंने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करके समस्त प्राणियों को नि:संशय किया,

जो वीर हैं अर्थात् जिन्होंने विशेष रूप से समस्त पदार्थ समूह को प्रत्यक्ष कर लिया है, जो जिनों में श्रेष्ठ हैं तथा राग, द्वेष और भय से रहित हैं ऐसे भगवान् महावीर धर्म-तीर्थ के कर्ता हैं।

सूत्रकृताङ्ग. में लिखा है-

पुढ़ोवमे घुणती विगयगेही, ण सण्णिहि कुव्वइ आसुपण्णे।
तरिउं समुदं व महाभवोध अभयकरे वीर अणंतचक्खू॥ 6/25

आशुप्रज्ञ ज्ञातपुत्र पृथ्वी के समान सहिष्णु थे, इसलिए उन्होंने कर्म शरीर को प्रकम्पित किया। वे अनासक्त थे इसलिए उन्होंने संग्रह नहीं किया। वे अभयंकर वीर (पराक्रमी) और अनन्त चक्षु वाले थे। उन्होंने संसार के महान् समुद्र से तर कर निर्वाण प्राप्त कर लिया। भगवान् महावीर के स्तवन में और भी लिखा है-

थणिंत व सद्दाण अणुत्तरं उ, चंदे व ताराण महाणुभावे।
गंधेसु वा चंदण माहु सेट्ठं एवं मुणीणं अपडिण्ण माहु॥ 6/19

जैसे शब्दों में मेघ का गर्जन अनुत्तर, तारागण में चन्द्रमा महाप्रतापी और गंधों में चन्दन श्रेष्ठ है। वैसे ही अनासक्त मुनियों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ हैं।

भगवान् महावीर के युग में श्रमणों के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे उनमें पांच बहुत प्रभावशाली थे 1. निर्ग्रन्थ महावीर का शासन, 2. शाक्य बुद्ध का शासन, 3. आजीवक मक्खलि गोशालक का शासन, 4. गौरिक-तापस शासन, 5. परिव्राजक-सांख्य शासन। बौद्ध साहित्य में 6 श्रमण सम्प्रदायों तथा उनके आचार्यों का उल्लेख है 1-अक्रियावाद-आचार्य पूरणकश्यप, 2-नियतिवाद-मक्खलिगोशाल, 3-उच्छेदवाद-अजितकेशकम्बली, 4-अन्योन्यवाद-पकुधकात्यायन, 5-चातुर्याम संवरवाद-निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र, 6-विक्षेपवाद-संजयवेलट्ठिपुत्त।

बौद्ध ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावोर, वर्द्धमान को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, लोकमान्य नेता और तीर्थंकर के रूप में उल्लेख किया है। यथा-'नगंठो'

आवुत्रौ नाठ्पुत्तो सव्वञ्ञु सव्वदस्सावी अपरिसेसंज्ञाणदस्सने परिजानाति। (मज्झिम निकाय P.T.S. अ. 1 पृ. 93)

'निगंठो नाट्पुत्तो संघी चेव गणी च गणाचायो च ज्ञातोय सस्सी तित्थकरो साधु सम्मतो बहुत जनस्स स्तस्सू चिर-पव्वजितो अद्धगता क्यो अनुपत्ता' (दीघ निकाय PTS आ. 1 पृ.48-49)

त्रिपिटकों में निर्ग्रन्थ का उल्लेख बहुधा आया है। उसी आधार पर डा. याकोबी ने यह प्रमाणित किया है कि बुद्ध से पहले निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय विद्यमान था।

सूत्रकृताङ्ग के तुलनात्मक पाद टिप्पण में लिखा है कि माहण, समण, भिक्खु और निग्गंथ-ये चार मुनि जीवन की साधनायें हैं। चूर्णिकार ने समण, माहण और भिक्खु को एक भूमिका में माना है और निग्गंथ की दूसरी भूमिका स्वीकार की है। निर्ग्रन्थ की भूमिका का एक विशेषण है आत्म प्रवाद प्राप्त। चौदह पूर्वों में 'आत्मप्रवाद' नामक सातवां पूर्व है। जिसे आत्मप्रवाद पूर्व ज्ञात होता है वही निर्ग्रन्थ हो सकता है, माहण, श्रमण और भिक्षु के लिए इसका ज्ञात होना अनिवार्य नहीं है।

औपपातिक सूत्र में भगवान् महावीर के साधुओं को चार भूमिकाओं में विभक्त किया गया है। श्रमण, निर्ग्रन्थ, स्थविर और अनगार। वहाँ श्रमण सामान्य मुनि के रूप में प्रस्तुत है। निर्ग्रन्थ की भूमिका विशिष्ट है। उसमें विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट बल, विशिष्ट लब्धियां, विशिष्ट तपस्यायें और विशिष्ट साधना की प्रतिमायें उल्लिखित हैं। स्थिविर की भूमिका का मुनि राग द्वेष विजेता, आर्जव-मार्दव आदि विशिष्ट गुणों से सम्पन्न, आत्मदर्शी, स्वसमय तथा परसमय का ज्ञाता, विशिष्ट श्रुतज्ञानी और तत्व के प्रतिपादन में सक्षम होता है। अनगार की भूमिका का मुनि विशिष्ट साधन और सर्वथा अलिप्त होता है।

बोधपाहुड में प्रव्रज्या धारक की विशेषताओं के बारे में लिखा है-

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्ज एरिसा भणिया॥ गा. 49

निर्ग्रन्थ - निसंग, निर्मानी, आशा से रहित, विरागी, निर्द्वेषी, निर्मोही और निरहंकारी प्राणी दैगम्बरी दीक्षा धारण करते हैं।

भगवती आराधना में लिखा है-

गंथच्चाएण पुणो भावविसुद्धी वि दीविदा होइ।
ण हु संगघटितबुद्धी संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी।। गा. 1174

निर्ग्रन्थता से उत्तरोत्तर परिणामों में निर्मलता की वृद्धि होती है। परिग्रहा-सक्त संग-त्याग में अक्षम होता है।

सव्वत्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासियं हवइ तस्स।
गुरुगो हि संगसत्तो संकिज्जइ चावि सव्वत्थ।। गा. 1176

ग्रंथहीन पुरुष चिन्ता रहित अर्थात् स्वरूप देखने मात्र से श्रद्धालु होते है और परिग्रह अविश्वास का कारण है क्योंकि शस्त्र, धन वगैरह छिपाने की मन में शंका होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है-

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।। समयसार, 131

जो साधु बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर अपने आप की आत्मा को दर्शन-ज्ञानोपयोग स्वरूप शुद्ध अनुभव करता है उसको परमार्थ स्वरूप के जानने वाले गणधरादि देव निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं।

तत्वार्थसूत्र में निर्ग्रन्थ के भेद बताते हुए लिखा है-

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्था:।। -तत्वार्थसूत्र 9/48

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये निर्ग्रन्थ के पांच प्रकार हैं।

निर्ग्रन्थ विशेषण भगवान् महावीर की अनासक्त साधना का स्पष्ट निदर्शन है। भव-भवान्तरों की यात्रा के प्रवाह के बाद शाश्वत सत्य को पाने की

उत्कट अभिलाषा के कारण सांसारिक मोह माया का जाल वर्द्धमान को किञ्चित् भी विचलित नहीं कर सका। उनके जीवन का लक्ष्य आत्मिक शान्ति के साथ संसार के प्राणियों को शान्ति प्रदान करना था। उन्होंने स्वयं को साधना की कसौटी पर कसा और अनुभूत चिन्तन के परिणाम स्वरूप ऐसे मूल्यों की प्रतिष्ठा की जिसमें सर्वत्र सुख और शान्ति का समीर प्रवाहित हो सकता है।

भगवान् महावीर ने जिन चिरन्तन सत्य मूलक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वे हैं- अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह। यहां हम भगवान् महावीर के अपरिग्रह विषयक चिन्तन को ही प्रमुख रूप से वर्णन कर रहे हैं-जो आदर्श समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

आचारांग के उपधान श्रुत नामक अध्याय में लिखा है-

भगवं च एवं मन्नेसिं, सोवहिएं हु लुप्पती बाले।
कम्मं च सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खे पावगं भगवं।। 9/1-15

-अज्ञानी मनुष्य परिग्रह का संचय कर छिन्न-भिन्न होता है इस प्रकार अनुचिन्तन कर तथा सब प्रकार के कर्म को जानकर भगवान् ने प्रत्याख्यान किया।

अकसाई विगयगेही सद्दरुवेसुऽमुच्छिए झाति। 63मक्खे वि
परक्कमपाणे, णो पमायं सइं वि कुव्वित्था।। 9/4-15

भगवान् क्रोध, मान, माया, लोभ को शांतकर, आसक्ति को छोड़, शब्द और रूप में अमूर्च्छित होकर ध्यान करते थे। उन्होंने ज्ञानावरण आदि कर्म से आवृत दशा में पराक्रम करते हुए भी एक बार प्रमाद नहीं किया।

परिग्रह क्या है- आचारांग में लिखा है-

आवंती के आवंती लोगंसि परिग्गहावंती से अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, एतेसु चेव परिग्गहावंती।

-इस जगत् में जितने मनुष्य परिग्रही हैं, वे अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त वस्तु का परिग्रहण करते हैं। वे इन वस्तुओं में मूर्च्छा रखने के कारण ही परिग्रही हैं।

पदार्थ पौद्गलिक है। वह परिग्रह नहीं है। मनुष्य के द्वारा मूर्च्छा पूर्वक परिगृहीत पदार्थ ही परिग्रह बनता है।

तत्वार्थसूत्र में परिग्रह को परिभाषित करते हुए सूत्र लिखा-

'मूर्च्छा परिग्रहः' अर्थात् मूर्च्छा परिग्रह है। मूर्च्छा क्या है ऐसा पूंछने पर आचार्य पूज्य पाद लिखते हैं-गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन, अचेतन बाह्य उपाधि का तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपाधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार ही मूर्च्छा है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है-

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ज्ञेयः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्त्वपरिणामः।।

यह जो मूर्च्छा है इसको ही निश्चय करके परिग्रह जानना चाहिए और मोह के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्त्वरूप परिणाम ही मूर्च्छा है। इसके समानार्थक शब्दों के सम्बन्ध में लिखा है-

इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो गाहर्यं ममत्वमभिनन्दः।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि।। -प्रशमरतिप्रकरण 1/18

इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गाहर्य, ममत्व, अभिनन्द, अभिलाष इत्यादि अनेक राग के पर्यायावाची नाम है।

परिग्रह के भेद- परिग्रह के दो भेद प्रमुख रूप से हैं अन्तरंग और बहिरंग। भगवती आराधना में लिखा है-

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा।। गाथा 1/58

जीवादि पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है। स्त्री-वेद कर्मोदय से पुरुष में अभिलाषा होना स्त्री-वेद है। पुरुष-वेद कर्मोदय से स्त्री में अभिलाषा होना स्त्री-वेद है। नपुंसक वेद कर्मोदय से स्त्री-पुरुष में अभिलाषा होना नपुंसक-वेद है। हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा ये 6 दोष हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं। सर्व अन्तरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं।

बाह्य परिग्रह के 10 भेद हैं- यथा

बाहिरसंगा खेत्तं वत्थुं धणधण्णकुप्पभंडाणि।
दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तहा।। भ. आ. 1119

क्षेत्र, वास्तु (घर), धन (स्वर्णादि धातु), धान्य (गँहू आदि), कुप्य (वस्त्र), भांड (हींग, मिर्च आदि), दास, दासी (सेवक), चौपद (हाथी, घोड़ा आदि), यान (पालकी, विमान आदि), शासन (बिधान), आसन (पलंग वगैरह) ये दश परिग्रह हैं।

स्थानांग सूत्र में परिग्रह के तीन प्रकार बतलाये हैं। उनमें पहला प्रकार है शरीर। परिग्रह का मूल आधार है शरीर। दूसरा कारण और प्रकार है-कर्म संस्कार। जो संस्कार हमने अर्जित कर रखे हैं, वे संस्कार ही मनुष्य को परिग्रही बनने के लिए प्रेरित करते हैं। हिंसा के लिए प्रेरित करते हैं। तीसरा प्रकार है परिग्रह। जब अपरिग्रह पर विचार किया जाता है तो पहला सिद्धान्त निश्चित हुआ ममत्व चेतना का परिष्कार। आचारांग में लिखा है-

जे ममाइय-मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं।। सूत्र 2/156

जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वह परिग्रह का त्याग कर सकता है। जब तक चेतना का रूपान्तरण नहीं होता तब तक परिग्रह की तरफ होने वाली मूर्च्छा कम नहीं हो सकती।

अपरिग्रह व्रत की भावनाओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति।। -चारित्तपाहुड, 36

मनोज्ञ, अमनोज्ञ, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण रूप पंचेन्द्रिय विषयों में राग-द्वेष का परिहार (परित्याग) करना अर्थात् मनोज्ञ विषयों में राग नहीं करना और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावनायें हैं।

परिग्रह का हेतु : लोभ- पदार्थ ससीम हैं और इच्छायें व आकांक्षायें आकाश के समान असीम हैं। आकाश द्रव्य ही षट्द्रव्यों में एक ऐसा द्रव्य है जो लोक और अलोक दोनों में परिव्याप्त है। शेष पांच द्रव्य लोक में ही हैं। यही स्थिति तृष्णा की भी है। लोभ पापों का मूल कारण है। कहा गया है-

सर्वविनाशाश्रयिणः सर्वव्यसनैकराजमार्गस्य।
लोभस्य को मुखगतः क्षणमपि दुःखान्तरमुपेयात्।।
-प्रशमरति प्रकरण 1/29

लोभ सब विनाशों का मूल आधार है और सब व्यसनों का राजमार्ग है। लोभ के मुख में गया हुआ कौन मनुष्य क्षण भर के लिए भी सुख पा सकता है?

क्रोधात् प्रीतिविनाशं मानाद् विनयोपघातमाप्नोति।
शाठ्यात्प्रत्ययहानिः सर्वगुणविनाशनं लोभात्।। -प्रशमरति प्रकरण 1/25

क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय का घात होता है, मायाचार से विश्वास जाता रहता है और लोभ से सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

लोभी की दशा के बारे में आचार्य शिवार्य लिखते है-

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं।
सव्वजगेणं वि जीवो लोभाइट्ठो न तिप्पेदि।। -भगवती आराधना गा. 855

लोभाविष्ट मनुष्य संसार की जिन-जिन उत्तम वस्तुओं को देखता है। उन-उन को प्राप्त करने की उत्तरोत्तर अभिलाषा करता है। त्रैलोक्य प्राप्त करने पर भी उसकी तृप्ति नहीं होती है।

जह-जह भुंजइ भोगे तह-तह भोगेसु बढढदे तण्हा।
अग्गीव इंधणाइं तण्हं दीवंति से भोगा।। -भगवती आराधना 1263

जैसे-जैसे भोगों का सेवन करते हैं वैसे-वैसे तृष्णा बढ़ती है जैसे ईंधन के संयोग से अग्नि बढ़ती है।

लोभ पाप का मूल है और लोभ का मूल तृष्णा है जो संसारी जीव को निरन्तर संतप्त करती रहती है। स्वयम्भूस्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है-

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहर निमित्त
मित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङमुखोऽभूत्॥

तृष्णारूप अग्नि की ज्वालायें संसारी जीव को चारों ओर से जलाती हैं। अभिलषित इन्द्रिय विषयों के वैभव से इनकी शान्ति नहीं होती है, किन्तु सब ओर से वृद्धि ही होती है क्योंकि इन्द्रिय विषयों का स्वभाव ही ऐसा है। इन्द्रिय विषय शरीर के सन्ताप को दूर करने में निमित्त मात्र है। ऐसा जानकर श्री कुन्थु विषय सौख्य से परान्मुख हो गये थे।

सुखवादी मनोवृत्ति का विकास परिग्रह के विस्तार का निमित्त है। सुखपूर्वक जीवन यापन करने के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार के बलों को संग्रह करता है। परिग्रह का सुखपूर्वक उपयोग करने के लिए शारीरिक संहनन को मजबूत और शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए आत्म-बल का संग्रह करता हैं आत्म बल का तात्पर्य है शरीर। शरीर का समुचित संपोषण करने के लिए मद्य आदि का सेवन करता है। इनकी प्राप्ति और सुरक्षा के साधन जुटाता है, उसके पीछे परिग्रह और सुखवादी मनोवृत्ति काम करती है।

आचारांग में लिखा है-

सुहट्ठी बालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति॥ 2/15

सुख का अर्थी बार-बार सुख की कामना करता है। वह अपने द्वारा कृत दुःख-कर्म से मूढ़ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है। सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त करता है।

हित और अहित, कार्य और अकार्य, वर्ज्य और अवर्ज्य का अविवेक मोह है। जो मोह ग्रस्त होता है वह मूढ़ है। मूढ़ता के कारण वह पुरुष नहीं जानता कि सुख के लिए किया जाने वाला प्रयत्न वस्तुतः दुःख के लिए होगा। इसलिए वह अपने तथा दूसरों के सुख के लिए पृथ्वीकाय आदि जीव-निकायो की हिंसा करता है। उसका परिणाम है कि वह दीर्घ काल तक दुःख का अनुभव करता है।

इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि सोचता है-

मज्झं परिग्गहे जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झं।। समयसार 215

यदि यह शरीरादिक परिग्रह भी मेरे हो जायें तो फिर मैं भी अजीवपने को प्राप्त हो जाऊं। किन्तु मैं तो ज्ञाता ही हूँ इसलिए यह सब मेरे परिग्रह नहीं है।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झं।। समयसार 218

यह शरीरादिक पर-द्रव्य भले ही छिद जावो, भिद जावो अथवा कोई इसे ले जावो, अथवा नष्ट तो जाओ तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है यह निश्चित है। इस प्रकार विचार कर ज्ञानी तो अपने स्वस्थ स्वभाव में रहता है।

भगवान् महावीर की समग्र साधना आत्मकेन्द्रित थी। साधना-काल में अनेकों अज्ञानियों के द्वारा कष्ट दिये गये परन्तु उन्होंने अपने लक्ष्य पर मेरु के समान अडिग रहकर प्रतिकूलता में भी अनुकूलता का अनुभव कर मोक्ष-लक्ष्मी को वरण किया। उनकी वृत्ति में ‘समयसार की वह दृष्टि साक्षात द्योतित हुई

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं।। -समयसार 219

हे आत्मन्! यदि तूं सुख चाहता है तो उसी आत्मानुभव रूप ज्ञान में तल्लीन होकर रह। उसी में सदा के लिए सन्तोष धारण कर और उसी के द्वारा तृप्त हो, सब इच्छाओं को छोड़ तभी शाश्वत सुख प्राप्त होगा।

परिग्रह के परिणाम- आज विश्व में वर्ग-संघर्ष की जो दावाग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है, विषमतायें बढ़ रही हैं, असन्तोष और ईर्ष्या जन्म ले रही है, धनी व निर्धन, श्रम एवं पूजी, नियोजक व नियोजित आदि के मध्य जो अन्तर बढ़ता जा रहा है, मानव मानव का शोषण कर रहा है तथा हिंसक घटनायें, बेईमानी, चोरी, डकैती, व्यभिचार, अपहरण तथा युद्धों की विभीषिकायें धधक रही हैं उन सबका मूल कारण है कि विश्व के लोग प्रत्येक वस्तु को अपनी समझकर उसे येन-केन प्रकारेण प्राप्त करना चाहते हैं।

संग्रह की भावना वश व्यक्ति झूठ बोलता है, चोरी करता है, कम तौलता है-नापता है, छल कपट करता है, धोखा देता है, षड्यन्त्र रचता है, हत्यायें करता है और यहां तक कि वह भीषण युद्ध भी करता है। भगवती आराधना में लिखा है-

संगणिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं।
भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो।। गाथा1/25

परिग्रह के लिए प्राणी असि, मसि आदि षट्कर्म करता है जिससे जीवों की हिंसा, दूसरे का धन चुराने की इच्छा से घात, झूठा भाषण, मन में अमर्यादित इच्छा तथा मैथुन मे प्रवृत्ति करता है। परिग्रह त्याग बिना अहिंसादि व्रत दृढ़ नहीं हो सकते।

गंथो भयं णराणं सहोदरा एयरत्थ जा जं ते।
अण्णोण्णं मारेदुं अत्थणिमित्तं मदिमकासी।। -भगवती आराधना 1/28

परिग्रह से मनुष्य भयभीत होता है। परिग्रह की बढ़ती हुई तीव्र अभिलाषा के कारण एक माता के उदर से उत्पन्न भाई दूसरे भाई को मारने के लिए उद्यत हो जाता है।

इंदियमयं सरीरं गंथं गेण्हदि य देह सुक्खत्थं।
इंदिय सुहामिसासो गंथग्गहणेण तो सिद्धो।। -भगवती आराधना 1/63

-विषयाभिलाषा से कर्म-बन्ध होता है अतः मुमुक्षु इनसे पृथक् रहते हैं

अर्थात् परिग्रह के कारण नियम से बंध होता है। देह पंचेन्द्रिय का आधार होने से इन्द्रियमय है। इसके लिए वस्त्रादि ग्रहण करता है। तदनन्तर अन्य की अभिलाषा करके सहवास से अपनी इच्छा सिद्ध करता है। अतः परिग्रह का मूल हेतु इन्द्रियाभिलाषा है। परिग्रह ध्यान एवं स्वाध्याय में बाधक है इसलिए कर्म का संवर और निर्जरा न होने से सर्व कर्म का क्षय कैसे होगा अर्थात् नहीं।

परिग्रह हिंसा का मूल कारण है। आचार्य अमृतचन्द ने लिखा है-

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरङ्ग.सङ्गे.षु।
बहिरङ्गे.षु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्॥

-पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 119

अन्तरंग परिग्रह के जो चौदह भेद हैं वे सब हिंसा के पर्याय हैं क्योंकि विभाव परिणाम हैं, अतएव अन्तरंग परिग्रह स्वयं हिंसा रूप हुआ और बहिरंग परिग्रह ममत्व परिणामों के बिना नहीं होता, इस कारण उसमें भी हिसा है। यहां ध्यातव्य है कि ममत्व परिणामों से परिग्रह होता है, निर्ममत्व से नहीं। केवली तीर्थंकर के समवसरण की विभूति ममत्व रहित होने से परिग्रह नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है-

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः। 6/15

बहु आरम्भ और बहु परिग्रह के भाव नरक आयु के कारण हैं। तत्वार्थ-वार्तिक में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है-

आरम्भ हिसंक कर्म (व्यापार) है। हिंसन शील हिंसक होते हैं और उन हिंसकों के कर्म हैंस्य हैं। यह आरम्भ कहलाता है।

'यह मेरा है इस प्रकार का संकल्प परिग्रह है-यह मेरी वस्तु है मैं इसका स्वामी हूँ'। इस प्रकार का आत्मीय अभिमान एक संकल्प परिग्रह कहलाता है। परिग्रह लोलुप व्यक्ति तीव्रतर कषाय परिणाम वाले और हिंसा में तत्पर होते

हैं। यह बहुत बार जाना गया है, देखा गया है, अनुमान के द्वारा भावित है और सुना गया है। उन कर्मों को आत्मसात् करने से वे व्यक्ति लोहे के तपे हुए गोले के समान कषाय-ज्वालाओं से संतप्त होकर क्रूरकर्मा होते हैं और नरकायु का आस्रव करते हैं। उनका विस्तार इस प्रकार है- मिथ्यादर्शन, अशिष्ट आचरण, उत्कृष्ट मान, पत्थर की रेखा के समान क्रोध, तीव्र लोभानुराग, अनुकम्पा रहित भाव, पर-परिताप में खुश होना, बध-बन्धन आदि का अभिनिवेश, जीवों की सतत हिंसा करना, प्राणिवध, असत्यभाषणशीलिता, परधनहरण, गुपचुप राग-चेष्टायें, मैथुन प्रवृत्ति, बहु आरम्भ, इन्द्रिय परवशता, तीव्र काम भोगाभिलाषा की प्रवृद्धता, नि:शीलता, पापनिमित्तक भोजन का अभिप्राय, बद्धवैरता, क्रूरतापूर्वक रोना-चिल्लाना, अनुग्रहरहित स्वभाव, यति वर्ग में फूट पैदा करना, तीर्थकर की आसादना, कृष्णलेश्या से उत्पन्न रौद्र परिणाम और रौद्रध्यानपूर्वक मरण आदि नरक आयु में आस्रव हैं।

अपरिग्रही व्यक्ति ही सच्चा ज्ञानी है- जिन शासन में सम्यग्ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य ज्ञान से ही महान होता है परन्तु वह कौन सा ज्ञान है उसके सम्बन्ध में आचार्य वट्टकेर ने लिखा है-

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण ऐएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। -मूलाचार, 268

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है, जिन-शासन में वह ज्ञान कहा जाता है।

जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु।
जेण कोधो य माणो य माया लोहो य णिज्जिदो।। -मूलाचार, 527

जिस जीव के राग और द्वेष विकार को उत्पन्न नहीं करते हैं तथा जिन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है, उनके ही सामायिक चरित्र होता है।

समयसार में तो वास्तविक ज्ञान की परिणति त्याग रूप ही बतलायी गयी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है-

णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं॥ -समयसार, 39

यह आत्मा जब अपने से भिन्न पदार्थो को पर जान लेता है तब उन्हें उसी समय छोड़ देता है अत: वास्तव में ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। इसी गाथा की टीका में लिखा है- 'जानाति इति ज्ञानं' इस प्रकार ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है। अत: स्वसंवेदन ज्ञान ही आत्मा नाम से कहा जाता है। वह ज्ञान जब मिथ्यात्व और रागादि भावों को ये परस्वरूप हैं ऐसा जान लेता है, तब उन्हें छोड़ देता है, उनसे दूर हो जाता है। इसलिए निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही नियम से प्रत्याख्यान है ऐसा मानना, जानना और अनुभव करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि परम समाधि काल में स्वसंवेदन ज्ञान के बल से आत्मा अपने आप को शुद्ध अनुभव करता है। यह अनुभव ही निश्चय प्रत्याख्यान है।

ज्ञानी विचार करता है-

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तं पि॥ -समयसार, 43

मैं एकाकी हूँ, शुद्ध हूँ अर्थात् परद्रव्य के सम्बन्ध से सर्वथा रहित हूँ, दर्शन-ज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा कुछ भी नहीं लगता।

सामाजिक वृत्ति में अपरिग्रह की भूमिका- भगवान् महावीर ने अपने समग्र जीवन में अनासक्ति या अपरिग्रह की वृत्ति को चरितार्थ कर शाश्वत सत्य को प्राप्त किया, परन्तु सभी व्यक्ति पूर्ण-रूप से निवृत्त तो नहीं हो सकते अत: वे कैसे अपना जीवन-यापन करें इसके लिए भगवान् महावीर ने संग्रह के सीमाकरण तथा इच्छा परिमाण के महत्वपूर्ण सूत्र दिये जिनसे सामाजिक सन्तुलन बना रह सकता है। मनुष्य की इच्छायें असीम हैं, पदार्थ सीमित हैं। वह जो चाहता है प्राय: वह होता नहीं है और जो होता है वह चाहता नहीं। वर्तमान में भोगोपभोग की वस्तुओं के सीमाकरण से ही शोषण-विहीन समाज की स्थापना संभव हो सकती है।

परिग्रह के दुखद परिणामों को आज विश्व-समाज भोग रहा है। धन-लोलुपता तथा भौतिक तुष्टि के लिए आज विश्व समाज अनेक वादो में विभक्त हो गया है जैसे पूंजीवादी, साम्यवादी, समाजवादी, प्रजातान्त्रिक समाजवादी, विकसित समाज, विकासशील समाज तथा अविकसित समाज। इन समाजों के बीच स्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता ने उन भौतिक उपलब्धियों वश विश्व समाज को तनावों, विषमताओं, ध्वंसात्मक विकृत्तियों ने एक दूसरे को आर्थिक शोषण के लिए आतुर कर दिया है। आज समाज में भ्रष्टाचार, मिलावट, चोर-बाजारी, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, काला धन्धा, तस्करी आदि विकृतियों से सर्वत्र अविश्वास का वातावरण व्याप्त है। अवैध तरीकों से धन प्राप्त करना ही मनुष्य का एकमात्र ध्येय हो गया है। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर का परिग्रह परिमाण व्रत ही समाधान देने में समर्थ है।

परिग्रह त्याग महाव्रत में अंतरंग एवं बहिरंग सभी परिग्रहों का त्याग रहता है परन्तु गृहस्थ परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। वह अपनी आवश्यकता के अनुसार सीमा निश्चित कर सकता है। गृहस्थ की आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करतीं हैं। किसी का परिवार बड़ा है अत: उसे अधिक परिग्रह रखना पड़ता है। इसलिए परिग्रह परिमाण व्रत को इच्छा परिमाण नाम भी दिया है आचार्य समन्भद्र ने लिखा है-

धनधान्यादि ग्रन्थ परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि।। -रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 3-15

-धन-धान्यादि परिग्रह का परिमाण कर उससे अधिक में इच्छा रहित होना परिमित परिग्रह अथवा इच्छा परिमाण नामक अणुव्रत होता है।

परिग्रह परिमाण से अस्तेय व्रत का भी परिपालन संभव है। चोरी अथवा शोषण का उद्गम संचय वृत्ति तथा स्वयं परिश्रम न करने की वृत्ति में होता है। संग्रह की भावना वश व्यक्ति झूठ बोलता है, चोरी करता है, कम तौलता-नापता है, छल-कपट करता है, धोखा देता है, षड्यन्त्र करता है, हत्यायें करता है और यहां तक कि भीषण युद्ध भी करता है। अत: इनका

नियमन करने के लिए समाज व्यवस्था के लिए निम्न बातों पर ध्यान अपेक्षित है-

1. धन संग्रह में अवैध उपायों का सहारा न लें।
2. आजीविका के निमित्त ऐसे व्यवसायों का चयन न करें जो समाज में हिंसा को फैलाते हैं।
3. अर्जन के साथ विसर्जन का भी नियम-धारण करें।
4. अपने व्यापार में लाभांश का प्रतिशत सुनिश्चित कर, उससे अधिक का त्याग करें।
5. अपनी इच्छाओं का परिसीमन करें।
6. अपने अधीनस्थ कर्मचारियों का शोषण न करें।
7. व्यवसाय में प्रामाणिक रहें। अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान् बनें।
8. अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह न करें।
9. सन्तोष पूर्वक जीवन-यापन करें।

आचार्य अमितगति ने लिखा है-

त्रिदशाः किङ्कारास्तस्य हस्ते तस्यामरद्रुमाः।
निधयो मन्दिरे तस्य सन्तोषो यस्य निश्चितः॥ -धर्म परीक्षा, 19-71

-जिसके अन्तःकरण में सन्तोष अवस्थित है उसके देव, सेवक बन जाते हैं, कल्पवृक्ष उसके हाथ में अवस्थित के समान हो जाते हैं तथा निधियां उसके भवन में निवास करतीं हैं।

वस्तुतः अपरिग्रह की भावना से ही सर्वोदय समाज की कल्पना साकार हो सकती है। अतः भगवान् महावीर का अपरिग्रह दर्शन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अत्यंत उपयोगी है।

विभागाध्यक्ष, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज.)

जीव का अकाल मरण : एक व्यापक दृष्टि

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

जीव का अकालमरण भी होता है, ऐसा प्राक्तन आचार्यों ने कहा है। भुज्यमान आयु के अपकर्षण का कथन बहुलता से किया गया है अधिकांश रूप से यह कहा गया है कि कर्मभूमिया तिर्यञ्च और मनुष्य अपवर्त्य आयु वाले होते हैं क्योंकि इनकी भुज्यमान आयु की उदीरणा संभव है।

मुख्यत: आध्यात्मिक विषय के प्रतिपादक तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के अन्तिम सूत्र ''**औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येय वर्षायुषोऽनपवर्त्त्यायुषः**'' से स्पष्ट है कि उपपाद जन्म वाले देव और नारकी, चरमोत्तम देहधारी और असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीव अनपवर्त्य (परिपूर्ण) आयु वाले होते हैं। जो इनसे भिन्न संख्यात वर्षायुष्क कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यञ्च हैं वे अपूर्ण आयु वाले भी होते हैं, उनकी आयु पूर्ण होने से पहिले भी क्षय हो सकती है।

सूत्र में आये हुए अनपवर्त्य शब्द के आधार पर ही आचार्य अकलंक देव ने लिखा है ''**बाह्यस्योपघातनिमित्तस्यविषशस्त्रादेः सति सन्निधाने ह्रासोऽपवर्त इत्युच्यते। अपवर्त्यमायुः येषां त इमे अपवर्त्यायुषः नापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषः। एते औपपादिकादय उक्ता अनपवर्त्यायुषाः, न हि तेषामायुषो बाह्य निमित्तवशादपवर्तोऽस्ति।**'' अर्थात् बाह्य कारणों के कारण आयु का ह्रास होना अपवर्त है। बाह्य उपघात के निमित्त विष शस्त्रादि के कारण आयु का ह्रास होता है, वह अपवर्त है। अपवर्त आयु जिनके है, वह अपवर्त आयु वाले हैं और जिनकी आयु का अपवर्तन नहीं होता, वे देव नारकी चरम शरीरी और भोगभूमियां जीव अनपवर्त आयु वाले हैं क्योंकि बाह्यकारणों से इनकी आयु का अपवर्तन नहीं होता है।

अपवर्तन शब्द का अर्थ घटना, कम होना है और अनपवर्तन का अर्थ कम न होना है। आयु कर्म का अपवर्तन ही अकालमरण है। अर्थात् पूर्वबन्ध

अनन्तर होने वाले आयु कर्म का उदय होकर उसके क्षय के कारण जो मरण होता है, उसको अकालमरण या अपमृत्यु कहते हैं। जो मरण आयु कर्म के पूर्वबन्ध के अनुसार अपवर्तन के अभाव में होता है, वही स्वकालमरण है।

शास्त्रों में स्वकालमरण और अकालमरण दोनों का व्याख्यान है, किन्तु नियतिवाद के पोषक एकान्तवादी विद्वानों ने पर्यायों की नियतता को सिद्ध करने के लिए शास्त्रों में वर्णित अकालमरण जैसे विषय का निषेध करना शुरु किया। ऐसा करना मुझे सोद्देश्य लगता है क्योंकि लोगों को संसार शरीर भोगों से भयभीत न रहने की प्रेरणा और पुरुषार्थहीन बनाना उनका उद्देश्य रहा है, जिससे भोग विलासिता में लिप्त रहते हुए भी उन्हें बिना त्याग और तप के धर्मात्मा माना जाना जाय। संसार शरीर से राग करने वाले वे लोग महात्मा, सत्पुरुष कहलायें ऐसे लोगों के मन्तव्य को पुष्ट करने हेतु डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित ''क्रमबद्ध पर्याय'' नामक पुस्तक जबसे प्रकाशित हुई तभी से विशेष रूप से लोगों को ''अकालमरण'' नहीं होता है, यह मतिभ्रम हुआ है, क्योंकि इस पुस्तक में आचार्य प्रणीत ग्रन्थों की उपेक्षा कर क्रमबद्ध पर्याय की सिद्धि हेतु अकालमरण का निषेघ किया गया है, केवल कालमरण को ही माना है, जो व्यवहारनय के विपरीत है।

आचार्यों ने निश्चय-व्यवहार का आश्रय लेकर ही सर्वत्र व्याख्यान किया है, उन्होंने ''अकालमरण'' के विषय में जो कहा है, वहीं यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। प्राय: सभी आर्ष ग्रन्थों में अकालमरण को माना गया है।

पञ्च समवाय ही कार्य साधक हैं। अकेले नियति से सिद्धि नहीं होने वाली है। कार्य की सिद्धि के लिए निमित्त और पुरुषार्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। कुछ ऐसे निमित्त जीव को मिलते हैं, जिनके कारण भुज्यमान आयु की उदीरणा हो जाती है और जीव का समय से पूर्व अकाल में ही मरण हो जाता है। इसी को शास्त्रीय प्रमाणों सहित प्रस्तुत किया जा रहा है-

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अकालमरण के निम्न कारण बतलायें हैं-

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणं संकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जदे आऊ।। 25।।

हिमअणलसलिलगुरुयरपव्वतरुरुहणपउयणभंगेहिं।
रसविज्जोयधराणं अणयपसंगेहिं विविहेहिं।। 26।। -भावपाहुड

अर्थात्- विष भक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से, रुधिर के क्षय हो जाने से, भय से, शस्त्रघात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के निरोध से, आयु का क्षय हो जाता है और हिमपात से, अग्नि से जलने के कारण, जल में डूबने से, बड़े पर्वत पर चढ़कर गिरने से, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरने से, शरीर का भंग होने से, पारा आदि रस के संयोग (भक्षण) से आयु का व्युच्छेद हो जाता है।

आचार्य शिवार्य सल्लेखना लेने वाले भव्यात्मा को संबोधन करते हुए कहते हैं-

इय तिरिय मणुयं जम्मे सुइदं उववज्झि ऊण बहुबारं।
अवमिच्चु महादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्तं।। 26।। -भगवती आराधना

हे मित्र! इस प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य जन्म में चिरकाल तक अनेक बार उत्पन्न होकर तू अपमृत्यु के महादु:ख को प्राप्त हुआ है।

उक्त कथन अकालमरण की मान्यता में साधक ही हैं, बाधक नहीं हैं। आयु कर्म है इसका पूर्ण होने से पूर्व ही उदय में आना उदीरणा है। किसी भी कर्म की उदीरणा उसके उदयकाल में ही होती है। यह उदीरणा भुज्यमान तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु की सर्व सम्मत है किन्तु भुज्यमान देवायु और नरकायु की भी उदीरणा सिद्धान्त में मिलती है जैसा कि लिखा भी है **"संकमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्व आऊणं"** (गोम्मट. कर्म गा. 441) एक संक्रमण को छोड़कर बाकी के बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्व, उदय, उपशान्त, निधत्ति और निकाचना ये नवकरण सम्पूर्ण आयुओं में होते हैं।

किसी भी कर्म की उदीरणा उसके उदयकाल में ही होती है उदीरणा को परिभाषित करते हुए नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है "उदयावली के द्रव्य से अधिक स्थिति वाले द्रव्य को अपकर्षण के द्वारा उदयावली में डाल देना उदीरणा है।"[1] इससे निष्कर्ष निकला कि कर्म की उदीरणा उसके उदय हालत में ही हो सकती है अथवा अनुदय प्राप्त कर्म को उदय में लाने को

उदीरणा कहते हैं।(2)

उदीरणा भुज्यमान आयु की ही हो सकती है क्योंकि गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे बध्यमान आयु की उदीरणा का **"परभव आउगस्स च उदीरणा णत्थि णियमेण"** इस नियम के आधार से स्पष्ट निषेध किया गया है। यह भी कहा है कि देव नारकी, चरमोत्तम देह के धारक असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तिर्यञ्च को छोड़कर बाकी के उदयगत आयु की उदीरणा संभव नहीं है।(3)

सभी कर्मों की उदीरणा अपकर्षण होने पर ही होती है। जब तक कर्म के द्रव्य की स्थिति का अपकर्षण नहीं होगा, तब तक उस द्रव्य का उदयावली में क्षेपण नहीं हो सकता। जो कर्म अधिक समय तक उदय में आता रहेगा, वह उदयावली में प्रक्षिप्त होने पर उदय में आकर नष्ट हो जायेगा। यह अपकर्षण के बिना नहीं हो सकता।

भट्टाकलंक देव ने औपपादिक जन्म वाले देव-नारकी, चरमोत्तम देह धारी और असंख्यात वर्षायुष्क को अनपवर्त्य आयु वाले अर्थात् कालमरण को प्राप्त होने वाले बताकर स्पष्ट कर दिया है कि जिनकी आयु संख्यात वर्ष की होती है ऐसे कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यञ्च अपवर्त्य अर्थात् अकालमरण को प्राप्त हो सकते हैं, उन्होंने लिखा है **"अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेत्, न, दृष्टत्वादाम्रफलादिवत्। यथा अवधारितपाककालात प्राक सोपायोपक्रमे सत्याम्र-फलादीनां दृष्टपाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणा प्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः"**। अर्थात् अप्राप्तकाल में मरण की अनुपलब्धि होने से अकालमरण नहीं है, ऐसा नहीं कहना क्योंकि फलादि के समान। जैसे कागज आदि उपायों के द्वारा आम्र आदि फल अवधारित (निश्चित) परिपाक काल के पूर्व ही पका दिए जाते हैं या परिपक्व हो जाते हैं, ऐसा देखा जाता है-उसी प्रकार परिच्छिन्न (अवधारित) मरणकाल के पूर्व ही उदीरणा के कारण से आयु की उदीरणा होकर अकालमरण हो जाता है। (तत्त्वार्थकार्तिक 2/52 की टीका) आचार्यवर्य आगे इसी को सिद्ध करने के लिए और प्रमाण देते हैं वे कहते हैं कि आयुर्वेद के सामर्थ्य से अकालमरण सिद्ध होता है, जैसे अष्टांग आयुर्वेद को जानने वाला अति निपुण वैद्य यथाकाल वातादि के उदय पूर्व ही वमन, विरेचन आदि के द्वारा अनुदीर्ण ही

कफ आदि दोषों को बलात् निकाल देता है, दूर कर देता है तथा अकाल मृत्यु को दूर करने के लिए रसायन आदि का उपदेश देता है। यदि अकालमरण न होता तो रसायन आदि का उपदेश व्यर्थ है। रसायन का उपदेश है अतः आयुर्वेद के सामर्थ्य से भी अकालमरण सिद्ध होता है। दुःख का प्रतीकार करने के लिए आयुर्वेदिक प्रयोग है, ऐसा नहीं है उभयतः औषधि का प्रयोग देखा जाता है। केवल दुःख के प्रतीकार के लिए ही औषधि दी जाती है, यह बात नहीं है, अपितु उत्पन्न रोग को दूर करने के लिए और अनुत्पन्न को हटाने के लिए भी दी जाती है। जैसे औषधि से असाता कर्म दूर किया जाता है, उसी प्रकार विष आदि के द्वारा आयु ह्रास और उसके अनुकूल औषधि से आयु का अनपवर्त देखा जाता है।[4]

महान् तार्किक विद्यानन्द स्वामी भी उक्त कथन का काल और अकालनयों की दृष्टि से समर्थन करते हुए लिखते है[5] कि जिनका मरणकाल प्राप्त नहीं हुआ उनके भी मरण का अभाव नहीं है अर्थात् उनका भी मरण हो जाता है क्योंकि खड्ग प्रहार आदि के द्वारा मरणकाल प्राप्त न होने पर भी मरण देखा जाता है। यदि यह कहा जाये कि जिनका मृत्युकाल आ गया उन्ही का खड्ग प्रहार आदि द्वारा मरण देखा जाता है, जिनका मरणकाल आ गया उनका तो उस समय मरण होगा ही, अतः वह खड्ग प्रहार आदि की अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् खड्ग प्रहार आदि होगा तब भी मरण होगा और खड्ग प्रहार आदि नहीं होगा तब भी मरण होगा क्योंकि उसका मरणकाल व्यवस्थित है। जिनके मरणकाल का खड्ग प्रहार आदि अन्वय व्यतिरेक है अर्थात् खड्ग प्रहार आदि होगा तो मृत्युकाल उत्पन्न हो जायेगा, यदि खड्ग प्रहार आदि नहीं होगा तो मरणकाल उत्पन्न नहीं होगा, उनका मृत्युकाल अव्यवस्थित (अनियत) है अन्यथा खड्ग प्रहार आदि की निरपेक्षता का प्रसंग आ जायगा किन्तु अकाल मृत्यु के अभाव में आयुर्वेद की प्रमाणभूत चिकित्सा तथा शल्य चिकित्सा (आंपरेशन) की सामर्थ्य का प्रयोग किस पर किया जाए? क्योंकि चिकित्सा आदि का प्रयोग अकाल मृत्यु के प्रतीकार के लिए किया जाता है। आगे और भी कहते हैं-"कस्यचिदायुरुदयान्तरङ्गे. हेतौ बहिरङ्गे. पथ्याहारादौ विच्छिन्ने जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्सम्पादनाय जीवनाधानयेवापमृत्योरस्तु प्रतिकारः" अर्थात् आयु का अन्तरङ्ग. कारण होने पर भी किन्तु पथ्य आहार आदि के विच्छेद

रूप बहिरङ्ग कारण मिल जाने से जीवन के अभाव का प्रसंग आ जाता है। ऐसा प्रसंग आने पर जीवन के आधारभूत आहारादिक अकाल मृत्यु के प्रतिकार हैं। हां, अकालमरण का मृत्युकाल निश्चित होता तो अकाल मृत्यु का प्रतिकार नहीं हो सकता था जैसे कालमरण का मृत्युकाल व्यवस्थित है, उसका प्रतिकार नहीं हो सकता किन्तु अकाल मृत्यु का प्रतिकार हो सकता है क्योंकि अकाल मृत्यु का मृत्युकाल अव्यवस्थित (अनियत) है, वह मृत्युकाल बहिरंग विशेष कारणों से उत्पन्न होता है।

बाह्यकारणों से आयु का क्षय होता है यही बात नेमिचन्द्राचार्य ने कही है।(6) भगवती आराधना में असत्य के प्रसंग में कहा गया है "विद्यमान पदार्थ का प्रतिषेध करना सो प्रथम असत्य है जैसे कर्मभूमि के मनुष्य की अकाल में मृत्यु का निषेध करना।"(7) यह प्रथम असत्य मानना निश्चित ही कालमरण के समान अकालमरण की सत्ता सिद्ध करता है। कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यञ्च जीवों की बध्यमान और भुज्यमान आयु में अपवर्तन होता है इसका प्रमाण तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक से निम्न रूप में देखिए- "**आयुर्बन्धं कुर्वतां जीवानां परिणामवशेन बध्यमान भवति। तदेवापवर्तनं घात इत्युच्यते। उदीयमानायुरपवर्तस्य कदलीघाताभिधानात्।**" आयु कर्म का बन्ध करने वाले जीवों की परिणाम के कारण से बध्यमान आयु का अपवर्तन भी होता है, वही अपवर्तन घात कहा जाता है क्योंकि उदीयमान आयु के अपवर्तन का नाम कदलीघात है।

आचार्यों ने ऐसे महापुरुषों का उल्लेख किया है जिनका अकाल में आयु का क्षय हुआ है।

जैनागम में नय विवक्षा के कथन को ही प्रामाणिक माना गया है आचार्य अमृतचन्द्र काल के साथ अकाल का उल्लेख करते हुए लिखते हैं-"**कालनयेन निदाघदिवसानुसारि पच्यमानसहकारफलवत्समयापत्रसिद्धिः अकालनयेन कृत्रिमोष्म पच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्त सिद्धिः**" (प्रवचनसार) अर्थात् काल नय से कार्य की सिद्धि समय के अधीन होती है, जैसे आम्रफल गर्मी के दिनों में पकता है। अर्थात् कालनय से कार्य अपने व्यवस्थित समय पर होता है। अकालनय से कार्य की सिद्धि समय के अधीन नहीं होती है जैसे

आम्रफल को कृत्रिम गर्मी से पका लिया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि सर्वकार्य काल के अनुसार ही होते हैं ऐसा नहीं है क्योंकि जहाँ काल के आधार पर कार्य सिद्धि बतायी है, वहीं अकाल मे भी कार्य होता है ऐसा सर्वज्ञ का कथन है। यही प्रामाणिक है।

अनेक पौराणिक कथनों के आधार पर आयु के अपकर्षकरण का स्पष्टीकरण हो जाता है। लौकिक उदाहरण से भी समझा जा सकता है। जैसे मोटर गाड़ी की तेल की टंकी पूरी भरी हुई है, उसके द्वारा हजार मील की यात्रा पूरी हो सकती है, किन्तु गाड़ी चार सौ मील चलकर रुक गयी। जब कारण पर विचार किया गया तब पता चली कि टंकी मे सुराख हो जाने से तेल क्षय को प्राप्त हो गया। अत: गाड़ी समय से पूर्व बन्द हो गई। यात्रा भी पूरी न करा सकी इसी प्रकार आयु कर्म भी किसी बाह्य या अन्तरंग निमित्त को पाकर समय से पूर्व क्षय को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि बध्यमान आयु की स्थिति में और अनुभाग में जिस प्रकार अपवर्तन होता है, उसी प्रकार भुज्यमान आयु की स्थिति और अनुभाग में भी अपवर्तन होता है किन्तु बध्यमान आयु की उदीरणा नहीं होती और भुज्यमान आयु की उदीरणा होती है, जिससे अकालमरण भी होता है, यह उक्त अनेकों प्रमाणों से सिद्ध होता है।

1 अण्णत्थठियस्सुदयं संथुहणमुदीरणा हु अत्थि त्ति। गो. कर्म. गा. 439 उदयावलि बाह्यस्थितस्थित द्रव्यस्यापकर्षणवशादुदयावलतया निक्षेपणमुदीरणा खलु। 2 अपक्वपाचनमुदीरणा। 3 परभवायुषो नियमनादीरणा नास्ति उदयगतस्यैवापपादिकचरमोत्तमदेहा संख्येय वर्षायुष्याऽन्यत्र तत्सम्भवात्।। गो. कर्म. गा. 918

4 तत्त्वार्थवार्तिक प्रथम भाग पृ. 427,28 (आर्यिका सुपार्श्वमति कृत टीका)।

5 न ह्यप्राप्तकालस्य मरणाभाव, खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात्। प्राप्त कालस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत्

6 पुनरसौ काल प्राप्तोऽपमृत्युकालवार प्रथमपक्ष सिद्धसाध्यता, द्वितीय पक्ष खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्व प्रसग: सकलबहि. कारणविशेष निरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युकाल व्यवस्थित, शस्त्रसंपातादि बहिरंगकारणान्वय व्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्त:। तदभाव पुनरायुर्वेद प्रामाण्यचिकित्सादीना क्व सामर्थ्योपयोगा:। -तत्त्वार्थवार्तिक, 2/53 की टीका

6 विसवेयणरत्तक्खय भयसत्थग्गहण संकिलेसेहिं। उस्सासाहाराण णिरोहणा छिज्जदे आऊ।। -कर्मकाण्ड, 57

7 पढम असनवयण सभूदत्थस्स होदि पडिसेहा।

णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधयमादीय।। -भग. 830 गाथा

-रीडर-संस्कृत विभाग
दि. जैन कॉलेज, बड़ौत